

अस्तित्व के पार ?

ज्योतिराव लढके

प्रस्तावना

मराठी दैनिक लोकसत्ता में श्री. प्रशांत देशमुख, वर्धा द्वारा दी गई एक टिप्पणी के अनुसार- 'मूल्याधारित शिक्षा' का दावा करते हुए " ईश्वर निर्माता है " यह शक्ता वद्व्या र्थ्यों को देने का प्रकार, भारतीय संविधान के प्रावधानों का उल्लंघन है या नहीं, यह प्रश्न पंतप्रधान कार्यालय ने मानव संसाधन मंत्रालय के शिक्षा विभाग से पुछा है । चूकिं यही बात सेवाग्राम , महात्मा गांधी आयुर्विज्ञान संस्था के न्यायवैद्यकीय औषध केंद्र प्रमुख डॉ.इंद्रजित खांडेकर जी ने, जानकारी प्राप्त करने के अधिकार अंतर्गत पीएमओ कार्यालय से पुछी थी । उन्होंने इस संदर्भ में अपना उन्निस पन्नों का अहवाल साथ में प्रस्तुत किया था । केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा मंडल तथा अन्य मंडलों का दावा है कि शालेय विद्यार्थियों को मूल्याधारित शिक्षा दी जाती है। कक्षा दूसरी तथा तीसरी की किताबों में "ईश्वर निर्माता है", ऐसा प्रतिपादन है। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह अनिवार्य है कि वह इन किताबों का अध्ययन करे । इन किताबों से ग्रहण की गई शिक्षा के लिए मूल्यांकन परीक्षाएं भी ली जाती हैं । विद्यार्थियों से पुछा जाता है कि इस सृष्टि का निर्माता कौन है? दुनिया की प्रत्येक वस्तु का निर्माण किसने किया है? ईश्वर ने बनाई वस्तुओं के चित्रों की कापी बनाने भी कहा जाता है। इसपर खांडेकर जी ने ऐसे प्रश्न उपस्थित किए हैं कि क्या यह संविधान में अंतर्भूत धर्मनिरपेक्षता तथा संविधान के कलम २८(३);१९(अ) तथा २५(१) का उल्लंघन नहीं है?

ये प्रश्न उपस्थित करते समय , इसी विषय के संदर्भ में दुनिया के अन्य देशों की स्थिति क्या है, इसकी भी चर्चा की गयी है। इसमें वहां के कानून तथा न्यायालयों के निर्णयों के उदाहरण दिए गए हैं। अमेरिका में "ईश्वर निर्माता है"या निर्मिती सिद्धांत, स्कूल में पढाने को घटनाबाह्य करार, वहां के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिया गया है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के कुछ निर्णयों की तथा संविधानात्मक प्रावधानों की भी चर्चा अहवाल में की गई है।

इसका उत्तर जाहिरी तौर पर प्राप्त होने की बात तो अभी तक ज्ञात नहीं हुई और इतने जल्दी वह प्राप्त होने की उम्मिद भी नहीं है।

लेकिन इस घटना ने ईश्वर का अस्तित्व होने या न होने की बात को फिर एक बार आम चर्चा में ला दिया है । वैसे तो यह विवाद ही आदिम समय से चला आ रहा है और शायद अनंत काल तक चलता रहेगा। इसका आज तक न कोई उत्तर मिला है, न मिलना है।

फिर भी नए ज्ञान के, नई जानकारी के परिप्रेक्ष्य में इस पर फिर एक बार चर्चा तो हो ही सकती है।

जब हम ईश्वर या इसी वर्ग में आनेवाली और तथा अन्य संकल्पनाओं के विषय में सोचते हैं तो यह मान लेने में कोई आपत्ती नहीं कि चिंतन के प्रति हममें आस्था भी है और क्षमता भी।

चिंतन के प्रति अगर हममें लगाव है तो हमें तर्क को उचित सम्मान भी देना होगा । कोई भी चिंतनशील व्यक्ति असंवेदनशील नहीं हो सकता और उसके संवेदन के केंद्र में 'मनुष्य' ही हो सकता है। अन्य सारी बातें दुय्यम स्थान पर स्थानांतरित होंगी।

- हम जब चिंतन की प्रक्रिया से प्रमाणिकता से गुजरेंगे तो हमें हमारे विश्वास के लिए एक विचार को चुनना होगा । ' नरोवा कुंजरोवा ' से काम नहीं चलेगा । तभी हम एक सक्रीय जीवन जी सकेंगे। अब हम अन्य किसी विचारों की ओर हमारा ध्यान भटकाने के स्थान पर उपरोक्त विषय पर ही ध्यान केंद्रित करेंगे।

- आज हमने २१वीं सदी में मार्गक्रमण शुरू किया है । हमारी आजु-बाजु की दुनिया की ओर देखने से हमें साफ दिखता है कि मानव जाति ने आगे बढ़ते समय एक बात मान ली है। साफ तौर पर वह यह है कि आज मानवता पीड़ित है । मनुष्य के लिए, मनुष्य के रूप में जीने के लिए जीवन का जो निम्नतम स्तर अपेक्षित है, बहुसंख्य जन उस स्तर से बहुत-बहुत नीचे हैं । हमें उनको उन अमानवीय स्थितियों से निकालना है । उनका जीवन अधिक सहनीय बनाना है । पूरा समाज कई बंधनों से जकड़ा हुआ है । उसे उन बंधनों से मुक्ति दिलाना है, ताकि वह एक गरिमामय जीवन जी सके। यह काम इतना आसान नहीं है। एक लम्बा रास्ता तय करना है । लेकिन हमें इसके लिए प्रयत्नशील तो रहना ही होगा और कोई विकल्प नहीं है । इस लक्ष्य को प्राप्त करने कौनसा वैचारिक आधार हमारे लिए सहायक है इसका भी चयन करना होगा।

- दुनिया की बिरादरी ने गहन विचार विमर्श के बाद साधारण मनुष्य के लिए भी कुछ अधिकारों की घोषणा की है । इन्हें ' मानवाधिकार ' कहा गया है। भूतकाल की आम धारणा के विपरीत आज कोई भी संवेदनशील व्यक्ति किसी व्यक्ति की परेशानियों के लिए उसके पिछले जन्म के पापों को उत्तरदायी ठहराने की जाहीर घोषणा करने की हिमाकत नहीं कर सकता। दुनिया प्रगतिशीलता की दिशा में इतनी तो आगे बढ़ चुकी है। इन मानवाधिकारों की दिशा में दुनिया का आगे बढ़ना कोई पागलपन तो नहीं है । यह मनुष्य जाति की प्रगतिशीलता की दिशा में यात्रा ही है और यह उचित भी है और आवश्यक भी। इस यात्रा के आगे बढ़ने में दो अवधारणाओं में से किसने अपना योगदान दिया और किसने उसमें अवरोध खड़े करने का प्रयत्न किया या मानवाधिकार विरोधी भूमिका का निर्माण किया और उसे जीवन्त रखा इस कसौटी के आधार पर ही हमें उपरोक्त अवधारणाओंका औचित्य सिद्ध करना होगा । एक अवधारणा है, हमारे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण की जानेवाली संवेदनाओं के आधार पर हमारी बुद्धि को वास्तवता की होनेवाली अनुभूति और दूसरी अवधारणा है आँखें मूंदकर ऐसी संकल्पनाओं को सत्य मान

लेना जिनके लिए उपरोक्त ज्ञान ग्रहण प्रक्रिया का कोई अर्थ नहीं है | हम इसी दिशा में हमारे चिंतन को आगे बढ़ाएँगे।

- आस्तिकता बनाम नास्तिकता यह विवाद सनातन है। कई बार इसपर चर्चा हो चुकी है। आज फिर एक बार इन्हीं बातों पर सिर खपाने का औचित्य क्या है ?

- मानवजाति का लक्ष्य है मनुष्य के जीवन में व्यक्तिगत स्तर पर या सामाजिक स्तर पर उभरनेवाली पीड़ाओं को न्यूनतम करना | इसे सदियों से न्याय के रूप में व्यक्त किया जा रहा है | समता, बन्धुता और स्वातंत्र्य पर आधारित समाज की निर्मिती। महान चिंतक बुद्ध का लक्ष्य भी यही था और क्रान्तिकारी मार्क्स का भी यही था। लेकिन यह यात्रा इतनी आसान नहीं। बड़ा लम्बा रास्ता तय करना है | मानव दस कदम आगे बढ़ता है और फिर चार कदम पीछे खिसक जाता है | अगर ऐसा नहीं होता तो डेढ़ सौ साल पहले जिस महाराष्ट्र में महात्मा फुले ने प्रगतिशीलता की ज्योत जलाई थी उसी महाराष्ट्र में २१ वीं सदी में उसी दिशा में प्रयत्न करते समय डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर, कॉ.पानसरे, और कर्नाटक में प्रो.कलबुर्गी जैसे चिंतकों को अपनी जान क्यों गवानी पड़ती? समाज को बारबार यह याद दिलाना आवश्यक है कि हमारा, मानव समाज का लक्ष्य क्या है? यह इससे भी स्पष्ट है कि विशिष्ट समाज की अस्मिता के नाम पर लाखों लोगों के मोर्चे रोज आयोजित हो सकते हैं लेकिन समाज को प्रगतिशील दिशा देने में अपने प्राणों का उत्सर्ग करनेवाले दाभोलकर, पानसरे को न्याय दिलाने के लिए कितने लोग सड़कों पर उतर आते हैं? लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि संवेदनशील व्यक्तियों ने निराश होकर अपने प्रयत्न छोड़ देना चाहिए।

१) मनुष्य जाति के इतिहास का प्रवाह लगातार बहता आ रहा है।

२) दुनिया में समय के साथ नई-नई समस्याएं सामने आती हैं।

३) समय-समय पर मनुष्य ने इन समस्याओं का समाधान तत्कालीन परिस्थितियों में उपलब्ध साधन सामग्री के, तबतक मनुष्य जाति के पास संचित ज्ञान भंडार के आधार पर किया है।

४) शुरू में मनुष्य जाति को प्रकृति के साथ कड़ा संघर्ष करके ही जीवनयापन करना पड़ता था | पर प्रकृति के विषय में उसकी जानकारी बहुत सीमित थी | वह प्रकृति का भयंकर रूप देखता था और अपने आपको बहुत ही असहाय अनुभव करता था। स्वाभाविक तौर पर वह प्राकृतिक शक्तियों के विषय में कल्पना ही कर सकता था। उसे जांचने परखने का कोई साधन उसके पास नहीं था | इसी प्रयास में उभर आयीं ऐसी संकल्पनाएँ जो केवल कल्पनाएँ ही थीं | यह आवश्यक नहीं था कि उनका सम्बन्ध वास्तविकता के साथ ही हो। इसीमें से ऐसी कुछ संकल्पनाओं ने जन्म लिया। फिर भी इन संकल्पनाओं को केवल बकवास कहना ठीक नहीं होगा | उन्होंने निश्चित

ही मनुष्य के लिए, आत्मसांत्वना के पूर्तिकर्ता के रूप में अपनी भूमिका निभाई है ।
इतिहास में उनका अपना स्थान है।

लेकिन मनुष्य जाति में हुई ज्ञान वृद्धि के साथ इनमें से कई कल्पनाएँ थोथी सिद्ध हुई हैं ।
फिर भी समाज का बहुत बड़ा वर्ग आज भी उनका त्याग करने की मानसिकता बना नहीं पाया है।

समस्या तब खड़ी होती है जब आज की समस्याओं का समाधान ऐसी कालबाह्य या
अवास्तविक कल्पनाओं द्वारा करने का आग्रह किया जाता है । आज दुनिया में जो कुछ हो रहा है
वह इसका साक्षात् उदाहरण है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में आनेवाली कई संकल्पनाओं की स्थिति ऐसी ही है । उसी तरह यह भी
ध्यान रखना होगा कि ये किसी विशेष संप्रदाय, धर्म, पंथ आदि की विशेषताएँ नहीं हैं । यह एक
विचारधारा है।

इससे पहले कि मैं कुछ सोचना आरम्भ करूँ, एक मत मेरे पढ़ने में आया । समझो सोच
के अंत में, मैं यह मानने लगूँ या संक्षिप्त में मुझे नास्तिकता के विचार उचित लगने लगे, तो
आस्तिकवादियों ने मुझे एक चेतावनी जरूर दे दी -

“अतः अल्पज्ञ और अल्प शक्ति का यह मानव, परोक्षतिपरोक्ष और धर्मचक्षुओं के अगम्य
वस्तुओं के अस्तित्व को , नास्तिक न माने- नहीं है, मैं नहीं मानता, ऐसा कहे और सृष्टि की
नियमित चलनेवाली सारी व्यवस्था को देखते हुए भी उसके व्यवस्थापक ईश्वर ,जीवात्मा, धर्म-
अधर्म, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म, कर्मफल, मुक्ति आदि को न माने और स्वीकार न करे तो उसमें कोई
आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे मनुष्य बालबुद्धि और अज्ञ समझे जाकर क्षम्य और दया के पात्र हैं।”

(डॉ.जयदत्त उप्रेती शास्त्री : ईश्वर सिद्धि: ईश्वर: कल्पना बनाम यथार्थ, पुष्ठ १५७)

“.....परमेश्वर है ,उसको जो मनुष्य न जानते,न मानते, और उसका ध्यान नहीं करते,
वे नास्तिक, मंदबुद्धिमति, सदा दुःखसागर में डूबे रहते हैं । इसलिए सर्वदा उसीको जानकर सब
मनुष्य सुखी होते हैं।” (वही पुष्ठ५९)

“योगाभ्यास न करनेवाला व्यक्ति कृतज्ञ और महामुर्ख होता है । वह समस्याओं का ठीक
समाधान नहीं कर सकता”

(ईश्वर का ध्यान न करने से हानियाँ: ईश्वर का महत्व और लाभ: ज्ञानेश्वर राए : ईश्वर
कल्पना बनाम यथार्थ)

एसे ही कुछ विचार आध्यात्म के सर्वोच्च आचार्य आदि शंकराचार्य ने भी व्यक्त किए हैं।

इन टिप्पणियों के लिए इनके सृजनकर्ताओं पर दूषण लगाने का कोई औचित्य नहीं । हर सोचनेवाला व्यक्ति अपने विरोधियों के लिए भला बुरा तो कहता ही है । हो सकता है आगे के पृष्ठों में मुझसे भी कुछ गलत शब्दांकन हो जाए। जिसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी अवश्य होऊंगा।

दूसरी बात उपरोक्त विद्वानों ने उद्धृत किये वर्ग में अब हाव्किंस स्टिफेन जैसे वैज्ञानिक भी आ गए हैं।

अनुक्रमणिका

क्र.	प्रकरण	पृष्ठ
	प्रस्तावना	ii
१	समाज विकास: आस्तिकता के परिप्रेक्ष में	१
२	आस्तिकता	७
३	ईश्वर	२०
४	आत्मा	३८
५	धर्म	४५
६	शाश्वतता	५०
७	श्रद्धा और अंधश्रद्धा	५२
८	अध्यात्म और प्रसन्नता	५७
९	अध्यात्म के पुरोधा: साधु-सन्त	६२
१०	कुबेरपति धार्मिक संस्थान	६६
११	कर्म सिद्धांत	७२
१२	पाप और पुण्य	८२
१३	पुनर्जन्म	९०
१४	नीतिशास्त्र	९३
१५	सिंधुघाटी सभ्यता	९८
१६	वैदिक काल	१०४
१७	वैदिक साहित्य	११५
१८	सृष्टि उत्पत्ति का वैदिक सिद्धांत	१३३
१९	बुद्ध	१४१
२०	भाववाद का उदय	१५७
२१	जादूटोना-तंत्रवाद	१७४
२२	ज्योतिष्यशास्त्र	१८३
२३	अतिजीवन	१९०
२४	मृत्यु दरम्यान अनुभूतियां : मृत्यु दरम्यान तथा पश्चात्	२०७
२५	मनःशक्ति विश्लेषण	२१०

२६	नास्तिकता	२१३
२७	लोकायत दर्शन : जनता का संप्रदाय	२१९
२८	सांख्य	२२६
२९	सृष्टि	२३५
३०	ज्ञानप्राप्ति : बौद्धिक जिज्ञासा	२४४
३१	दर्शन	२५९
३२	द्वंद्ववाद	२८१
३३	विज्ञान और अध्यात्म	२९०
३४	प्राचीन भारत में विज्ञान	२९९
३५	जीवन उत्पत्ति और चेतना	३०७
३६	कट्टरता और उदारता का द्वंद्व	३१३
३७	वर्ण और जाति	३१६
३८	प्रगतिशील आंदोलनों का अध्यात्म के विरुद्ध संघर्ष	३२०
३९	परंपराएं और संविधान	३२३
४०	अस्तित्ववाद	३२९

समाज विकास: आस्तिकता के परिप्रेक्ष में

मानव पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होता गया | वह अधिक पूर्णता की ओर, अधिक विविधता की ओर अग्रसर हुआ | पहले शिकार, फिर पशुपालन इसके साथ-साथ कृषि काम होने लगे | ऐसा माना जाता है कि कृषि का आविष्कार स्त्रियों द्वारा किया गया | जहाँ कृषि का वर्चस्व था उस समाज में मातृसत्ताक समाज पद्धति अस्तित्व में आयी | तो पशुपालक समाजों में पितृसत्ताक पद्धति शुरू से ही बनी | धीरे-धीरे मातृसत्ताक पद्धति का लोप होता गया , पितृसत्ताक पद्धति ही प्रभावशाली होती गई।

शिकारी अवस्था में, मानव, समूह बनाकर रहने के लिए मजबूर था | संपत्ति जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं था | उस आदिम साम्यवादी अवस्था से दासप्रथा में समाज का अंतरण हुआ | मानव के समूह के आपस में टकराव होते थे | अपने-अपने क्षेत्रों को बनाए रखने के लिए ताकि शिकार आदि की उपलब्धि की निश्चितता लगातार बनी रहे | शुरू में टकराव में पराजित समूह के लोगों को मार डाला जाता था | लेकिन बाद में उन्हें दासों के रूप में रखते हुए उनसे जबरदस्ती काम लिया जाने लगा | अर्थात् ऐसी स्थिति में दासों का काम के प्रति कोई लगाव होने का कोई प्रश्न ही नहीं था | परिणामतः उत्पादन क्षमता तथा कौशल में वृद्धि होने की कोई सम्भावना नहीं थी | तब आगे समाज सरमायेदारीरूप में विकसित हो गया |

पशुपालन और कृषि के साथ समाज में कताई , बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाना , लोहकर्म भी होने लगा | जहाजरानी गतिविधियाँ शुरू हो गईं | व्यापार और उद्योग के साथ अंततः कला और विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ | जनजातियों में से राज्यों का विकास हुआ , कानून, राजनीति का विकास हुआ और साथ-साथ ऐसे वर्ग का भी जिसने शारीरिक श्रम से अपने आप को पूरी तरह मुक्त कर लिया था , और जो दूसरों के श्रम पर सुविधाभोगी जीवन जीने लगा था | अर्थात् उस समाज में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की नींव पड़ चुकी थी | चिंतन के विकास के साथ-साथ एक ओर तो सृष्टि को समझने की जिज्ञासा के कारण विज्ञान, तर्क आदि का उदय हुआ तो दूसरी ओर एक कल्पनालोक का अवतरण हुआ, धर्म का अध्यात्म का | तर्क और विज्ञान का तो श्रम के साथ नाता बना रहा | लेकिन धर्म और अध्यात्म अधिकतर , वर्गों में विभाजित समाज में शोषण का माध्यम रहा चूँकि इसका विकास ही ऐसे वर्गों द्वारा किया गया जो दूसरों के श्रम पर जीने के आदि हो गए थे |

ज्ञान के अभाव में और जिजीविषा के कारण प्रकृति के साथ मनुष्य के संघर्ष में , स्थितियों पर काबू पाने की मंशा ने कई तरह की कल्पनाओं को जन्म दिया | जादूटोने जैसे रूप

उभर आए। लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती गई वैसे-वैसे ऐसी कल्पनाओं का इतना ही नहीं तो धर्म, अध्यात्म का दायरा सिकुड़ता गया और यह प्रक्रिया आज भी जारी है।

जहाँ तक समाज व्यवस्था की बात है और खास तौर पर भारतीय समाज व्यवस्था की बात है, कृषि और कारीगरी व्यवसाय इनमें एकता के साथ समाज आगे बढ़ता रहा। भारतीय ग्राम व्यवस्था स्वयंपूर्ण थी। उसमें हर कारीगरी व्यवसाय, गांव की जरूरतें पूरी करता था। कारीगर का हुनर अधिकतर उसकी ही अगली पीढ़ी को अंतरित होता था । फिर भी शुरू में इसमें बदल हो सकता था। अर्थात् वर्ण स्वेच्छा से बदला जा सकता था । लेकिन धीरे-धीरे इस व्यवस्था ने जाति व्यवस्था का रूप ले लिया । इसका कुछ लाभ यह हुआ कि ग्रामीण व्यवस्था में स्थैर्य , सातत्य और उत्पादन क्षमता बनी रही। लेकिन इस तरह की जाति व्यवस्था भारत में ही अस्तित्व में है , दुनिया में कहीं और नहीं । इस व्यवस्था ने भारतीय समाज को बिल्कुल ही स्थितिवादी बना दिया। उत्पादन वृद्धि की गति न्यूनतम रही और समाज व्यवस्था ने एक अमानवीय रूप ले लिया, जिससे हम आज तक मुक्त नहीं हो पाए हैं । उस समाज में, आज की तुलना में समृद्धि बहुत कम थी। लेकिन इतना भी निश्चित था कि रोजगार के अभाव में कोई भूखा नहीं मरता था।

दूसरी बात थी कि विशिष्ट जाति के कारीगर ने बनाया विशिष्ट उत्पाद गांव के लिए ही होता था। वह बाजार की राह नहीं पकड़ता था । गांव में बने माल की वहीं आपस में अदलाबदली होकर (विनिमय), जीवन की जरूरतें पूरी होती थीं । ग्रामीण समाज में अति अमीरी और अति गरीबी ऐसे दो सिरे नहीं थे।

जहाँ तक समाज विकास की बात है वह सभी स्थानों पर और सभी स्तरों पर समान गति से नहीं हुआ। इस कारण आज भी समाज में एक स्तर अति विकसित अवस्था में है तो दूसरी ओर आदिवासी भी है । जहाँ तक इन आदिम समाजों की बात है , उनमें किसी धार्मिक संकल्पनाओं का अस्तित्व नहीं मिलता । मनुष्य के सपने में मृत व्यक्ति आदि आते हैं तो मृत व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई न कोई हिस्सा पूरी तरह नष्ट नहीं होता , उसका अस्तित्व बना रहता है, ऐसी धारणा इन समाजों में पायी जाती है, और जैसे मनुष्य, दूसरे मनुष्य को प्रसन्न करने के लिए कुछ बातें करता है ताकि उससे कुछ लाभ प्राप्त हो सके , उसी तरह उनमें भी यह विचार स्वाभाविक था कि मृतात्माओं को प्रसन्न रखना चाहिए । इसके लिए जो भी कर्मकांड शुरू हुए उन्हें 'पिशाच पूजा' कहा जा सकता है । यह एक तो प्रेतात्माओं के प्रति आदर का सूचक हो सकता है या फिर डर का भी। आगे ईश्वर की पूजा आदि इसी 'पिशाच पूजा' का परिष्कृत रूप ही माना जा सकता है।

जब हम मानव संस्कृति के विकास की ओर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि मानव बस्ती के सबसे पुराने अर्थात् लगभग दस हजार साल पुराने अवशेष 'टेल एस.सुल्तान' नामक पहाड़ी पर

मिले हैं। सबसे प्रभावशाली प्रथम सभ्यता 'सुमेरियन सभ्यता' मानी जाती है। मेसापोटामिया की प्रमुख तीन सभ्यताएं मानी जाती हैं। इनमें देवताओं का मानवीकरण मिलता है, जिसमें मानवी गुण और वासनाएं भी हैं। केवल अंतर है अमरता का। मनुष्य के सुख-दुःख देवताओं पर, उनकी दया पर निर्भर हैं। मूर्तियां मानव आकृति की ही मिलती हैं। बाद में आती है 'बेबीलोनियन' सभ्यता, जिसमें राजा की निरंकुशता को दैवीय माना गया। बील इयूरान्त के अनुसार वर्गपूर्व समाज या वर्गीय समाज के आरंभिक चरण में मरणोत्तर पुरस्कार की मान्यताएं नहीं मिलतीं। वे तब प्रकट हुईं जब वर्ग विरोध तीव्र हुए। अर्थात् उद्देश्य साफ हैं वर्ग विरोध की उग्रता कम करने का।

आगे यूनान के देवताओं को देखिए। देवताओं की प्रकृति मानव समान ही मिलती है। विशेष गुण मिलते हैं, सौंदर्य और अमरता अर्थात् उदात्तीकृत मनुष्य। आगे हेलेनिस्टिक युग में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद आया।

इसके साथ ही सोफिस्ट गोरस का सिद्धांत 'शंकावाद' भी है। यह अलौकिकता की दहशत से मानव की मानसिक मुक्तता का प्रयत्न था। एपिक्युरस ने भी सभी धर्मों और अंधविश्वासों को त्याज्य घोषित किया चूँकि ये मानवता को डरते-धमकाते हैं।

अर्थात् देवताओं का रूप उस-उस समाज में वैसा ही बना जिस भौतिक स्थिति से वह समाज गुजरा। मध्यकाल में अर्थात् राजतन्त्र के काल में ईश्वर को भी एक राजा या सामंत का रूप दे दिया गया। मंदिरों में ईश्वर की मूर्ति रखकर उसका भी दरबार भरने लगा, जहाँ नर्तकियां नाचती थीं। तमाम तामझाम के साथ उसकी आरतियां उतारी जाने लगीं। आम जनता वहां पहुंचकर उसके सामने माथा नवाती और जैसे राजा के दरबार में वह नजराना लेकर जाती वैसे ही वहां भी वह भेंट लेकर पहुंचने लगी।

आगे तो इतना बौद्धिक पतन हो गया कि लोगों ने यहाँ तक सोच लिया कि चूँकि ईश्वर पुल्लिंग है इसलिए उसके सामने अपने आपको स्त्री रूप में समर्पित किया जाए। सखी सम्प्रदाय कायम हुआ। इसके अनुयायी पुरुष, स्त्री वेश में रहने लगे। नकली स्तनों का उपयोग करने लगे। यहाँ तक कि बनावटी रूप में मासिक धर्म तक होने लगे। जो संकल्पनाएं मनुष्य को इस स्तर तक पहुँचाती हैं, उनका जिस समाज पर इतना जबरदस्त प्रभाव है, उस समाज की स्थिति के विषय में क्या अपेक्षाएं रखी जा सकती हैं?

जो बुद्ध अवतारवाद और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे उनकी मूर्तियां बनाकर उन्हींकी पूजा की जाने लगी। महायान पंथ का उदय हुआ और बुद्धिहीन कर्मकांड अपनी चरम अवस्था तक पहुंचा। अध्यात्म का स्वरूप भद्दा बनता गया।

सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत का प्राचीन ऐतिहासिक युग समाप्त होता है । हर्षवर्धन कालीन भारत बौद्ध और शैव धर्म का अनुयायी था। लेकिन बाद में बौद्ध धर्म लुप्तप्राय हो गया और भारत का मुख्य धर्म हिन्दू धर्म माना जाने लगा। वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायों ने बौद्ध धर्म की जगह ले ली। (सम्प्रदायवाद :पृ .५२-५५)

उधर सम्राट अशोक की मृत्यु के बाद भारतवर्ष विदेशी आक्रमणकारियों का अखाड़ा बन गया। ई.स.पू.२०० से लेकर तो पांचवीं सदी तक हिन्दुस्थान पर लगातार आक्रमण होते रहे । उस समय भारत भर में छोटे-छोटे गणतंत्र शब्दशः बिखरे हुए थे । राजाओं की निरंकुशता के कारण आम जनता भी राज्यों की सुरक्षा के प्रति उदासीन थी।

आठवीं सदी से पंद्रहवीं सदी

ईस समय दक्षिण भारत ने देश का नेतृत्व किया । आदि शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभाचार्य और माधवाचार्य ने वेदांतभक्ति का प्रचार कर मनुष्य मात्र की समानता का प्रचार किया। ईस मत प्रवाह के अनुसार , मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए किसी दलाल की आवश्यकता नहीं , न किसी विशेष जाति में जन्म लेने की । शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए शूद्रों के लिए सन्यास आदि की सुविधाएं तो प्रदान की थीं , लेकिन फिर भी शूद्र, द्विज जाति में जन्म लेकर ही वेदाध्ययन का अधिकारी हो सकता था अर्थात् वह तभी मुक्ति प्राप्त कर सकता था।

बारहवीं सदी में स्वामी बसवेश्वर ने वीर-शैव या लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना की और जातिवाद का विरोध किया।

इसके बाद रामानुज के शिष्य रामानंद (जन्म १२९९ ईस)ने रामभक्ति का प्रतिपादन करते हुए दक्षिण में बहती हुई भक्ति मार्ग की धारा को उत्तर की ओर मोड़ दिया । चारों वर्णों की समानता पर जोर दिया। आगे यह भक्ति आंदोलन दो धाराओं में प्रकट हुआ। बाह्यचार की शुष्कता रसमय रूप में प्रकट हुई।

१) सगुण रूप में -तुलसीदास: प्राचीन शास्त्र तथा श्रद्धा आधार।

२) निर्गुण रूप में- कबीर: कर्मकांड पर जबरदस्त प्रहार। अनुभव और ज्ञान पर जोर।

* १४६९ ईसा में गुरु नानक जी का जन्म हुआ।

* उत्तर भारत से भक्तिरस की धारा बंगाल पहुंची । वहां पंद्रहवीं सदी के अंत में चैतन्य महाप्रभु का जन्म हुआ।

* इधर पच्छिम में , महाराष्ट्र में भी भक्तिमार्ग रूप ले ही रहा था । वारकरी पंथ के संस्थापक थे पुंडलिक । ज्ञानेश्वर(सन् १२९० में) उन्होंने १०००० शब्दों की भगवद्गीता पर टीका

लिखी। संत नामदेव (दर्जी), चोखामेला(दलित), तुकाराम इन सभी संतों ने मनुष्य की समानता का भारी प्रचार किया । वे एकेश्वरवाद के समर्थक तथा कर्मकांड के प्रखर विरोधी थे । संत चोखामेला तथा संत तुकाराम को सनातन पंथियों से भारी पीड़ा झेलनी पड़ी । कुछ अन्वेषकों का कहना है कि तुकाराम को ब्राह्मणों ने मरवा डाला था और चोखामेला को पंढरपुर के मंदिर में प्रविष्ट होने के कारण बैलों द्वारा कुचलकर मार डाला गया।

- * उधर देहली में अकबर बादशाह ने 'दिने इलाही' नामक मजहब जो समानता पर आधारित था, चलाने की कोशिश की।

- * फिर आया अंग्रेज गोरों का राज । उन्होंने १८२९ में सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित करने जैसे सुधार तो किए लेकिन जातिप्रथा आदि को जड़मूल से उखाड़ फेकने जैसा कोई अभियान नहीं चलाया। उलटा यह व्यवस्था उनके 'फुट डालों और राज करो' की नीति के लिए लाभकारी ही थी। जाति लिखे बिना दस्तावेज और पुलिस रिपोर्ट आदि अधूरे माने जाते थे।

- * १८७५ में उत्तर-पश्चिम भारत में आर्य समाज की स्थापना हुई । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने हिन्दू धर्म सुधार का कार्यक्रम चलाया।

- * इसी उन्नीसवीं सदी में महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि राज्यों में समाज सुधार के आंदोलन हुए।

- * ३० दिसंबर १९०६ को ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई।

- * १९२५ में अखिल भारतीय हिन्दू महासभा बनी।

भक्ति आंदोलन

मनुष्य के शरीर में विद्यमान आत्मा यह परमात्मा में अर्थात् ब्रह्म में विलीन होना याने मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य प्राप्ति। एकबार मोक्ष मिला तो फिर पुनर्जन्म नहीं । जन्म-मृत्यु के फेरों से मुक्तता। मनुष्य जन्म का उद्दिष्ट ही है मोक्षप्राप्ति और कुछ नहीं । मोक्षप्राप्ति के उपाय -योगमार्ग, सन्यासमार्ग, ज्ञानमार्ग (सांख्यमार्ग) हैं। लेकिन ये तीनों कठिन हैं।

इसलिए एक चौथा मार्ग बना भक्तिमार्ग । इसकी निश्चित शुरुवात कब हुई यह बताना कठिन है। लेकिन पांचवीं सदी से उसकी वृद्धि होना आरम्भ हुआ और सोलहवीं सदी तक वह अपने चरम पर था । लेकिन इस मार्ग के कारण मोक्षप्राप्ति सर्वसामान्य व्यक्ति के लिए आसान बनी। केवल नाम जप करना, भजन, पूजन, कीर्तन करना, आपका मोक्ष का आरक्षण पक्का । लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने ऐहिक की तरफ पीठ फेरी । अधिकतर लोगों की दृष्टि काल्पनिक परलोक की ओर लगी, ऐहिक प्रगति पूरी तरह रुक गई । जहाँ हमें अपना पूरा जीवन बिताना है वह जगत असत्य हो गया और काल्पनिक परलोक सत्य हो गया।

उस परब्रह्म ने अपनी माया से, अपने संकल्प से इस ब्रह्माण्ड का केवल आभास पैदा किया है। आभास निर्मिति के लिए वस्तुरूप साधनसामग्री की आवश्यकता नहीं होती । केवल संकल्प काफी होता है। जग को मिथ्या मान लिया कि उपादान कारण , उत्पत्ति का कारण आदि बातें खोजने की आवश्यकता ही क्या है ? विश्वनिर्मिति का ब्रह्म सिद्धांत अपने आप ही तर्कसंगत हो जाता है।

इस तरह रही आस्तिकता की यात्रा।

आस्तिकता

ता.२१-७-२०१७ के लोकमत समाचार में 'विविध' शीर्षकान्तर्गत बड़ी सुन्दर लघुकथा दी हुई है। लो.स.के सौजन्य से मैं उसे यहाँ उद्धृत करने की धृष्टता कर रहा हूँ -

एक आदमी एक पहाड़ के रास्ते पर , एक अँधेरी रात में , भटक गया। अमावस की रात थी। हाथ को हाथ न सूझे। बहुत चीख-पुकार मचाई लेकिन कोई सुननेवाला भी नहीं। टटोल-टटोल कर बढ़ रहा था कि अचानक एक गड्ढे में फिसलने लगा । कोई झाड़ी पकड़कर लटक गया । रो रहा है, चिल्ला रहा है, कोई सुननेवाला नहीं। अपनी ही आवाज गूँजकर सुनाई पड़ती है , जो और भयानक लगती है। सुबह बहुत दूर है। रात बड़ी सर्द है। हाथ ठण्डे हुए जा रहे हैं। लगता है कि जिस जड़ को पकड़ कर वह लटका है, वह हाथ से छूटी जा रही है। हाथ और जकड़ते जा रहे हैं। जैसे लकवा लग गया हों। अब पकड़ने की क्षमता भी खोती जा रही है।

आखरी में उसने देखा कि हाथ से जड़ें छूटने लगीं । अब हाथ बिल्कुल ही ठंडा हो गया , बर्फ जैसा जम गया है खून । पकड़ने का और कोई उपाय नहीं है। उसने कहा," हे भगवन गए। " हाथ से जड़ छूट गयी और उस घाटी में जोर की खिलखिलाती हंसी गूँज उठी । वह आदमी हंस रहा था। हुआ यह था कि नीचे कोई खाई नहीं थी। नाहक इतनी देर कष्ट पाता रहा। नीचे समतल जमीन थी जिसपर वह खड़ा हो गया। लेकिन अँधेरी रात होने से लग रहा था नीचे खाई है। जिस जड़ के सहारे वह लटका था और जिसे वह अबतक मुक्तिदाता समझ रहा था , उसीने उसे कष्ट दिए और नर्क में रखा। जैसेही छूट गयी, वह नर्क से बाहर हो गया।

यह कहानी, मनुष्य और अज्ञान के कारण वह जिससे लटका हुआ है उस अध्यात्म पर ठीक बैठती है।

@ हमारे समाज में बच्चा जन्म लेने के बाद और वह स्वयं कुछ सोच सके इसके पहले ही उसे आस्तिक बनाया जाता है। बिना किसी सोच के, जन्म के कारण हिस्से में आया धर्म और देवता इनके प्रति श्रद्धा रखते हुए , जीवन के अंत तक उन्हीं की उपासना करते रहना , यह अधिकतर आस्तिकों के बाबत घटित होता है । इस कारण विशिष्ट देवता की आराधना तू क्यों करता है? पूछने पर, उसका उत्तर यही होता है कि मेरी उसपर श्रद्धा है। और श्रद्धा का स्रोत पाया जाता है, संस्कारों में। इससे अलग उसके पास और कोई कारण नहीं होता । हिन्दू के घर में पैदा होनेवाले का श्रद्धास्थान हिन्दू धर्म और हिन्दू देवता तो मुस्लिम घर में जन्म लेनेवाले की आस्था मुस्लिम धर्म में ही पाई जाएगी । मैंने कई धर्मों का अध्ययन किया , देवीदेवताओं के चरित्रों का विश्लेषण किया, उनके उपदेशों पर चिंतन किया और उसीके बाद मैंने अपना धर्म और देवता निश्चित किया, ऐसा कहने वाला व्यक्ति क्या कभी आपके जीवन में आपको मिला ? हाँ, वह जब

ऐसी चिकित्सा के फेरे में पड़ता है तो उसकी श्रद्धा में भारी गिरावट देखने को जरूर मिलेगी। एक ही परिवार में पैदा हुए बच्चे अगर भिन्न-भिन्न संस्कारों से गुजरे तो निश्चित ही समान श्रद्धा उनमें आपको नहीं मिलेगी।

@ हमने अगर ध्यान से अपने आजु-बाजु का निरीक्षण किया तो पाएंगे कि-

- समाज में अधिकतर व्यक्ति गहराई से सोचने वाले नहीं होते।
- उनकी रुचि दीर्घकालिक के स्थान पर अल्पकालिक समाधान में होती है।
- अधिकांश लोगों की मनोभावनाएं अधिक उलझी हुई नहीं होतीं । वे केवल अच्छा या बुरा , सच या झूठ , प्रेम या द्वेष इस तरह की बाइनरी में ही सोचते हैं । ऐसे लोगों के विचार और व्यवहार पर, संयमपूर्ण विचार , बुद्धि के स्थान पर राज चलता है भावनाओं का। वे विकल्प ढूंढने के चक्कर में नहीं जाते।
- आस्तिक व्यक्ति अगर कोई खतरा आया तो आसान समाधान ढूंढता है । किसी देवीदेवता की प्रार्थना, कर्मकांड और देवता के साथ सौदेबाजी। समाधान के लिए वह अपनी पूरी वैचारिक शक्ति का उपयोग नहीं करता । ऐसे श्रद्धावान भक्तों की यात्रा बहुत आसान होती है। उनसे कोई पाप हुआ तो पापक्षालन के रेडीमेड उपाय उपलब्ध रहते ही हैं। लेकिन नास्तिक के लिए यह सुविधा उपलब्ध नहीं होती। उसे अपनी सदसद्विवेक बुद्धि पर निर्भर रहना पड़ता है।
- जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है , व्यक्तिपूजा की पकड़ कितनी है इसे बताने की जरूरत नहीं । यहाँ के आम आदमी की इच्छा यही रहती है कि कोई मसीहा आकर उसका उद्धार करें । उसके लिए वह किसीके भी सामने हाथ जोड़ना ही क्यों , नाक रगड़ने को भी तैयार रहेगा । अपने उद्धार का दायित्व किसी और को सौंपकर वह तानकर सो जायेगा। फिर जिसपर उसने श्रद्धा रखी है वह चाहें जैसा उसका शोषण क्यों न करें ? इसके अनगिनत उदाहरण दिए जा सकते हैं।

मिथक

मानवता की सेवा यह कठिन कर्म है । उसके स्थान पर प्रतीक पूजा आसान होती है । मिथक अर्थात् पुराण कथा या दिव्य कथा । जो होना चाहिए , प्रत्यक्ष में होना चाहिए ऐसा लगता है, उसकी कल्पना के आधार पर रची हुई कथा । वास्तव और कल्पना इनका संगलन करने से बनी हुई कथा। प्रत्यक्ष में ये कथाएँ कल्पनाओं को ही मजबूती देती हैं और कब कल्पनाओं को ही वास्तव बताने लगती हैं, पता ही नहीं चलता। ऐसी बातों को सबूत की जरूरत नहीं होती। या फिर सबूत गढ़े भी जाते हैं।

प्रचार तंत्र

आज प्रसार माध्यमों की सहायता से उपरोक्त प्रसूति आसान हो गई है । नहीं, मानों माध्यमों ने इसे ही अपना मिशन बना लिया हो, ऐसा लगता है। सोशल मिडिया पर चर्चा, मनुष्य की वास्तव समस्याओं की जगह होती है, कडप्पा ने बाहुबली को क्यों मारा ? (चित्रपट : बाहुबली २०१७) इस आभासी दुनिया का ही आज समाज पर राज है।

- लोगों के विचार, उनका व्यवहार नियंत्रित किया जा सकता है , बिना उन्हें पता चले। आप, नमक को नमक के रूप में प्रस्तुत न करते हुए , उसे 'देश का नमक 'कहते हुए जनता का आवाहन कीजिए। जनता की भावनाएं तर्क का दायरा छोड़कर अलग ही भावनिक ऊंचाई पर पहुंचेंगी। किसी विशेष नीति की घोषणा करते समय , भला ही वह एक सामान्य क्यों न हो , उसे किसी ऐतिहासिक घटना या व्यक्ति के साथ जोड़ दो तो जनता के मन में उस उदात्त घटना, व्यक्ति के लिए जो भावनाएं हैं, वे अपने आप ही इस घटना के साथ जुड़ जायेंगी। इसे ' ग्लिटरिंग जनरलिटी ' कहते हैं।

दूसरा तत्व है, अपने विरोधी कल्पना या व्यक्ति का नाता किसी नकारात्मक या बदनाम प्रतिमा या कल्पना के साथ जोड़ दो । यह बदनाम-करण है। यह करते समय जनता के मन में दबी हिंसक भावना को धीरे से सहलाना भी मत भूलें।

विद्यमान व्यक्ति की मिथके तैयार की जाती हैं । घटना का उदात्तीकरण किया जाता है । लेकिन यह सब करते समय प्रचार तंत्र का सबसे प्रमुख नियम ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह प्रचार नहीं लगना चाहिए। वह किसी भावना के साथ जुड़ा होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं होगा तो वह आवाहन, वह घोषणा जनता को शुष्क लगेगी। तथ्य हमारे बनाये हुए होने चाहिए। जनता को क्या दिखना चाहिए और क्या नहीं , इसका नियोजन पहले ही होना चाहिए । यह है ' टेस्टीमोनियल 'तंत्र।

- * बड़े-बड़े जगमगाते इवेंट , फाइव स्टार इवेंट होने चाहिए । लोगों से लगातार , भाषणों के माध्यम से, प्रचार टकराते रहना चाहिए और यह सब सुविधाएँ आज 'अध्यात्म कम्पू 'के पास उपलब्ध है। हम रोज देखते हैं और इसके लिए ईंधन, दरिद्री और अज्ञानी जनता उपलब्ध कराती है जिसका शोषण होता है। लेकिन यह सब किसलिए -

- * सब से पहले मनुष्य की तर्कबुद्धि को संज्ञाशून्य करना जरूरी है । लोगों के मन में एक भ्रमजाल पैदा करना आवश्यक होता है। वह तर्क के सहारे संभव नहीं हो सकता लेकिन भावना के सहारे सहज संभव है। इसी कारण कोई साधु-संत तर्क का आधार लेने के चक्कर में नहीं जाता । क्योंकि इस रास्ते पर उनकी दुकानें चलना असंभव है।

तर्जों का कहना अगर सर्वसामान्य जनता मानने लगी तो क्या होगा ? तो फिर सबसे पहले तज्ञ, अन्वेषक, अभ्यासक इनके प्रति सामान्य जन के दिमाग में अप्रीति पैदा करें । उनके विश्वासहार्यता पर लगातार प्रश्नचिन्ह खड़ा करना आवश्यक होता है। इसी कड़ी में 'प्रगतिशील' शब्द के प्रति व्यंगात्मक भाव पैदा किया जा रहा है।

देनेवालों के समाधान के लिए याचकों की अंजुलियाँ कायम रहना जरूरी है । इसलिए उनके दिमाग में यह डालते रहें कि वे अपूर्ण हैं। उन्हें इस दुनिया के पार के किसी बात की जरूरत है। तब तक वे पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकते।

- व्यक्ति, या तो दुखों-तखलीफों से डरकर धर्म की ओर आकृष्ट होता है या फिर किसी प्रलोभन से। इसीलिए प्रत्येक धर्मपुस्तक में स्वर्ग का प्रलोभन या नर्क का भय मिलता है। इसका प्रचार भी आवश्यक है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रगतिशील विचारों को अंत नहीं , मृत्यु नहीं और विराम भी नहीं। लेकिन भावनाओं के विरुद्ध तर्क का संघर्ष कठिन तो है।

- महाराष्ट्र में एक बड़े चिंतक हो गए हैं, तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी। उन्होंने कहा है "धर्म चिकित्सा यह सारे चिकित्साओं की जड़ है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सहारे चिकित्सा करने की इच्छा रखने वाले लोग, धर्म चिकित्सा को टाल नहीं सकते।"

इसी लेखक द्वारा लिखी गई एक अन्य किताब है 'जड़वाद' या 'अनीश्वरवाद'। उसकी लेखक द्वारा खुद ही लिखी गई प्रस्तावना में लेखक कहते हैं , "विज्ञान की बौद्धिक भूमिका जिनके ठीक तरह से ध्यान में आएगी उनके दिमाग में ईश्वर और धर्म को स्थान नहीं मिल सकता।"

* चिंतक हक्सले ने 'जेस्टिंग पिलेट' इस अपनी किताब में लिखा है , "इंडिया वुड हाव बीन बेटर विथ लेस्स स्पिरिचुअलिज्म।"

- महाराष्ट्र के ही एक अन्य चिंतक, न्यायमूर्ति रानडे जी ने श्रद्धा की व्याख्या की है, "उत्कटता के साथ कृतिशील हुई विवेकशक्ति ही श्रद्धा है।"

लेकिन श्रद्धा की चिकित्सा का विरोध का अर्थ हुआ , विवेक शक्ति के कृतिशील होने का ही विरोध ।

अव्याकृत प्रश्न

बुद्ध के अनुसार -

ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नर्क आदि के चक्कर में अगर मनुष्य पड़ा रहा तो उसका जीवन समाप्त हो जाएगा, फिर भी उसे जीते जी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलने वाला । इसलिए तथागत बुद्ध कहते हैं , "इन प्रश्नों के अतिरिक्त वार्धक्य , बीमारी, मृत्यु, दुःख ऐसे प्रश्न हैं जिनका हमें

सामना करना ही पड़ता है। इन प्रश्नों का समाधान ढूँढना जरूरी है।" (और ये समाधान इस प्रत्यक्ष दुनियां में ही मिलेंगे , किसी काल्पनिक दुनिया में नहीं ।) बुद्ध उदहारण देते हैं , "अगर किसीको विषबुझा तीर सीने में लग जाए। उस तीर को निकालने की कोशिश करने वाले शल्य चिकित्सक से वह व्यक्ति कहे कि मुझे तीर मारने वाले शिकारी का नाम , गांव, जात, वंश का जबतक पता नहीं चलेगा तबतक मैं तीर निकालने नहीं दूंगा , तो उस मनुष्य की मृत्यु निश्चित है , लेकिन उसके प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलेंगे । उसका जीवन बचाने के लिए इन प्रश्नों के उत्तर आवश्यक भी नहीं हैं। यही बात ईश्वर आदि बातों पर लागू होती है ।" वे ऐसी चर्चा से अलिप्त होकर उसे अव्याकृत प्रश्न कहकर विराम देते हैं।

कुछ अन्य लोगों का भी कहना है कि , "हम क्यों ऐसे प्रश्नों को उठाए जिन का समाधान हमारी बुद्धि से परे है?"

इसपर आध्यात्मवादी पंडित गंगाप्रसाद उपाध्यायजी उत्तर देते हैं -लेकिन प्रश्न उठाना , न उठाना हमारे वश में नहीं । हमारी बुद्धि के अनुसार ही ये प्रश्न उठ खड़े होते हैं । यदि बुद्धि प्रश्न उठाने में प्रेरक होती है तो वह इनके समाधान ढूँढने में भी सहायता करेगी। (आस्तिकवाद पृ.२१२)

तो क्या पिछले हजारों वर्षों में इनका निश्चित सबूतों के आधार पर उत्तर मनुष्य को मिल सका ?

प्रश्न यह है कि हम अपने वर्तमान जीवन की चिंता करने के स्थान पर जन्म के पहले की और मृत्यु के पीछे की दशा जानने को इतने उत्सुक क्यों हैं ?

*समस्या का विश्लेषण और अनुसंधानात्मक विचार , आपसे मांग करते हैं , लक्ष निश्चिती की, उसके अनुसार क्रिया करने की , इस कर्म के लिए ऊर्जा की । साथ ही वे आपपर कुछ बौद्धिक उत्तरदाइत्व भी सौंपते हैं । लेकिन हमें आदत हो गई है बौद्धिक आलस्य की। इसके स्थान पर अध्यात्म का पल्ला पकड़ना आसान है । इस कारण आज की दृष्टि से निरर्थक , आचरण की दृष्टि से कठिन या असम्भवनीय ऐसे कई आदर्शों की गठरी अपने पीठ पर लादे, हम घूम रहे हैं। उसे उतार फेंकने के मोह से हम मुक्त नहीं हो रहे। लेकिन इस कारण भारतीय समाज और विरोधाभास इनका रिश्ता सा बन गया है । फिर हम ऐसे वैचारिक दरिद्रता का उदात्तीकरण करने में मग्न हो जाते हैं।

भारत में स्थिति

मोह त्याग का उपदेश देने वाला अध्यात्म और उसके धर्मपीठों की वास्तव स्थिति

क्र	मंदिर संस्थान	एक महीने की कमाई (रु .करोड़)
१)	तिरुपति बालाजी	१३२५
२)	वैष्णव देवी	४००
३)	कालीमाता मंदिर कोलकोता	२५०
४)	रामकृष्ण मिशन	२००
५)	जगन्नाथपूरी मंदिर	१६०
६)	अयोध्या	१४०
७)	शिरडी मंदिर	१००
८)	द्वारकाधीश मंदिर	५०
९)	बैद्यनाथ धाम देवगढ़	४०
१०)	अम्बाजी गुजरात	४०
११)	त्रावणकोर	३५
१२)	सिद्धि विनायक	२७

सभी मंदिरों की सालाना आय और सम्पत्ति कुल २८० लाख करोड़ तक हो सकती है , ऐसा अनुमान है। अधिकतर अनुत्पादक रूप में पड़ी है । नजदीकी भविष्य में इसका देश के विकास में उपयोग होने की सम्भावना भी नहीं है । मंदिरों की संपत्ति का कोई लेखापरीक्षणोत्तर लेखाजोखा उपलब्ध नहीं है। इस कारण हो सकता है उपरोक्त आकड़ों में फर्क हों । पद्मनाभनमंदिर और तिरुमला तिरुपति आदि मंदिर दुनिया के सबसे अमीर मंदिरों में से हैं।

इसके बावजूद नए-नए मंदिर बनवाने पर अरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं।

भारत के बाहर भी या कहीं अन्य धर्मों के मठों-मंदिरों-संस्थानों की स्थिति भी कुछ इससे अलग नहीं है। हाँ, कुछ संस्थान अपनी आय का अल्प हिस्सा तथाकथित प्रचारात्मक तरीके से , सामाजिक उत्थान के लिए खर्च करते हैं । लेकिन इससे पुरे आध्यात्मिक क्षेत्र के पास जो संपत्ति है उसकी न्यायोचितता सिद्ध नहीं होती।

दूसरी ओर पिछले वर्ष भारत में १०.५ लाख टन अन्नधान्य केवल इस कारण बर्बाद हुआ कि उसको सुरक्षित रखने की व्यवस्था नहीं थी। हमारा अन्न उत्पादन अंदाजन २७० दशलक्ष टन है जबकि संग्रह करने की क्षमता केवल ३०-३५ दशलक्ष टन है। भारत में कुपोषण, आधे भूखे पेटों की समस्या विश्वविख्यात है । लेकिन जिन भगवानों के मंदिर बनवाये गए उन्होंने न कुपोषितों की, न भूखों की कोई मदद की।

इतनाही नहीं तो आध्यात्मिक क्षेत्र में विलासिता का यह हाल है - (२७-९-२०१६ के लोकमत समाचार (पृष्ठ १) के समाचार के अनुसार) आचार्य श्री प्रेमसूरीश्वरजी की पार्थिव शरीर को अग्नि देने के लिए विशिष्ट समुदाय के पांच सदस्यों ने मिलकर ११ करोड़ ११लाख की बोली लगाई थी।

इसी कारण भारत के लोगों को विकास के लिए, सफलता के लिए भाग्य पर भरोसा रखना पड़ता है। यही अध्यात्म की हमको देन है -समाज की आकलन शक्ति का संकोच । देखी हुई बातों का मनुष्य को जो आकलन होता है वह उसके अपने भावनिक , मानसिक और बौद्धिक स्तर के अनुसार ही होता है। लेकिन इसका हमारे व्यवहार पर असर जरूर होता है -

* कभी हम आसेतु -हिमालय इस अफवा पर विश्वास करने लगते हैं कि गणेशजी दूध पी रहे हैं, और हम भी दूध लेकर उन्हें पिलाने निकल पड़ते हैं और दुनिया की हंसी का पात्र बनते हैं।

* प्रति वर्ष ६५ लाख टन नमक का निर्यात करनेवाले भारत में , नमक की कमी हुई ऐसी अफवा फैल जाती है और समाज का एक वर्ग दौड़ पड़ता है। दुकानों के सामने रात में कतारें लग जाती हैं और इसी भगदड़ में, कानपूर में एक महिला की मौत हो जाती है।

सैकड़ों सालों के संस्कारों के कारण हम सोचना ही बंद कर देते हैं।

*धर्मशास्त्र की विवेचन पद्धति (**theology**), मानव बुद्धि की कक्षा में न आनेवाली अतिभौतिक और अति मानवी शक्ति में स्थापित श्रद्धा है। हमें चुनाव, भावना और तर्क इनके बीच करना है।

*तर्क की दृष्टि से असुविधाजनक सवाल आते ही कह दिया जाता है कि यह आस्था और विश्वास का मामला है, यहाँ तर्क का कोई काम नहीं।

*विवेक और बुद्धि के आधार पर आलोचना शुरू होते ही अध्यात्म असहिष्णु बन जाता है।

*हमने राम-कृष्ण जैसे कई अवतारों के सामने पूर्ण समर्पण किया लेकिन हिन्दू समाज की विसंगतियां कम नहीं हुईं।

*पूर्व नियोजित प्राक्तन और मनुष्य की स्वतंत्रता -

प्रकृति के अपने नियम हैं। उन्हींके अंतर्गत जीना है लेकिन प्रकृति , साथ ही कई विकल्प प्रस्तुत करती है। यह अंतर्गत द्विधात्मक अन्योन्यक्रिया के माध्यम से ही संभव है। इन विकल्पों में से ही मनुष्य जाती के लिए उपयुक्त विकल्पों का चयन करना , यही मनुष्य की स्वतंत्रता है । अध्यात्म के पूर्वनिर्धारित प्राक्तन के स्थान पर , तर्क के क्षेत्र में प्रवेश करते ही अनिवार्यता का

रूपांतर स्वतंत्रता में हो जाता है, जो मनुष्य को विकास के रास्ते पर ले जाता है। अनिवार्यता का स्वरूप और मर्यादा पहचानना यही स्वतंत्रता है।

नियम ये उनका पालन करने के लिए होते हैं। उनसे पलायन करने के लिए नहीं। व्यवस्था यह नियमों पर आधारित होती है। व्यवस्था स्थापित किये बिना विकास असंभव है। व्यवस्था का आधार हैं नियोजन और नियोजन का आधार हैं तर्क । नियोजन का लक्ष हैं न्यूनतम समय में , न्यूनतम श्रम में, न्यूनतम अपव्यय होते हुए और पुरे उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करते हुए , विकास का लक्ष प्राप्त करना।

निरपेक्ष तत्व का साक्षात्कार

- * कई बार प्रभाव डालने के लिए भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग किया जाता हैं लेकिन उसमें से कोई अर्थ नहीं निकालता।

- * किसी विशेष बात का विशेष दृष्टिकोणसे मूल्याङ्कन सापेक्ष हैं तो सम्पूर्णता का सामान्य दृष्टि से मूल्याङ्कन निरपेक्ष होता है।

- * आध्यात्म शास्त्र एक महान सम्पूर्ण निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व का दावा करता हैं लेकिन उसके लिए उसके पास उसके कथन के अलावा कोई सबूत नहीं हैं। भावना के अभ्यास से, वस्तु न होकर भी , उसका अनुभव या प्रत्यक्ष प्रत्यय की अनुभूति होती है । मानसशास्त्र, विशेष तौर पर मनोविकृति शास्त्रमें इसके कई उदाहरण मिलते हैं । ईश्वर के साक्षात्कार का दावा करनेवाले इसके लिए अपवाद होंगे ऐसा नहीं । उभरनेवाली श्रद्धा, भावनाओं की शक्ति के कारण होती हैं। धार्मिक संस्कार उसे सत्य का दर्जा देने का पूरा प्रयत्न करते हैं।

- * इस भौतिक दुनिया के पार की शक्तियों की कल्पनाओं को दो वर्गों में रखा जा सकता हैं। देव शक्तियां और भूतप्रेत। मनुष्य के सपने में मृत व्यक्ति भी कई बार दिखता है। तो ज्ञान के बहुत ही निम्न स्तर पर इस कल्पना का उदय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मृत्यु के बाद भी मृत व्यक्ति की चेतना का कोई तो अंश बचा और सक्रीय रहता है । आज भी कई क्षेत्रों में आदिवासी और कबीलों की अवस्था में जीवन बिता रहे लोग ईश्वर की कल्पना से कोसों दूर हैं । पूजा-पाठ के नाम पर वे भूत-प्रेतों की ही आराधना करते हैं या उन्हें खुश रखने का प्रयत्न करते हैं, जैसे एक मनुष्य दूसरे को खुश रखने का प्रयत्न करता है । उससे उनके उपरोक्त प्रयत्न कुछ अलग नहीं हैं। निश्चित ही उनकी आराधना का स्वरूप आज की तुलना में अपरिष्कृत है । उनके भूतप्रेतों की शक्तियां भी कम-ज्यादा हैं । उनके इन कर्मकांडों का मार्गदर्शन करनेवाले ओझा या मांत्रिक होते हैं।

वृक्ष, पत्थर, नदी, जानवर आदि वस्तुओं में एक भूत होता है, वैसा ही मनुष्य में भी होता है, यह भ्रान्ति कई जंगली समुदायों में प्रचलित है। इस भ्रान्ति को सर टायलर ने 'पिशाचवाद' या

'मूर्तपुरुषवाद' कहा है। मूर्त वस्तु में पुरुष का वास्तव्य होता है। जिवंत आदमी में भी वह होता है। वह अपना स्थान छोड़कर गया कि आदमी मरता है , ऐसा जंगली समाज में माना जाता है। मृतकों के भूत , मनुष्यों को परेशान कर सकते हैं , ऐसा वे समझते हैं । इसी कारण मृत व्यक्ति सपनों में दिखते हैं , उनकी आत्माएँ दिखती हैं । इन भूत आदि भ्रांतियों की परिष्कृत आवृत्ति अध्यात्मवाद है।

- अलौकिक दिव्य शक्ति की संवेदना प्रत्येक व्यक्ति के अंदर होती ही हैं , ऐसा दावा किया जाता है। लेकिन अगर ऐसा होता तो आध्यात्मिक संकल्पनाओं में भी क्रमिक विकास क्यों दिखाई देता ? सारे इतिहास में प्रत्येक व्यक्ति के मन में उस ईश्वर की एक समान परिष्कृत संवेदना ही उभरनी चाहिए थी।

लेकिन पिशाचवाद के क्रम में आगे हमें टोटमवाद , शामानी रूप फिर प्रकृति से अनुकम्पा के लिए अनुष्ठान, क्रूर स्वरूप की धार्मिक संकल्पनाएँ, दूसरों का बलि देकर अपना भला चाहने की इच्छा, जादू-टोना आदि क्रमिक विकास दिखता है। फिर सुमेरियन देवताओं का मानवीकरण होता हुआ दिखता है। भौतिक उत्पादन की तथा सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ और अलौकिक शक्तियों से सम्बंधित कल्पनाएँ या धार्मिक मान्यताएं एकदूसरे में प्रतिबिंबित होती हुई दिखती हैं। बिल इयूरंत के अनुसार जब समाज में वर्गीय विरोध तीव्र हुए तो मरणोत्तर पुरस्कार की कल्पना सामने आयी। फिर बेबीलोनियन काल में सर्वप्रथम राजा की निरंकुशता को दैवीय मान्यता प्राप्त हुई। यूनान के देवता और कुछ नहीं उदात्तीकृत मनुष्य ही थे । उनमें केवल असीम सौंदर्य और अमरता के गुण थे और फिर भाववाद की अलौकिक शक्ति की कल्पनाएं सामने आती रहीं।

दूसरी ओर इसके विरोधी सोफिस्ट गोरस का शंकावाद भी सामने आया -

एपिक्युरस "सभी धर्म और अंधविश्वास त्याज्य हैं चूँकि ये मानवता को डराते धमकाते हैं।"

अलौकिकता की दहशत से मानव की मुक्तता का प्रयत्न होता है।

- लैंगिकता का हौवा

लैंगिकता यह अन्य शरीरधर्मों की तरह ही एक प्राकृतिक आवश्यकता है। लेकिन अध्यात्म ने आम तौर पर लैंगिकता को एक तिरस्कृत बात के तौर पर ही माना है , एक निषिद्ध तथा पतीत विषय। परिणाम स्वरूप उससे एक ऐसा व्यक्तित्व उभरता है जो कृत्रिम ढंग से लैंगिकता का तिरस्कार करनेवाला दाम्भिक व्यक्तित्व होता है । लैंगिकता तो प्रकृति प्रदान करती है लेकिन धर्म उसके प्रति तिरस्कार की शिक्षा देता है । आज हमारे सामने आनेवाले विकृत प्रवृत्ति के बाबा लोग इसके उदहारण हैं।

शाश्वत जीवन बनाम असहज जीवन

मनुष्य आर्थिक, सामाजिक दायरे में बढ़ते रहता है। उसमें रहते हुए उसे जीने के लिए, मुलभुत भान के साथ, बाह्य भौतिक बातों सम्बन्धी, उसी तरह लैंगिक, भावनिक, मानसिक ऐसी आंतरिक बातों को साथ लेते हुए अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ प्रगति करनी होती है। आम तौर पर इस ध्येय का भान उसे जन्म के साथ नहीं होता। लेकिन अपने जीवन को कुछ ठोस आधार हो, यह अभिलाषा उसे कुछ निश्चित मूल्य ढूँढने में उद्यत करती हैं। इन्हें शाश्वत और चिरंतन मूल्य नाम दिया जाता है। इनकी पूर्ति से मैं सुखी होऊंगा ऐसा उसे लगता है। लेकिन अशाश्वतता तो इस दुनिया का शाश्वत गुण है। मनुष्य ने ढूँढे हुए मूल्य जब प्रकृति के विरुद्ध होते हैं तो उसके सारे प्रयत्न, मानो मृगजल के पीछे भागना होता है। वह तृप्त कभी नहीं होता। इसका भान होने पर वह भौतिक के पार कुछ ढूँढने लगता है, लेकिन उसका मूल उद्देश्य होता है भौतिक पूर्ण सुख का ही। लेकिन इस विरोधाभासी स्थिति में वह भौतिक जीवन भी पूरी तरह जी नहीं सकता। सामान्य जीवन जीने में एक सहजता, सौंदर्य, एक सहज ज्ञान आँखों के सामने रहता है। आस्तिकता मनुष्य पर कई ढंग की विवशताएँ लादती है। विशेष तौर पर कर्मकांड की, अनावश्यक विवशताएँ, जिसमें मनुष्य उलझकर रह जाता है। बचपन से रोज ईश्वर की मूर्ति के सामने हाथ जोड़ने से अगर वास्तव में मनुष्य में 'देवत्व' जागृत हुआ होता तो कई समस्याएँ मुलतः पैदा ही नहीं हुई होतीं।

- अध्यात्म हमें बताता है कि इस दुनिया से अपने मन को अलग कर लो क्योंकि यह जगत अस्थिर है। जो कभी स्थिर होना ही नहीं है, उसमें स्थिरता ढूँढने के प्रयत्न में और स्थिर होने के प्रयत्न में, हम हमेशा अस्थिर बने रहते हैं।

अध्यात्म में सम्प्रदायों की भरमार

एक अनुमान के अनुसार कहिये या दावे के साथ कहिए, दुनिया में लगभग २००० सम्प्रदाय हैं। अर्थात् हर किसीका सत्य अन्यो से अलग है। क्या इसका कारण आध्यात्मिक अनुभूति यह व्यक्तिगत अनुभूति का होना है। वस्तुनिष्ठ तर्क या अनुभव न होने से वस्तुनिष्ठ सत्य की तरह या विज्ञान की तरह यहाँ सिद्धांत एक निश्चित आकार नहीं ले सकता। अभी-अभी तो विज्ञान में गिनने की सूक्ष्मता एक सेकण्ड के एक हजार कोट्यांश के स्तर तक पहुंच गयी है। आध्यात्म के पास कौनसे सटिक परामितक हैं ?

इक्कीसवीं सदी में हम -

१) ज्योतिषियों ने तय किया (राष्ट्रपति के) शपथ ग्रहण का समय । भगवन राम के जन्म लेने का मुहूर्त। (लो .समाचार ता .२४ -७ -२०१७)

२) राष्ट्रीय प्रगत शिक्षा संस्था में ११ से २२ दिसम्बर तक 'विज्ञान, तंत्रज्ञान और समाज' इस विषय पर बहुउद्देशीय प्रशिक्षण कार्यशाला आयोजित थी । उसमें ११ दिसम्बर को 'आधुनिक विज्ञान और प्राचीन भारतीय बुद्धिमत्ता का सत्य' इस विषय पर भाषण देने, पूरी पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निस्चलानन्द सरस्वती आमंत्रित थे । पुराणों के इस उदात्तीकरण के प्रति वैज्ञानिक जगत में आम नाराजी तो थी ही। (दैन.लोकसत्ता ता .९ -१२ -२०१७)

३) पाप के फल (लोकसत्ता २४ -११ -२०१७)

आसाम के आरोग्य मंत्री हेमंत बिस्वसर्मा का राज्य शिक्षक परिषद् में वक्तव्य -

"कर्करोग, अपघाती मृत्यु ये पिछले जनम के पाप का फल होता हैं।"

४) राजस्थान के शिक्षा मंत्री वासुदेव देवनानी : अक्षय पात्र फाउंडेशन की ओर से हिंगोनिया गाय पुनर्वास केंद्र में आयोजित कार्यक्रम में -

अ) गाय एकमात्र पशु हैं , जो श्वास से ऑक्सीजन अंदर लेता हैं और निःश्वास में ऑक्सीजन ही बहार छोड़ता हैं। मेरा बयान वैज्ञानिक शोध पत्रों पर आधारित हैं।

ब) गोमूत्र और गोबर पर कई तरह के शोध किए गए हैं । इनसे पता चलता हैं कि , इनके कारण विकिरण से भी बचाव होता है।

क) गोबर जलने से पर्यावरण शुद्ध होता हैं और वह नुकसानदायी किटाणुओं को भी नष्ट करता हैं। (लो .समाचार ता .१७ -१ -२०१८)

५) गुरु का नाम जपने से रोग दूर होते हैं -मान्यवर माधोदास ममतानी (लो .समाचार - २३-१२-२०१७ -नागपुर समाचार ता .२२ -१२ -२०१७)

६) नागपुर के रेशिमबाग मैदान में धर्म-संस्कृति महाकुम्भ का आयोजन होता है। उसमें २५ दिसंबर २०१६ को ज्योतिष पीठ के शंकराचार्य स्वामी वासुदेवानंद स रस्वती, हिन्दुओं से आवाहन करते हैं कि प्रत्येक हिन्दू, कम से कम १० बच्चे पैदा करें । उनके ललन-पालन का दायित्व ईश्वर पर छोड़ दें।

७) गुजरात के शिक्षा मंत्री , तांत्रिकों के सम्मलेन में हिस्सा लेते हैं और अपने कृति को उचित भी ठहराते हैं।

८) लोकमानस : लोकसत्ता -१४-२-२०१७ में, उससे पहले आए एक पत्र की प्रतिक्रिया स्वरूप निम्न मायनेवाला एक पत्र छपा हैं । उसका अनुवाद - "लाखों को पोसनेवाली श्रद्धा ही हैं

,खगोलशास्त्र नहीं। श्रद्धा को भले ही आकाश में स्थित खगोलशास्त्रीय दूरबीन से देखो तो भी जमीन पर खुली आँखों से दिखनेवाले भांप में पकाए हुए मोदक , मावा के मोदक, पेढे, हार, दूर्वा, फूल, अगरबतियां, मंदिर के सामने के उपहारगृह, खाने-पीनेकी टपरियां , रिक्शा-टैक्सी, पैसे लेकर जूते-चप्पल सँभालने वाले , स्वयंसेवक, कैशलेस के दिनों में गणपति के सामने की पेटी में एकत्र होनेवाले करोड़ों रुपए , गणपति का रक्षक पुजारी आदि दिखेंगे । इतनों की रोजी-रोटी की समस्या कैसी सुलझाई जाए , यह बताने पत्र लेखक शायद भूल गए हों । भारत में बहुत कम लोगों को समझ में आनेवाला खगोल विज्ञान नहीं तो लाखों का भरणपोषण करनेवाली यह 'श्रद्धा' समाज में पोषित होनी चाहिए, यह पत्र-लेखक को बताना आवश्यक है।”

उपरोक्त वर्णन से ही पता चलता है कि मूर्तिपूजा एक व्यापार है , बिना पूंजी का , बिना श्रम का, इतनाही नहीं तो बिना उत्तरदाइत्व का। यहाँ इन सब बातों से मुक्ति है। केवल मुनाफा ही मुनाफा। लेकिन मुट्ठीभर लोगों के लिए। इसलिए जिनकी स्वार्थसिद्धि होती है वे तो उपरोक्त ढंग का तर्क देंगे ही। बाकि बहुसंख्य लोगों के हिस्से में तो अन्धविश्वास और परिणामी शोषण ही है।

क्या हम इस सारे व्यापार के सहारे जीवनयापन करनेवाले लोगों को और अधिक सन्माननीय और तार्किक जीवनयापन के साधन नहीं दे सकते ? उपरोक्त तर्क के आधार पर क्या यह सारा प्रपंच चालू रखना आवश्यक है ? आज ऐसे और कई व्यवसाय हैं जो गरिमामय नहीं हैं। इतना ही नहीं तो मानवता पर धब्बा है । फिर भी लाखों लोग उनके सहारे जीने के लिए मजबूर हैं। तो क्या उन व्यवसायों का भी समर्थन किया जा सकता है ?

अध्यात्म की सकारात्मक भूमिका

भूतकाल में ज्ञान की कमी के कारण ऐसी कल्पनाएं की गयीं, जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। यह बात ज्ञान वृद्धि के साथ साफ होती गई । इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।लेकिन जो बातें गलत सिद्ध हुईं या जिन बातों की वास्तवता हजारों सालों के बाद भी स्थापित नहीं हो सकी उसे भी हम आज छाती से चिपकाए बैठे हैं । इतिहास में अध्यात्म ने भी उस-उस समय सकारात्मक भूमिका निभाई है। अध्यात्म के कारण कई गलत बातें हुई हैं, फिर भी इस दायरे के हर व्यक्ति को अप्रमाणिक कहने की मंशा नहीं है।

अंतिम तत्व या अंतिम सत्य क्या है , इस सम्बन्ध में भिन्न -भिन्न धर्मों में कितनी ही मत भिन्नताएं क्यों न हो लेकिन फिर भी लगभग सभीने निम्न महत्त्वपूर्ण कार्यों को अंजाम दिया है -

बौद्धिक स्तर पर-अपने परिसर के आनेवाले प्रत्यक्ष अनुभव का अर्थ ढूंढने में सहायता हों इसके लिए सन्दर्भ-चौखट प्रदान करना।

मानसिक स्तर पर -असमंजस की स्थिति में या दूःख की स्थिति में सांत्वना प्रदान करने का कार्य। यह किसी समय मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी।

नैतिक स्तर पर, जीवन में भिन्न-भिन्न प्रसंग में क्या करें या न करें यह समझने के लिए और इस आधार पर स्वयं का और दूसरों का व्यवहार ठीक है या नहीं , ग्राह्य है या नहीं यह निश्चित करने के लिए, तत्कालीन नैतिकता के लिए सन्दर्भ-चौखट प्रदान करना। आदर्श आचार के लिए सन्दर्भ-चौखट।

लेकिन आज उपरोक्त कार्यपूर्ति करने वाले डझनों विज्ञानशास्त्र वास्तवता की नींव पर बने हुए हैं। अतः अब इस प्रकृति से पार की किन्हीं संकल्पनाओं की क्या आवश्यकता है ?

धर्म की इस भूमिका को स्वयं मार्क्स ने भी स्वीकार किया है । लेकिन इसका उल्लेख न करते हुए उनके केवल निम्न वाक्य को ही , उन्हें धर्म का घोर शत्रु के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उद्धृत किया जाता है - "धर्म लोगों के लिए अफीम की तरह है ।" वास्तव में मार्क्स का पूरा कथन इस प्रकार है -

"धार्मिकपीड़ा, असल पीड़ा की अभिव्यक्ति भी है और इस पीड़ा के खिलाफ प्रतिरोध भी । धर्म सताए जीवों की आह है , हृदयहीन दुनिया का हृदय है और अंतरात्मा रहित स्थितियों की आत्मा है। वह लोगों के लिए अफीम है।"

मिथून शिल्पे

भारत में मिथून शिल्प या काम शिल्प होनेवाले १४ मंदिर हैं । इनमें खजुराओ और कोणार्क का सूर्य मंदिर, विशेष प्रसिद्ध हैं।

आध्यात्मिक ज्ञान का एक नमूना

सत्संग मंडल के तत्वावधान में जलाराम प्रार्थना भवन , क्वेटा कॉलोनी (नागपुर) में पितृमोक्षार्थ सामूहिक श्रीपद भागवत का महापुराण ज्ञानयज्ञ सप्ताह का आयोजन किया गया था । इस दौरान ऋषि ---ने बताया कि , पितृमोक्ष का योग लगता है , तब सभी पाप थर्रा उठते हैं , कि यह पितृमोक्ष कथा हम सभी का जल्दी ही अंत कर देगी । आगे बताया कि पितृमोक्ष कथा प्रेतपीड़ा को नष्ट करनेवाली है।

ज्ञानयज्ञ से कुछ ज्ञान पल्ले पड़ा ? -----(लो .स .२९ -९ -२०१८)

ईश्वर

भारत के अध्यात्मवादियों का यह दावा है कि धर्मदर्शनों का उद्भव सर्वप्रथम भारत में ही हुआ है। अतः धर्मदर्शन तथा उसका उद्देश्य जो ईश्वर इस संकल्पना का जनकत्व भी भारत के खाते में ही आता है। ईश्वर इस संकल्पना का उद्भव और विकास वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। अतः वैदिक धर्म ही ईश्वर की संकल्पना का मूल तथा प्रधान स्रोत है। वेद ही वैदिक धर्म की प्रथम एवं मूल अभिव्यक्ति है। वेद को अपौरुषेय बताया गया है, अर्थात् ईश्वर प्रणीत। तो फिर वेद है इसलिए ईश्वर और ईश्वर है इसलिए अंतिम सत्य वेद है।

नास्तिक मत है कि सृष्टि स्वभाव से बन गई। इसको बनानेवाला कोई नहीं है। यह अनादि काल से बनती-बिगड़ती आ रही है। प्रकृति स्वयं ही सृष्टि का कारण है।

आस्तिक मत है कि सृष्टि की रचना एक ज्ञानमयी सत्ता द्वारा हुई है और किसी प्रयोजन सिद्धि के लिए हुई है। प्रयोजन है जीव के कर्मों की व्यवस्था, दुःख से अत्यन्त मुक्ति का अवसर।

जो अपनेको पुराने वैदिक परंपरा का वंशज मानते हैं, उनकी दृष्टि में प्रकृति, जीव, ईश्वर तीनों नित्य हैं। उसमें जीवात्मा जो चेतन है लेकिन अल्पज्ञ है, उसे आवश्यकता है प्रकृति से सुख और ईश्वर से ज्ञान और मोक्ष लाभ की। ईश्वर अगर सर्वज्ञ है तो उससे अलग बताने के लिए जीवात्मा को चेतन बताते हुए भी अल्पज्ञ बताना आवश्यक है।

दर्शन की एक विचारधारा है जो केवल विचार को एक मात्र सत्य मानती है, बिना किसी भौतिक आधार के, इस भौतिक जगत के पार कहीं। उसे वह ईश्वर या परम विचार के नाम से प्रस्तुत करती है। इस धारा को प्रत्ययवाद या आदर्शवाद कहते हैं।

हमारे सामने सुन्दर सृष्टि है। नियमों के अंतर्गत जिसका प्रवाह चल रहा है। हम उसीके हिस्से हैं। भौतिकवाद तो इसी सृष्टि को सर्वोच्च सत्य मानता है। लेकिन आध्यात्मवाद इस सारे प्रपंच को ईश्वर मानने के स्थान पर, सर्वोच्च सत्य को उसके पार कहीं ढूँढने निकल पड़ता है।

सृष्टि की सकारात्मकता को ही आप ईश्वर क्यों नहीं मान सकते ? चाहे आप उसे नाम कुछ भी दें। उसके स्थान पर सृष्टि, प्रकृति से पार उसे ढूँढने निकलोगे तो फिर आपको किसी तो स्तर पर नकारात्मकता का सहारा लेना पड़ता है और विरोधाभास पैदा होते हैं।

आध्यात्मवादियों को लगता है कि जड़ वस्तु की गतिविधियां स्वयमेव, बिना किसी चेतन की सहायता के कैसे हो सकती हैं ? प्रकृति में गतिविधियां नियम और नियंत्रण से चलती हैं लेकिन बिना नियंता के नियम कैसे ? और जड़ और चेतन में कुछ तो अंतर होना चाहिए।

विद्वान् ऐसा मानते हैं कि एक ईश्वर को माननेवाले या एकेश्वरवादी धर्म अधिक कट्टर रहे हैं। उन्होंने मानवता को बड़ी-बड़ी चोटें पहुंचाई हैं । मानव धरोहरों को नष्ट किया है । जबकि बहुदेववादी धर्म तौलनिक दृष्टि से अधिक उदार और सहिष्णु रहें हैं । उन्होंने मानव संस्कृति को आगे बढ़ाने में अपना योगदान दिया है।

ईश्वर का स्वरूप-

ईश्वर अनादि, निराकार, दयालु, अविनाशी, अजन्मा, अनंत, अनुपम, अतुल्य, परमैश्वर्यमान, सर्वनियन्ता ,सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, सबमें महान, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण, जगत का रचियता, पालक, संहारक, जीवों के कर्मों का फलदाता , सबसुखदाता, स्वप्रकाशयुक्त, दुष्ट विनाशक, सज्जन रक्षक, सब प्रकाशकों का प्रकाशक ,शीघ्रकारी, न्यायकारी, पूर्ण, पवित्र, निष्काम, सर्वोत्तम, सबसे बड़ा -----आदि-आदि----- (डॉ.वेदप्रकाश,मेरठ: वेदों में ईश्वर तत्त्व: ईश्वर कल्पना या यथार्थ)

मनुष्य के दिमाग में जिन-जिन गुणों की और उनके लिए जिन-जिन शब्दों की कल्पना हो सकती है उन सभीको ईश्वर के साथ चिपका दिया गया है । दुनियां की भिन्न-भिन्न भाषाओं में गुणों के लिए विद्यमान शब्दों का संकलन करें तो शायद एक स्वतंत्र शब्दकोश तैयार हो । अर्थात् इनमें कितने तो एकदूसरे के विरोधाभासी गुण हो सकते हैं । लेकिन ऐसी स्थिति के लिए तर्क करने का कोई अर्थ नहीं। और तो और वह सगुण भी है और निर्गुण भी। अर्थात् गुणी की पहचान के लिए गुण तो लगेंगे ही। यहाँ भी विरोधाभास ही विरोधाभास मिलेगा।

ईश्वर सगुण है या निर्गुण यह अध्यात्म में विवाद का विषय है। इसकी कारण मीमांसा फिर इस प्रकार दी जाती है । ज्ञान, शक्ति, आनंद इन गुणों से सहित होने से वह सगुण है , पर जड़ गुण उसमें नहीं हैं । इन गुणों के अभाव के कारण वह निर्गुण है । कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो केवल सगुण हो या, निर्गुण हो। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित होने से और विरोधी गुणों से रहित होने से सभी पदार्थ सगुण भी हैं और निर्गुण भी।

ईश्वर, किसी को ज्ञान रूप लगा तो वह ज्ञानयोग की ओर मुड़ा। किसीको उसमें प्रेम ही प्रेम दिखा तो भक्तिमार्ग का अवतरण हुआ। किसी को उसके पास जाने का रास्ता कर्म में दिखाई दिया तो वह कर्मयोगी बन गया । किसीको उसमें रहस्य ही रहस्य अनुभव हुआ तो वह रहस्य साधना में लीन हो गया। किसीके के लिए वह पुरुष है तो किसीके लिए स्त्री।

लेकिन ये सारी अनुभूतियाँ आपके मन की हैं । मनुष्य, ईश्वर की मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है तो वह सुख का अनुभव करता है । वह उपासक के मन की अपनी मनोदशा होती है और इस मनोदशा की उत्पत्ति आजुबाजु के भौतिक वातावरण के कारण होती है। अस्तित्व के पार के किसी रहस्यात्मक शक्ति की अनुकम्पा के कारण नहीं।

ईश्वर अस्तित्व के लिए तर्क-

इस समय विश्व में लगभग तीन सौ धार्मिक विचारधाराएं हैं जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करती हैं । (डॉ. विनय विद्यालंकार : एसोसिएट प्रोफेसर , संस्कृत विभाग , स्नातकोत्तर महाविद्यालय नैनीताल : सृष्टिकर्ता ईश्वर : ईश्वर कल्पना या यथार्थ)

अन्य विद्वानों के विचारों को माने और अगर उपसम्प्रदायों का विचार हो तो इनकी संख्या दो हजार तक पहुंच सकती है।

ईश्वर को माननेवालों के उसके अस्तित्व के विषय में जो तर्क हैं वे इस प्रकार -

- ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए यह एक ही प्रमाण पर्याप्त है कि धरती के विभिन्न भूभागों में, जिनका आपस में सम्बन्ध और संपर्क नहीं था जैसे भारत , अरब, चाइना या रशिया आदि इन सभी स्थानों में स्थापन होने वाले धर्मों में ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना का पाया जाना, यह सिद्ध करता है कि यह ज्ञान उन धर्मों के प्रणेताओं को स्वयं ईश्वर ने ही प्रदान किया है।

इसपर यह कहा जा सकता है कि अपनी आजुबाजु की सृष्टि के विषय में अज्ञान के कारण मनुष्य ऐसी घटनाओं के कारण, कल्पनाओं में दूँढते हुए, इस सृष्टि से पार की किसी शक्ति की कल्पना करता रहा और अगर ईश्वर ने ही अपने अस्तित्व का ज्ञान धर्मों के प्रणेताओं को दिया तो उसमें एकवाक्यता क्यों नहीं ? इनमें विविधता ही नहीं तो विरोधाभास क्यों है ? ईश्वर ने स्वयं ही अपने प्रति , भक्तों की बुद्धि में इतना बुद्धिभेद क्यों उत्पन्न कर दिया ? इसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि ये मत वास्तवता पर आधारित नहीं , तो शुद्ध काल्पनिक हैं ?

- ईश्वर है या नहीं , यह प्रश्न ही सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि ईश्वर का अस्तित्व है । अन्यथा सैकड़ों-हजारों वर्षों से यह प्रश्न ही जीवित नहीं रहता।

अनीश्वरवाद के विचार भी सैकड़ों-हजारों वर्षों से अस्तित्व में हैं । उनके लिए भी यही तर्क उपयोग में लाया जा सकता है।

- ईश्वर को माननेवालों की बहुलता है। केवल इस तर्क के आधार पर कल्पना , वास्तवता में नहीं बदल जाती। भूतकाल में सभी मानते थे कि पृथ्वी चपटी है या किसी शेषनाग पर स्थित है। लेकिन वह कल्पना बहुमत के कारण वास्तवता में नहीं बदल गई।

कई मानवी समाजों में 'ईश्वर' के लिए निर्देश करनेवाला शब्द ही नहीं था , ऐसा मानववंश शास्त्र बताता है। आर्थर कोसलर के अनुसार (लोटस एंड द रोबोट , पृष्ठ २३२) जे सुईटी मिशनरी जब जापान पहुंचे तबतक वहां 'ईश्वर' के लिए समानार्थी शब्द ही नहीं था।

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण-

(आस्तिकवाद -अध्याय -१० पृष्ठ २७५ - पंडित उपाध्याय)

किसी वस्तु या बात को सिद्ध करने का दायित्व उसका होता है जो अस्तित्व का दावा करता है। लेकिन आगे ईश्वरवाद के अनुसार ही - ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता -

प्रत्यक्ष प्रमाण : सभी आस्तिक मानते हैं कि 'ईश्वर' 'इन्द्रियों का विषय नहीं है' । इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो ही नहीं सकती।

अनुमान प्रमाण : अनुमान के लिए एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य का किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः उसका अनुमान भी नहीं हो सकता।

उपमान प्रमाण : उपमान प्रमाण के लिए भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता है । प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्ध नहीं तो उपमान प्रमाण भी काम का नहीं।

आस प्रमाण : आस को शब्द है उपदेश । तो यह भी प्रत्यक्ष के ही आश्रय पर ही है । तो फिर इस प्रमाण की भी उपयोगिता क्या है ?

अब बिना प्रमाण के ईश्वर के अस्तित्व को मानना कहा की बुद्धिमत्ता है ?

लेकिन पृष्ठ २८१ पर कहा गया है -

"परन्तु इसमें संदेह नहीं कि शुद्ध आत्माओं को ईश्वर का इसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है जैसे हम अपने पास खड़े हमारे माता - पिता का प्रत्यक्ष करते हैं।"

इस विरोधाभास का विश्लेषण कैसा करेंगे?

- जब कोई कहता है कि प्रत्यक्ष बताओं कि ईश्वर है । इससे काम नहीं चलेगा कि दूध है इसलिए मान लो कि गाय होनी ही चाहिए । तो याज्ञवल्क्य से उत्तर मिलता है कि इसे इदं-इत्थं रूप में नहीं बताया जा सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं है । उसके जैसी कोई अन्य वस्तु भी न होने से तुलना भी संभव नहीं । अतः जो भी उससे भिन्न है उसे बताया जा सकता है कि यह ईश्वर नहीं है। इसलिए उपनिषद् कहते हैं-नेति-नेति-'यह ऐसा नहीं है,यह वैसा नहीं है।'

अर्थात् जिस बात को समझने के लिए नकारात्मक प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है , उसका भक्त बनने से कौन से सकारात्मकता की अपेक्षा रखी जा सकती है ?

स्वामी रामतीर्थ के अमेरीका में दिए एक प्रवचन के दरम्यान एक श्रोता ने पूछे इस प्रश्न के उत्तर में कि आप जिस ईश्वर की चर्चा करते हैं , तो वह है क्या ? स्वामीजी का उत्तर था , "ईश्वर एक रहस्य है।"

जो एक रहस्य है, उसकी वास्तवता के विषय में तुम इतने दावे से कैसे कह सकते हो ?

- अर्थात् बात वहीं आकर रुकती है कि पत्थर को भी मानों तो 'ईश्वर' है नहीं तो पत्थर है। याने उसकी वास्तवता है कि वह पत्थर ही है। जहाँ तक 'ईश्वर' के होने की वास्तवता का सम्बन्ध है, वह हमारे मानने की बात है, वास्तवता की नहीं।

'ईश्वर' है यह सिद्ध नहीं हुआ फिर भी उसका होना , हमारे मानने पर निर्भर है। 'मानने' और वास्तवता में बहुत अंतर है। 'वास्तवता' का तुम्हारे जीवन पर बड़ा असर हो सकता है, तो तुम्हारे मानने की तुम्हारे जीवन के साथ बहुत सिमित उपयोगिता हो सकती है। वास्तवता को तो सभीको मानना पड़ेगा। वह बाध्यता हो जाती है। जहाँ तक मानने का सम्बन्ध है आप कुछ भी मान सकते हैं। अन्यो के लिए उसकी बाध्यता नहीं हो सकती |जो जिसको चाहे भगवान मान सकता है।

जितने लोगों का ईश्वर पर विश्वास है , उनमें से कितनों को ईश्वर की अनुभूति होती है । किसी आस्तिक व्यक्ति से पूछिए , तुझे ईश्वर की अनुभूति हुई , का अर्थ क्या हुआ ? वह शांति मिलने, किसी दूःखद परिस्थितियों में हिम्मत आने या कोई अनअपेक्षित सहायता मिलने की संयोगजन्य घटनाओं को सुनाने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं बता पाएगा । और ये मनःस्थितियां पैदा होने में आजुबाजु की भौतिक परिस्थितियों का हाथ होता है।

अब प्रश्न उभरता है कि अगर इस भक्त की ईश्वर पर इतनी श्रद्धा थी और ईश्वर की उसपर इतनी कृपादृष्टि थी तो उसपर फिर संकट आया ही क्यों?

- बहुतसे रहस्यवादियों का कहना है कि परमात्मा का अस्तित्व तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता लेकिन उन्होंने अपनी आखों से उसे देखा है या अनुभव किया है । लेकिन ऐसी व्यक्तिगत दिमागी तरंगें ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ हैं । होनेवाला अनुभव भावनाओं की तीव्रता के कारण, निरंतर ध्यास के कारण, या गहन श्रद्धा के कारण हो सकता है। उससे इस जगत के पार का कोई अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

वेद प्रामाण्य माननेवाले छह आस्तिक दर्शनों की स्थिति -

शुरू के सांख्य में ईश्वर का नाम नहीं मिलता।

शुरू के न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी ईश्वर का समर्थन नहीं मिलता लेकिन उत्तरोत्तर न्याय-वैशेषिक उसे सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लेते हुए तर्क का सहारा आवश्यक समझते हैं। न्याय दर्शन ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मनाता है, उपादान कारण नहीं।

ईश्वर का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन योग दर्शन में मिलता है। लेकिन उसमें भी कहा गया है कि जहाँ ज्ञान समाप्त होता है , वहाँ ईश्वर की सीमा शुरू होती है 'तत्र निरतिशयम सर्वज्ञ बीजं '।

इसका सीधा अर्थ आप क्या लेंगे-जबतक अज्ञान है तब तक ईश्वर भी रहेगा | अर्थात् 'ईश्वर' संकल्पना 'का सीधा सम्बन्ध अज्ञान से है।

मीमांसक भी सिद्ध करके बताते हैं कि तर्क के आधार पर ईश्वर को स्थिर नहीं किया जा सकता |

वास्तव अर्थ में ईश्वरवादी परंपरा में केवल वेदांती है | उनके लिए जग है ही नहीं | है तो केवल ब्रह्म और उसे सिद्ध करने केवल शब्द-प्रमाण काफी है | उनकी दृष्टि में ईश्वर जगत का निमित्त कारण है , उपादान कारण नहीं और ब्रह्म तो अज्ञेय है ही | फिर बचता क्या है ? यदि वस्तुतः जगत भ्रम है तो , एक तो तुम्हें उससे उदाहरण या दृष्टांत लेने का अधिकार ही नहीं है | लेकिन शंकराचार्य से लेकर सभी भ्रमवादी अपने सिद्धांतों की सिद्धि के लिए इसी मिथ्या जगत से उदाहरण लेते हैं | आखिर आप जाओगे कहाँ , जीना भी यहाँ , मरना भी यहाँ | जगत को भ्रम मानकर क्या कोई एक कदम भी आगे बढ़ सकता है ? समस्त ज्ञान, जीवन के लिए आवश्यक कार्य इनका आधार हमारी इन्द्रियां ही हैं और यह सृष्टि ही है। उनपर विश्वास रखना स्वाभाविक है और आवश्यक भी। अगर ये साधन नहीं है तो इनसे अलग कौनसा साधन है जिसके सहारे तुम मुक्ति पा सकोगे? अगर हम ही ब्रह्म हैं तो फिर हम भटक क्यों रहे हैं ? मेरे सिवाय कोई और है ही नहीं, तो मैं किसे पाना चाहता हूँ ? मुझे दुःख किसके कारण हो रहा है ? अगर संसार भ्रम है और मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् निर्भात हूँ तो मुझमें भ्रम कहाँ से आया और क्यों आया ? आदि प्रश्न तो सामने आएंगे ही।

अर्थात् भारतीय चिंतन परम्परा में भी कोई भी दर्शन निर्विवाद रूप से 'ईश्वर' का अस्तित्व स्थापित नहीं कर सका।

सृष्टि निर्माण का प्रश्न -

यह आम मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु को बनानेवाला होता है। इसलिए सृष्टि को बनानेवाला भी कोई होना चाहिए जो इस सृष्टि के बाहर होना चाहिए | लेकिन यही तर्क ईश्वर पर भी लागू करना होगा और प्रश्नों की एक लम्बी श्रृंखला सामने आएगी।

ईश्वर को सृष्टि का आद्य कारण मान्य करने के बाद प्रश्न सामने आएगा कि वह उपादान - सामग्री- कारण है या निमित्त्य कारण। यह प्रश्न ईश्वर विश्वासी व्यक्ति के लिए परेशानी का कारण बनता है। इसलिए अधिकतर उसे उपादान कारण नहीं मानते।

जो लोग केवल ईश्वर को ही नित्य मानते हैं, उनके लिए सबसे कठिन समस्या यह है कि वे ईश्वर सत्ता के लिए, सृष्टि उत्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं बता सकते। यदि कहें, ईश्वर को ही सृष्टि की आवश्यकता थी तो जिसको किसी चीज की आवश्यकता होती है , वह अपूर्ण होता है | यदि

दूसरे के लिए बनाई तो दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिए फिर ईश्वर और सृष्टि दोनों को आदि माना जाता है।

प्रकृति और ईश्वर दोनों को अनादि मान लेते हैं तो साफ है, दोनों एकदूसरे से अलग हो जाते हैं। तो फिर प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर ने पदार्थ का निर्माण नहीं किया तो निश्चित है कि पदार्थ का निर्माण किसी और प्रकार से हुआ होगा। जिसके बारे में शायद ईश्वर को भी नहीं मालूम। तो फिर ईश्वर के अलौकिक गुणों का क्या होगा ? सृष्टि तो चल रही है फिर अलग ईश्वर की हम सृष्टि के लिए क्या उपयोगिता?

कई मतानुयाई, विशेषतः मुस्लिम और ईसाई इनके अनुसार ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति शून्य या अभाव से की है। उससे पहले कोई दुनिया नहीं थी। उसने केवल इच्छा की और सब कुछ बन गया। लेकिन शून्य से सृष्टि का बनना तार्किक नहीं। अब यदि वर्तमान सृष्टि ही ईश्वर की पहली सृष्टि है तो ईश्वर को कहां से प्रेरणा मिली या उसे आवश्यकता अनुभव हुई, इसे उत्पन्न करने की।

फिर एक मत है कि ईश्वर वह सत्ता है जो जीव और प्रकृति को संसार रूप में परिवर्तित करती है। परिवर्तित होने के पहले वे क्या थे?

स्वयं ईश्वर का उत्पन्न होना मनुष्य के मष्तिष्क के लिए अनाकलनीय है। ईश्वर अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो अन्य चीजें क्यों नहीं ? और ईश्वर उत्पन्न नहीं, अनादि है तो अन्य चीजें वैसी क्यों नहीं हो सकतीं ?

ईश्वर सांत है या अनंत -

सृष्टि सांत है अतः उसका रचियता भी सांत होना चाहिए। जिसकी क्रिया सांत है वह अनंत कैसे हो सकता है? अध्यात्म इसका उत्तर इस तरह देता है-जो सांत है वह अनंत क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता लेकिन जो अनंत है उसके लिए सांत क्रिया उत्पन्न करना असंभव नहीं। वस्तुतः ईश्वर की सृष्टि सांत नहीं अनंत है, देश और काल दोनों दृष्टि से, एक प्रवाह के तौर पर। केवल हमें वह सांत दिखती है।

ईश्वर साकार है या निराकार -

साकार कहने पर उसे दिखाने का आग्रह हो सकता है तो फिर उसे निराकार मान लें, दिखाने के झंझट से मुक्ति। दूसरी बात यह है कि वह साकार होगा तो व्यापक नहीं हो सकता। सर्वव्यापक नहीं होगा तो सर्वज्ञ भी नहीं होगा। यदि वह साकार होगा तो उसे आकार देनेवाला कोई होगा। इस कारण स्वामी दयानन्द उसे निराकार मानते हैं।

ईश्वर -सर्वशक्तिमान -

ईश्वर सर्वशक्तिमान है इसका अर्थ क्या है ? इसके लिए भी भिन्न-भिन्न मतों का अपना-अपना स्पष्टीकरण है। कुछ को लगता है, ईश्वर को नियमों के अनुसार चलनेवाला बताने से वह सर्वशक्तिमान नहीं रहेगा। अगर ईश्वर सारे विश्व के नियम निर्धारित करता है तो वह भी किन्हीं नियमों के अधीन है या नहीं ? या वह सारे नियमों से पुरी तरह मुक्त है ? ऐसी स्थिति को तो अराजक ही कहा जायेगा। अगर हैं तो वे क्या हैं और उन्हें किसने बनाया?

ईश्वर ने अपने नाम पर इतना खून-खराबा होने दिया । इससे दुनिया को बचाने वह नहीं आया। क्या यही उसके न होने का प्रमाण नहीं है? मनुष्य जाति के इतिहास में ईश्वर के नाम पर जितने युद्ध लड़े गए उतने किसी और कारण से नहीं, तो फिर आप एक तटस्थ के रूप में ईश्वर और धर्म को एक सृजनात्मक शक्ति कहेंगे या विनाशकारी।

एक तरफ आप कहते हैं कि प्रत्येक इंसान के मन में परमात्मा निवास करता है । वही इंसान को काम करने की प्रेरणा, शक्ति और साहस देता है। चोर, व्यभिचारी, धोखेबाजों के दिल में अगर वही ईश्वर हैं तो क्या इन बातों के लिए भी वही प्रेरणा देता हैं?

कभी ईश्वर का काम पापियों का निर्दालन बताया जाता हैं तो कभी कहा जाता हैं कि ईश्वर धरती पर पापियों के उद्धार के लिए अवतरित होता हैं। तो भाईसाहब पापी पैदा ही क्यों होने दिए, वैसे ईश्वर तो कुछ भी करने के लिए समर्थ है। इसके प्रति दृष्टि साफ क्यों नहीं है?

दुनिया के मुकाबले हमारे देश में सर्वाधिक ईश्वर पैदा हुए, फिर भी हमारा देश, अन्य कई देशों से पीछे क्यों है?

ईश्वर के विषय में एक बात महत्पूर्ण है, वह है उसकी आराधना। अगर आपके ही कथन के अनुसार सारी चीजें पूर्वनियोजित, ईश्वर की योजना के अनुसार हो रही हैं, तो आराधना या भक्ति से क्या आप ईश्वर की योजना में, उसे बदलने की दृष्टि से दखल नहीं दे रहें ? सृष्टि के नियम बदलने के लिए आप ईश्वर को विवश नहीं कर रहें ? क्या आपको इसका अधिकार है ? क्या ईश्वर ऐसा कर देगा?

जीवन अपनी गति से पहले भी चलता रहा होगा । फिर ईश्वर की आवश्यकता क्यों आ खड़ी हुई ? और मनुष्य को ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? यह बताया गया कि उसका अनुभव हमारे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं लिया जा सकता। उसके लिए आपका ईश्वर पर विश्वास होना आवश्यक है। अधिकतर उसे गूढ़ और अचिन्त्य मानते हैं । और इस वस्तुस्थिति के कारण उसके अस्तित्व के विषय में संदेह भी उत्पन्न हुए। जब मन में सख्त विश्वास रखते हुए ईश्वर का विचार मन में लाएंगे तो आपके मनचक्षु के सामने कुछ तो उभरेगा, और उसे आप अपना मोक्षदाता मान लेंगे। लेकिन इससे उसकी वास्तवता स्थापित नहीं होती।

ईश्वर की खोज नहीं की गई , उसे गढ़ा गया। यदि विश्वास ही उसके अस्तित्व का आधार है तो वह बहुत खोखला है चूँकि कई विश्वास असत्य सिद्ध हुए हैं।

वैज्ञानिक ढंग से जांचे-परखें गए और प्राप्त किए गए निष्कर्षों में महद अंतर नहीं होता । यदि ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में होता तो उसके बारे में लोगों की धारणाएं इतनी भिन्न ही नहीं तो परस्पर विरोधी नहीं होतीं। हाँ, उपरोक्त धारणाओं को स्थापित करने के प्रयत्न में शब्दछल का जखीरा आपको जरूर मिलेगा । इतनाही नहीं तो कई आस्तिकवादी मत एकदूसरे को शाब्दिक तर्कों के सहारे बड़े बेरहमी से काटते हैं।

ईश्वरवादियों का एक तर्क यह है कि संसार की सारी वस्तुएं गतिमय अवस्था में हैं।

इस परिवर्तनशील संसार को स्थिर रखने के लिए एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जो स्वयं स्थिर हो। गतिशील होने के लिए अगतिशील आधार जरूरी है। अन्यथा गति असंभव है और किसी भी तत्व में परस्पर विरोधी गुण नहीं होते। ये शुद्ध अध्यात्मवादी सोच है।

लेकिन आज के ज्ञान के परिप्रेक्ष में यह स्थापित है कि पूरे ब्रह्माण्ड में कुछ भी निरपेक्ष दृष्टि से स्थिर नहीं है । गति या विकास के लिए , प्रत्येक वस्तु में द्वंद्वात्मक शक्तियां अंतर्भूत रहती हैं और करोड़ों सालों से संसार की सारी वस्तुएं गतिमय होते हुए भी व्यवस्थित चल रही हैं। तो फिर किसी निरपेक्ष स्थिर तत्व की खोज निरर्थक है।

अध्यात्म के अनुसार पृथ्वी पर जीवन के लिए कई अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है और इन सबका आपस में तालमेल और उचित सम्बन्ध बनाए रखना यह कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती। उसके लिए किसी नियंत्रक की जरूरी है ही।

यहाँ यह वास्तवता ध्यान में लेनी चाहिए कि वैज्ञानिकों ने आजतक हमारी सूर्यमाला के बाहर लगभग चार हजार से अधिक ग्रह ढूँढ निकाले हैं लेकिन उनमें से केवल इनेगिने ग्रहों पर ही जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियां हो सकती हैं । अर्थात् कोई जीवन के अनुकूल परिस्थितियां बनाता है और फिर वहां जीवन पैदा करता है ऐसा नहीं, तो जहाँ जीवन के अनुकूल स्थितियां बन जाती हैं वहां जीवन पैदा होता है।

अगर दुःख का और उस कारण मिलनेवाली यातनाओं का कारण ईश्वर से कुछ अन्य है तो फिर दुनिया की सभी बातों के लिए भी कारण कुछ अलग होगा।

क्या सभी आस्तिक सुखी हैं और सभी नास्तिक दुःखी हैं?

ईश्वर से कुछ माँगा जाता है । लेकिन कितने लोगों की इच्छा पूरी होती है ? यहाँ भी आध्यात्मिक नहीं तो वैज्ञानिक सांख्यिकी का नियम लागू होता है । क्या आपको लगता है कि ईश्वर को स्तुति पसंद आती है ? कुछ भी प्रयत्न न करते हुए केवल भक्ति के आधार पर मिला

भौतिक लाभ क्या आपको पता है। स्वामी विवेकानंद जैसे आध्यात्मिक व्यक्ति भी कहते हैं, "याद रखो, तुम किसी ऐसी सत्ता से सहायता नहीं पा सकते, जो बादलों के उस पार रहती है।"

आधुनिक शरीरशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के शरीर में कुछ रचनाएं ऐसी हैं जिनका शरीर के लिए उपयोग शून्य है। कहा जाता है कि ऐसी रचनाएं लगभग 200 हैं। जैसे मनुष्य की छाती पर स्तन, अपेंडिक्स आदि। यही बात अन्य जानवरों के लिए भी सत्य है। अगर इन सारे शरीरों का निर्माण ईश्वर ने ही किया है तो ऐसी अनावश्यक रचनाओं सहित की हुई निर्मिति त्रुटिपूर्ण कही जाएगी। ईश्वर ने ऐसा क्यों किया?

अगर सृष्टि और ईश्वर इनकी प्रकृतियाँ एकदूसरे से भिन्न या विरोधी हैं तो ईश्वर को ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी?

मन की तृष्णा के लिए जल जरूरी हैं | लेकिन कितना? एक गिलास, दो गिलास। फिर मनुष्य के हृदय को समुद्र के तट पर खड़ा होकर उसे देखने की विशेष इच्छा क्यों होती है? क्या, उसे समुद्र के इतने सारे जल की आवश्यकता है? लेकिन प्यास बुझाने के लिए नहीं, आवश्यकता है, अनन्तता से सम्बन्ध जोड़ने के लिए | आवश्यकता हैं अपनी आंतरिक अल्पता कम करने के लिए। आवश्यकता हैं अपना हृदय विशाल बनाने के लिए | इस अनन्तता के पूर्ण अनुभव को ही वैदिक साहित्य में मुक्ति कहा गया है।

पिंजरे के पंछी के लिए पिंजरा छोड़कर आकाश में उड़ना ही विकास का आरम्भ है | तुच्छ पिंजरे से घृणा और विस्तृत आकाश से अदृष्ट प्रेम हो जाना ही विकास का आरम्भ है। उसका अर्थ यह नहीं कि पक्षी को समस्त आकाश की आवश्यकता है | एक प्रकार से आवश्यकता है भी और नहीं भी। यदि पक्षी की उड़ान को ही जीवन का उद्देश्य माना जाए तो उसे केवल उतने ही आकाश की आवश्यकता है जितने में वह भली भाँति उड़ सके | परन्तु उड़ान एक और उद्देश्य का साधन मात्र है। आकाश की अनन्तता से सम्बन्ध जुड़ जाए | ईश्वर की अनन्तता से प्रभावित होने के लिए अपनी उन्नति भी आवश्यक है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते जायेंगे हमारे क्षितिज का वृत्त भी बढ़ता जाएगा। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों हमें सृष्टि का अधिकाधिक ज्ञान होता जाएगा त्यों-त्यों हमें ईश्वर की अनन्तता का भी अनुभव होगा।

इसके आगे - कुछ लोग कहते हैं कि यदि तुम्हें अनन्तता का ज्ञान है तो वह अनन्तता परिमित हो जाने से अनन्तता नहीं रह सकती | हमारी बुद्धि परिमित होने से इसके अंदर जो कुछ होगा वह परिमित होगा। यदि अनन्तता का ज्ञान नहीं है तो उसके विषय में क्या कहा जा सकता है ? तो फिर अनन्तता वाले ईश्वर के विषय में क्या कहा जा सकता है ? (आस्तिकवाद - गंगाप्रसाद उपाध्याय: पृष्ठ २२५)

लेखक जो कहना चाहते हैं उसका प्रतिवाद उन्होंने उद्धृत किए परिच्छेद में ही आ गया है । अर्थात् सृष्टि के अधिकाधिक ज्ञान तक तो वास्तवता है लेकिन उसके आगे अमूर्तता है , भ्रामकता है। फिर ईश्वर यह संकल्पना अपने आप ही अमूर्त वर्ग में शामिल हो जाती है । अनंतता की अनुभूति हमारी एक मानसिक अनुभूति है । दूसरी बात अस्तित्व और अनंतता का सम्बन्ध आप कैसा स्थपित करेंगे?

स्वामी विवेकानंद कहते हैं, "ईश्वर के अनंतता का ध्यान करते समय , जिसके मन चक्षु के सामने अथांग फैला हुआ सागर,या अनंत आकाश नहीं होगा, ऐसा मनुष्य मिलना मुश्किल है।"

यह हमारा इन्द्रियगम्य, तर्कगम्य तथा बुद्धिगम्य ऐसा विश्व दोनों ओर से अमर्याद , अज्ञात, अज्ञेय ऐसे तत्वों से घिरा है। सारा अन्वेषण, सारे विचार और सभी घटनाएं इसी विश्व में अंतर्भूत हैं।

बुद्ध ही नहीं, आधुनिक काल के कार्लाइल जैसे चिंतक भी कहते हैं कि मनुष्य के आदि से लेकर तो आज तक , वह इस खोज में लगा रहा कि , "मैं क्या हूँ" और आज तक उसे इसका वास्तव ज्ञान नहीं मिला। अब ऐसे प्रश्नों में समय गंवाना मूर्खता है । अब सोचना यह चाहिए कि मुझे क्या करना है ? यदि 'मैं क्या हूँ 'यह प्रश्न सभ्य जातियों के लिए अनावश्यक है तो ईश्वर क्या है? यह प्रश्न तो उससे भी व्यर्थ है। हमारा जीवन थोड़ा है, समय कम है, और काम बहुत है। यदि इस लघु जीवन का कुछ समय भी ऐसे प्रश्नों की मीमांसा में लगा दिया जाए तो कर्तव्यपालन के लिए समय ही नहीं बचेगा । लोग काल्पनिक ईश्वर के पीछे भागकर अपने जीवन का बड़ा हिस्सा उसकी स्तुति, प्रार्थना, और उपासना में गँवा देते हैं। धन व्यय कर देते हैं।

इसपर आध्यात्मवादी उपाध्यायजी का उत्तर है कि , अपने कर्तव्यों की पहचान कराने का नाम ही आचारशास्त्र है और इस शास्त्र की नींव डालने के पहले, मनुष्य ने अपने आप की वास्तव पहचान करा लेना आवश्यक है। प्रत्येक का कर्तव्य अलग-अलग होता है। तो बिना अपने आप को जाने हम हमारा कर्तव्य कैसे जान सकते ? सेनापति का कर्तव्य अलग तो कोषाध्यक्ष का अलग होता है। इसलिए उपरोक्त प्रश्न आवश्यक है।

अब अगर इस वास्तव दुनिया की दृष्टि से पहचान करा लेना हो तो मतभेद का प्रश्न ही कहा उठता है ? लेकिन अध्यात्म का यह प्रश्न क्या इतना सहज है ? ये लोग जिस वास्तव पहचान की बात करते हैं ,क्या उन्हें वह आज तक हुई ? अगर हुई तो इस दुनिया में जी रहे साधारण मनुष्य को वे उसके जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से समझाए । या जो हुई वह केवल उनकी अपनी कल्पनाओं की उड़ानें हैं । इस प्रश्न पर हर किसीका अपना दृष्टिकोण हो सकता है । निरपेक्ष पहचान की अपनी कोई पहचान नहीं है । वह अमूर्त है।

फिर उपाध्याय जी आगे कहते हैं कि जो पुरुष यह मानता है कि मैं शरीर से अतिरिक्त कुछ नहीं। जन्म से पहले मेरा अस्तित्व नहीं था, मृत्यु के पश्चात नहीं रहेगा। मृत्यु ही जीवन का अंत है। ऐसे विचारवाला व्यक्ति अवश्य ऋण लेकर घी पिएगा और भोग विलास में डूबा रहेगा । ऐसे व्यक्तियों के लिए सदाचार, परोपकार आदि निरर्थक हो जाते हैं।

इतिहास बताता है, भारत के चार्वाक अनुयाई तथा यूनान के एपिक्यूरियन लोगों के जीवन किस प्रकार के रंगों में रंग गए थे । जिसके सामने ईश्वर प्राप्ति जैसा उच्च आदर्श नहीं है उससे ब्रह्मश्चर्य जैसी कठिन तपस्या क्या होगी ? उसके लिए तो ललनालिंगन ही समस्त जीवन का उद्देश्य होगा।

यहाँ आगे जो कुछ लिखना पड़ रहा है वह बड़े खेद के साथ है । लेखक को इतिहास का ज्ञान नहीं होगा ऐसा मानना कठिन है। इतिहास ऐसे व्यक्तियों से भरा पड़ा है जिनका ईश्वर जैसी संकल्पनाओं पर विश्वास नहीं था फिर भी उन्होंने पूरी मानव जाति को आज के मुकाम पर लाने में बड़े से बड़ा योगदान दिया है , इतना ही नहीं तो बड़ी-बड़ी कुर्बानियां दी हैं । लेखक ने उनके विचारों से सहमत न होने वालों का एक वर्ग बना दिया-राक्षसों का । लेखक अपने मत प्रतिपादन के आग्रह के खातिर पाठकों को गुमराह करना चाहते हैं। यह बार-बार कहा जाता है कि अध्यात्म उससे सहमत न होने वालों के प्रति असहिष्णु हो जाता है, उसका यह साक्षात् उदहारण है।

आगे उपाध्याय जी लिखते हैं , "मेरा अपना विचार है कि यदि आज मुझे पूर्ण विश्वास हो जाए कि मैं शरीर के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हूँ , तो मेरा जीवन ही एक विचित्र अकथनीय विलासप्रियता में परिवर्तित हो जाएगा।"

वाह! अपने प्रति क्या विश्वास है ? इस पर क्या टिप्पणी करें।

उपाध्याय जी -

जो नास्तिक है, उसको तो वस्तुतः यह पता भी नहीं कि सुख क्या है ? वह तो चरवाहों के समान साधारण सुखों की सामग्री को ही सुख समझता है।

निकृष्ट मनुष्यों को पाप-कर्म से बचने के लिए भय बहुत उपयोगी है।

(फिर नास्तिकों के वर्ग के स्थान पर आस्तिकों के झुण्ड में इतने पाखंडी क्यों हैं?)

उपाध्याय जी यह मान्य करते हैं कि जानने के लिए दो बातें होती हैं । एक तो तर्क और दूसरा मन द्वारा अनुभव करना । जिस बात को अनुभव और तर्क पुष्ट करते हैं उसपर मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है।

लेकिन उपरोक्त दोनों माध्यम का आधार 'वास्तव अस्तित्व या 'भौतिक अस्तित्व 'होना चाहिए इसे तो नजरअंदाज कैसे किया जा सकता है ? तुम्हारे मन को जो अनुभव होगा या मन में जो कल्पनाएं उभरेंगी , उनका वास्तव अस्तित्व के साथ सम्बन्ध हो यह आवश्यक नहीं । उसी तरह वास्तवता के अनुपस्थिति में भी शाब्दिक तर्क किया जा सकता है।

ऐसा भी कहा जाता है कि परमात्मा केवल योगी जनों को ही दर्शन देता है । करोड़ों लोग तो योगी नहीं बन सकते। फिर उनके लिए इसकी क्या उपयोगिता है?

एक और मत है 'अज्ञेयवाद '(agnosticism)। इसके अनुसार भी संभव है ईश्वर हो , संभव है न हो । हमारी बुद्धि से वह बहुत परे है । अतः इस जटिल प्रश्न की मीमांसा करने की आवश्यकता ही क्या है?

भगवन के अस्तित्व को चुनौती देने में या उसकी संकल्पना की निरर्थकता सिद्ध करने में आज सबसे आगे है चिकित्सा विज्ञान जिसने भगवन की दुनिया में इतनी दखल दी है कि आदमी की औसत आयु चालीस से बढ़ाकर सत्तर के ऊपर पहुंचा दी है । इस क्षेत्र में काम करनेवालों को महापापी कहना होगा जो ईश्वर की न्यायव्यवस्था में दखल दे रहे हैं।

अवतारवाद और चमत्कार

एक ओर तो यह कहा जाता है कि सृष्टि की समस्त घटनाएं नियमपूर्वक होती हैं ,इसलिए इन नियमों का एक कोई विचारशील नियंता अवश्य है । दूसरी ओर चमत्कार दिखाकर यह भी सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर सभी कुछ कर सकता है । अर्थात् वह नियमोलंघन भी कर सकता है। वस्तुतः चमत्कारों का आस्तिकता से कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया कि जो पुरुष अपने को पैगम्बर या ईश्वर का भेजा हुआ दूत सिद्ध करना चाहता है उसे चमत्कार दिखाने ही पड़ते हैं।

नास्तिकवादी कहते हैं कि तुम या तो सृष्टि को नियमित मान लो या अनियमित। यह तो नहीं हो सकता कि अपने सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए, पहले उसे नियमित मानो और फिर अनियमित (अपनी सुविधानुसार)। यदि नियमों के कारण तुम ईश्वर का अस्तित्व मानते हो तो नियमानुल्लंघन के कारण ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करना पड़ेगा । चमत्कार नियमानुल्लंघन को प्रकट करते हैं अतः वे कभी नियंता के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते (आस्तिकवाद :पं.गंगाप्रसाद उपाध्याय :छठा अध्याय ,ईश्वर के गुण -१:पृष्ठ १३५-१३६)

उपरोक्त विचार एक आस्तिकवादी के हैं।

ईश्वर को निर्विकार कहा जाता है । निर्विकार ईश्वर अवतार नहीं ले सकता । अवतार लेने का अर्थ हुआ अपने में परिवर्तन या विकार पैदा कर लेना । ईश्वर में किसी तरह का विकार पैदा होने

का अर्थ, वह अविनाशी न रहना , नाशवान हो जाना है। अतः अवतारवाद का सिद्धांत , ईश्वर को सिद्ध करने के स्थान पर उसे अस्वीकार कर देता है।

इसके बाद भी श्रीमद्भगवद्गीता के अवतारवाद के बारे में आप क्या सोचते हैं?

ऐसा सुना था कि सत्य साईबाबा नाम के एक गुरु , बीमारों को अपने आशीर्वाद से ठीक कर देते थे। अगर ऐसा ही था तो उन्हींके संस्थान द्वारा पुट्टपर्ती में बड़ा दवाखाना बनवाने की क्या जरूरत थी?

विज्ञान, चमत्कार से चमत्कारिता छीन लेता है।

बुद्ध और ईश्वर

बुद्ध, ईश्वर के प्रति मौन थे ऐसा बताते हुए कुछ विद्वान , बुद्ध के ईश्वर पर इस मौन को भला ही उनके सकारात्मक होने का तर्क देते हैं लेकिन बुद्ध ने अपने शिष्यों द्वारा ईश्वर सम्बन्धी चिंतन को निरर्थक समझा तो इससे यही सिद्ध होता है कि स्वयं बुद्ध को भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं था। ईश्वर में विश्वास करना और फिर मानव नियति के लिए उसके अस्तित्व को निरर्थक मानना संभव नहीं है। सच है कि उन्होंने सदा यही प्रयत्न किया कि उनके शिष्य दुःख निवारण जैसी व्यावहारिक समस्या पर ध्यान दे । तत्व-मीमांसीय चिंतन-मनन को उन्होंने आत्मभ्रम माना। उनके कार्यक्रम में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं था । वे नहीं चाहते थे कि , उनके शिष्य इन बातों पर चिंतन करने में अपना समय और शक्ति व्यर्थ गंवाए , जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

बुद्धचरित के अनुसार बुद्ध ने 'सभी गोचर जगत के पीछे पूर्ण , स्वयंभू, अनंत, अज्ञेय के संभावित अस्तित्व का खंडन करने के लिए इस प्रकार तर्क दिए -

तथागत ने अनाथपंडित से कहा , "यदि स्वयंभू का अर्थ है , सभी ज्ञेय वस्तुओं से अलग कोई चीज़, तो हेतुविद्या द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम यह कैसे जान सकते हैं कि अन्य वस्तुओं से असम्बद्ध किसी चीज़ का अस्तित्व है ? जिस विश्व को हम जानते हैं वह समस्त विश्व , संबंधों की एक प्रणाली है । हम किसी ऐसी प्रणाली को नहीं जानते जो असम्बद्ध है या हो सकती है। जो वस्तु, किसी से सम्बद्ध नहीं है , किसी पर निर्भर नहीं है , वह ऐसी वस्तुओं का निर्माण कैसे कर सकती है जो एकदूसरे से सम्बद्ध है और अपने अस्तित्व के लिए एकदूसरे पर निर्भर है।

फिर वह स्वयंभू एक है या अनेक । यदि एक है तो वह विभिन्न वस्तुओं के लिए कारण किस प्रकार बन सकता है ? क्योंकि हम जानते हैं कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के अलग-अलग

कारण हैं। यदि अलग-अलग वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न स्वयंभू हैं तो इनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध किस प्रकार का हो सकता है ? यदि स्वयंभू सभी वस्तुओं और समस्त अंतरिक्ष पर आच्छादित है, परिव्याप्त है तो वह उनको कैसे बना सकता है ? क्योंकि बनाने के लिए कुछ है ही नहीं। इसके आलावा यदि यह स्वयंभू निर्गुण है तो इससे उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुएं गुणों से रहित होनी चाहिए। किन्तु वास्तव में इस संसार की सभी वस्तुएं, गुणों से सीमित हैं। इसलिए इन वस्तुओं का प्रथम कारण यह स्वयंभू नहीं हो सकता। यदि इस स्वयंभू को गुणों से भिन्न समझा जाए तो फिर वह निरंतर ऐसी वस्तुओं का निर्माण किस प्रकार करता है जिनमें गुण हैं और वह उनके द्वारा अपने आप को किस प्रकार अभिव्यक्त करता है ? फिर यदि यह स्वयंभू अपरिवर्तनीय है, तो सभी वस्तुएं भी अपरिवर्तनीय होनी चाहिए क्योंकि परिणाम का स्वभाव, कारण के स्वभाव से भिन्न नहीं हो सकता। परन्तु इस संसार में सभी वस्तुएं परिवर्तनशील और नश्वर हैं। फिर यह स्वयंभू किस प्रकार अपरिवर्तनीय और अनश्वर हो सकता है ? इसके आलावा यह सर्वव्यापी स्वयंभू सभी वस्तुओं का कारण है तो फिर हमें मोक्षप्राप्ति का प्रयास क्यों करना चाहिए ? क्योंकि स्वयं हमारे अंदर ही स्वयंभू है और हमें उसके द्वारा निर्मित प्रत्येक दुःख और पीड़ा को धैर्यपूर्वक, निरंतर झेलना चाहिए।

अवतारवाद

अवतारवाद का प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण और तैत्तरीय संहिता में मिलता है। इसमें कहा गया है कि सृष्टि के हित के लिए विभिन्न अवसरों पर प्रजापति ने मत्स्य, कूर्म और वराह रूप धारण किए।

लेकिन अवतारवाद का विकास वैष्णव सम्प्रदाय की देन है। अवतारों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होती गई। अलग-अलग साहित्य में यह संख्या भिन्न-भिन्न है। लेकिन वराहपुराण और अग्निपुराण में दशावतार सूची मिलती है। यही सर्वाधिक मान्य सूची है। विष्णु के दशावतार हैं-

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बलराम।

भारत के साथ-साथ विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी परमसत्ता के अवतार लेने की मान्यता पायी जाती है।

ए.डी. पुसालकर, दशावतार का सम्बन्ध मानव के क्रमिक विकास से जोड़ते हैं। (स्टडीज इन द एपिक्स एंड पुराणम)। मत्स्यावतार, मानव की प्रारंभिक अवस्था, कूर्म तथा वराह अर्धविकसित अवस्था के चोतक। नृसिंह तथा वामन अवतार गुफाओं और जंगलों में रहनेवाली असभ्य एवं अर्ध सभ्य जातियों के प्रतीक हैं। परशुराम-खानाबदोश और शिकारी जातियों का प्रतीक, राम, कृष्णनागरी और सभ्य अवस्था का।

कुछ विद्वान् इसका डार्विन विकासवाद के साथ साम्य होने की बात कहते हैं।

१) जीव सबसे पहले जल में उत्पन्न हुआ -जीवन का पहला विकास जल जीव थे -मुख्यतः मत्स्य।

२) जल-थल दोनों में रह सकनेवाले जीव - कछुआ, केकड़े (कूर्म)।

३) जल का स्थान छोड़कर स्थल पर रहनेवाले - वराह, हिरन आदि चौपाए (वराह)।

४) वे पशु जो दो पैरों पर खड़े होने और चलने का प्रयत्न करने लगे - बन्दर, रीछ, कंगारू आदि।
(मनुष्य के पैरवाले -नृसिंह)

५) अविकसित मनुष्य --वामन।

६) शारीरिक दृष्टि से विकसित होकर बुद्धि का विकास भी आरम्भ हुआ लेकिन असभ्य स्तर -- परशुराम।

७) मस्तिष्क तथा मानवीय गुणों से युक्त - राम ।

८) मस्तिष्क का काफी विकास (कला ,दर्शन आदि का निर्माण -- कृष्ण ।

९) शुद्ध बुद्धिवादी -- बुद्ध ।

१०) पूर्ण विकसित मनुष्य भविष्य में होगा -- कल्कि (हिंदी मिलाप हैदराबाद -११-२- २००४)

जिसके हम अपने आप को परम भक्त कहते हैं , उसे हमने हमारी तर्कहीनता के चलते कहाँ पहुंचा दिया है। देखिए नमूना -

राजस्थान विधानसभा चुनाव के दरम्यान अलवर की सभा में उ.प्र .के मुख्यमंत्री योगीजी,"बजरंगबली ये ऐसे लोकदेवता है जो स्वयं आदिवासी है , दलित है, वंचित है।" (अलवर ग्रामीण मतदारसंघ दलित , आदिवासी बहुल है ।) ईश्वर को भी जाति चिपक गई ।(लो.स. २-१२- २०१८)

भाजपा विधायक बुक्कल नवाब ने हनुमानजी को बताया मुसलमान--(लो.स.२१-१२-२०१८)

उ .प्र .के वरिष्ठ मंत्री चौधरीजी ने हनुमान को जाट बता दिया। --(लो .स .२२-१२-२०१८)

भाजपा के भूतपूर्व नेता कीर्ति आजाद के अनुसार हनुमान चीनी थे।(लो .स .२२-१२-२०१८)

ईशनिंदा

आशिया बीबी पाकिस्तान में रहनेवाली ईसाई महिला है, जिसपर ईशनिंदा का आरोप लगा था। आठ साल जेल में रहकर कानूनी लड़ाई, वह भी पाकिस्तान जैसे देश में, लड़नेवाली इस महिला को अक्टूबर २०१८ में अदालत ने रिहा करने का फैसला दिया। पाकिस्तान में ईशनिंदा, एक बहुत संवेदनशील मामला है अतः इस फैसले को लेकर कट्टरपंथी भड़क गए। आशिया की जान के प्यासे लोगों ने उग्र प्रदर्शन किए। इस बात पर सारी दुनिया में पाक की निंदा हो रही है। (लो.स. २५ -११ -१८)

उधर आयरलैंड में आयरलैंड के नागरिकों ने राष्ट्रपति चुनाव के साथ-साथ ईशनिंदा कानून को लेकर मतदान किया। एग्जिट पोल के अनुसार लगभग ७०% लोग इस दकियानूसी कानून को कूड़ेदान के हवाले करना चाहते हैं। अबतक वहां इस कानून के तहत दोषी पर २० लाख के जुर्माने का प्रावधान था।

१९९५ में वहां स्थिति हास्यास्पद बन गई थी जब वहां की सर्वोच्च न्यायलय ने ईशनिंदा के एक मामले को सिरे से खारिज करते हुए कहा था कि यह कह पाना नामुमकिन है कि ईशनिंदा का अपराध वास्तवता में है क्या? (जिसे तुम वास्तव में प्रस्तुत नहीं कर सकते उसकी स्तुति या निंदा को कैसे परिभाषित करेंगे?)

दुनियामें आज भी ६९ देश ऐसे हैं जहाँ ईशनिंदा कानूनी तौर पर प्रतिबंधित है।)---(लो.स.२८ -१० -२०१८)

स्पिनोजा

"ऐसा तत्व होना चाहिए जो स्वयंसिद्ध अपना आधार हो। इस तरह स्पिनोजा का जोर भौतिक तत्व पर नहीं तो आत्म तत्व पर था। लेकिन आगे उसके अनुसार प्रकृति या सृष्टि स्वयं इस काम तथा ईश्वर की आवश्यकता को पूरा करती है। इस तरह स्पिनोजा का प्रकृतिवाद, बुद्धिवाद और भौतिक प्रयोगवाद का सम्मिश्रण है।

प्राकृतिक घटनाएं परस्पर सम्बद्ध हैं। यदि उनकी व्याख्या के लिए प्रकृति से परे किसी लोकोत्तर चीज को लाते हैं तो वस्तुओं का वह आंतरिक सम्बन्ध टूट जाता है और सत्य तक पहुंचने के लिए जो एक माध्यम हमारे पास था, उसे ही हम खो देते हैं।

संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य डॉ.मंगलदेव शास्त्री इनका एक लेख है 'ईश्वर शब्द का इतिहास '। उसमें कहा गया है कि वैदिक साहित्य में ईश्वर शब्द का अर्थ राजा या स्वामी है। लेकिन ईश्वर शब्द में अंतर्भूत जो अर्थ आज हमें अभिप्रेत है वह वास्तव में ईसा की दूसरी सदी में प्राप्त हुआ है।

जहाँ-जहाँ 'मसीहवाद' को ही अपनाया गया अर्थात् कोई मसीहा आएगा और हमें हमारी पीड़ाओं से मुक्ति दिलाएगा, इसे ही केंद्र बनाकर समाज की मानसिकता को रूप दिया गया, वहां नए मानव समाज के सहिष्णु मूल्य, लोकतंत्र, आदि पनप नहीं सके। वास्तव में हमारी पीड़ाओं से हमें किसी और ने मुक्ति दिलाने का अर्थ है किसी और ने हमारे दायित्वों को अपने सर लेना और हमें उनसे मुक्त करना। जिन्होंने इस मसीहवाद का त्याग किया वे सभी क्षेत्रों में कितने आगे निकल गए। उदा.पश्चिम देश। धर्म ने हमें शिक्षा दी है -

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानम सृजाम्यहम्॥

आत्मा

एक आदमी के टांगें, सिर, हाथ, पैर आदि अंग हैं।

आत्मवादी सोच : कोई है जो इन अंगों से अलग है और इनका स्वामी है । इस शरीर से पुरी तरह अलग जो है वह आत्मा है।

अनात्मवादी सोच : इन अंगों से अलग , या जो दिख रहा है , उस शरीर से अलग कोई नहीं है। दृष्टिगत हो रहे अंग और शरीर यही आदमी है।

"आँख देखती है, यह केवल भ्रम मात्र है। इस आँख से परे कोई देखनेवाला है। (शरीर द्वारा हो रही क्रियाओं का) कोई कर्ता है। वही आत्मा है।"-----कौशितकी उपनिषद

अनात्मवाद के अनुसार छह इन्द्रियों और उनके विषयों की उपस्थिति मात्र से ही अनुभूति अस्तित्व में आती है।

आत्मा विषयक कल्पनाएं -

आत्मा की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं में सूक्ष्म भेद है । लेकिन मोटे तौर पर दो भेद मान लिए जा सकते हैं -

१) सभी प्राणियों में एक ही आत्मा है । हजार शीशे बिखरे पड़े हैं , किन्तु एक ही सूर्य प्रतिबिम्ब सर्वत्र दिखाई देता है । यहाँ समस्या यह है कि सभी प्राणियों में एक ही जीवात्मा हो और जीवात्मा को ही सुख-दुःख की अनुभूति होती हो तो एक आदमी को सिरदर्द होने पर सभी को क्यों नहीं होता ? अर्थात् यह कल्पना यथार्थ पर खरी नहीं उतरती। (गीता १३।३३)

२) सभी प्राणियों में पृथक-पृथक जीवात्माएं हैं और उन अज्ञात जीवात्माओं को वैसे ही किसी अज्ञात परमात्मा में लीन करना जीवन का परम आदर्श है । तो फिर कोई भी प्राणी किसी दूसरे प्राणी के सुख-दुःख की चिंता क्यों करे और उसे दूर करने का प्रयास क्यों करे ?

कहीं आत्मा-परमात्मा एक हैं , तो कहीं वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं । कहीं आत्मा , परमात्मा का अंश है। वेदांती आत्मा को ब्रह्म की चेतन परछाई मानते हैं । परछाई या प्रतिबिम्ब चेतन कैसे हो सकता है ?

आत्मा सम्बन्धी, उपनिषदों में परस्पर विरोधी मान्यताएं -

कठ उपनिषद (२/६/१७) : आत्मा अंगूठे के आकार की है (अंगुष्ठमात्रः आत्माः) एक अंगूठे के आकार की आत्मा सारे शरीर में कैसे व्याप्त हो सकती है ?

श्वेताश्वतर उपनिषद (5/९) आत्मा कितनी होती हैं तो 'एक बाल के अगले भाग के सौ टुकड़ों में से एक टुकड़ा लो। उस टुकड़े के सौवें भाग के बराबर अर्थात् अति सूक्ष्म।'

छांदोग्य उपनिषद: आत्मा जौ के दाने से छोटी होती है।

मुंडकोपनिषद : आत्मा अणु के समान होती है।

आत्मा अदृश्य है तो पता नहीं ये परिमाण , दावा करनेवालों को कहाँ से प्राप्त हुए । यदि यह कहा जाए की आत्मा अभौतिक होने से दैहिक इन्द्रियों द्वारा उसे देखा-परखा नहीं जा सकता । तो भाई साहब, जिन्होंने जिस किसी भी माध्यम से उसे देखा-परखा है, वे उन माध्यमों को सबके लिए उपलब्ध करा दें तो आत्मा के अस्तित्व के विषय में विवाद ही नहीं रहेगा।

गीता (१५/७)और ब्रह्मसूत्र : "जीव मेरा ही अंश है ।"सोने की ईंट से थोड़ा सोना निकलने से वह सोना ही रहता है। फिर जीव और परमात्मा के रूपों का वर्णन करने एकवाक्यता क्यों नहीं? साथ-साथ अगर ईश्वर का कुछ अंश अलग होकर शरीर में आ सकता है तो ईश्वर अखंड कैसा। आत्मा को सिद्ध करने के चक्कर में ईश्वर की संकल्पना से ही न हात धोना पड़े।

जो उस तथाकथित अगली दुनिया में चले गए हैं , उनमें से कोई आत्मा , वहां का वर्णन करने आजतक इस दुनिया में लौटा नहीं । जो वर्णन का दावा करते हैं वे वहाँ पहुंचे ही नहीं । तो फिर -----? ऐसा भी दावा किया जाता है कि कुछ लोगों को मृत्यु जैसी स्थिति में पहुंचने पर , अगली दुनिया की झांकी दिखती है । लेकिन इस दावे के साथ जो वर्णन दिया जाता है उसके अनुसार हिन्दू मनुष्य को पुराणों में वर्णित तो मुस्लिम व्यक्ति को कुरान में वर्णित जैसी दुनिया का ही दर्शन क्यों होता है? अगर आत्मा-ईश्वर एक है तो कम से कम मरते समय तो ऐसा अंतर नहीं होना चाहिए। आत्मा के सारे अनुभव एक जैसे होने चाहिए।

कुछ दार्शनिकों ने तो एक अलग ही मार्ग चुन लिया है । समझो दो आदमियों ने सफ़ेद कुरता पहना है। उन दोनों के कुर्तों की सफ़ेदी में जो थोड़ा तारतम्य है, उसे वाणी द्वारा कैसे प्रकट किया जा सकता है, आँखों द्वारा अनुभव करने के बावजूद भी । जिस जीवात्मा का बोध न पांचों ज्ञानेन्द्रियों में से किसी को भी, न मन को, न बुद्धि को होता है उसे 'अनिर्वचनीय 'कहा जाता है। एक अभाव को भावात्मक रूप देने का एक मार्ग ढूँढ लिया गया है।

आत्मा को मिथ्या सिद्ध करना-

बुद्ध ने आत्मा की ६२ प्रकार की कल्पनाओं की परीक्षा के आधार पर उसे मिथ्या सिद्ध किया है। "सब्बासकसुत्त" से पता चलता है कि उन्होंने श्रावस्ती के जेतवन में कहा था कि आत्मा की कल्पना एक मिथ्या कल्पना है ।(आत्मा और पुनर्जन्म :सोमा सबलोक) पाली परंपरा में तो

बुद्ध, शुद्ध अनात्मवादी है। लेकिन महायान के संस्कृत ग्रंथों में ही उन्हें आत्मवादी बताने का प्रयत्न किया गया है। तो फिर अन्यो की तो बात ही क्या?

आत्मा के विषय में बौद्ध चिंतन में अनुभव करने का अर्थ ही है परिवर्तनशीलता।

मानव के खून में करोड़ों, अरबों कोशिकाएं या जीवाणु होते हैं। उन्हें शरीर से अलग कर के भी जीवित रखा जाता है। जैसे आदमी का खून, दूसरों को देने के लिए संभलके रखा जाता है। तो क्या इन में से प्रत्येक कोशिका में अलग-अलग आत्मा होती है ? जीवाणु पैदा भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं याने मरते हैं, अर्थात् उनमें जीवन है। इसका अर्थ हुआ मनुष्य के शरीर में अरबों आत्माएं हैं।

जब स्त्री गर्भवती होती है तो क्या उसके शरीर में दो आत्माएं हो जाती हैं ? एक उसकी अपनी और एक भ्रूण की। भ्रूण गर्भ में कोई निर्जीव पिंड तो नहीं होता। जहाँ जुड़वाँ भ्रूण होगा क्या वह तीन आत्माएं होगी ?

आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। तो फिर दुनिया की आबादी क्यों बढ़ रही है? ये नई-नई आत्माएं कहाँसे आ रही हैं ? कुछ शताब्दियों पहले दुनिया की आबादी दो अरब थी । जो बढ़कर अब सात अरब हो गई है। एक उत्तर यह दिया जाता है कि ८४ लाख योनियों में भटकते-भटकते कुछ अन्य योनियों की आत्माएं अब पुण्यवान बनकर , मनुष्य योनि से आ जुड़ रही हैं। इस कारण मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है। तो फिर इतने जीव एकाएक पुण्यवान होने का कारण। वह भी बता दीजिए।

यदि यह मान लिया जाए कि जैसा शास्त्रों में कहा गया है, आत्मा न कभी जन्म लेती है न कभी मरती है, न कभी अशुद्ध होती है। केवल उसपर भ्रम का पड़दा पड़ जाता है। इसलिए बार-बार जन्म लेकर वह आत्मा शुद्ध हो जाती है। अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करती है। अर्थात् भ्रमित आत्मा ने अपने उद्धार के लिए जन्म लिया है। यदि मान लिया जाए कि आत्मा भ्रमित हो गई है तो इसका अर्थ यह है कि पहले कभी वह शुद्ध थी , लेकिन शुद्ध आत्मा को तो जन्म-मरण के चक्कर से दूर माना जाता है। तो इस कारण शुद्ध आत्मा के शरीर धारण करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। और अगर शुद्ध आत्मा भी भ्रमित होती रहती है तो यह आत्मा एक बार शुद्ध होने पर दोबारा दूषित नहीं होगी इसकी क्या गारंटी। इस संशय के सम्बन्ध में आत्मा चाहे एक हो या अनेक, कोई फर्क नहीं पड़ता।

एक कोशीय प्राणियों का जीवनचक्र तो आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म को खुली चुनौती है। संसार में सर्वप्रथम यही एक कोशीय प्राणी आए थे । ये सभी विभाजन द्वारा जनन क्रिया करते हैं, जैसे अमीबा। एक विशिष्ट वृद्धि के बाद एक ही अमीबा दो में विभाजित हो जाता

है । फिर दो से चार बनते हैं । इसी प्रकार ये प्राणी वंशवृद्धि करते हैं और जीवित रहते हैं । बिना एक के मरे दूसरे का पैदा होना निश्चित है और आत्मा के लिए चुनौती है।

आजकल होनेवाले अंगप्रत्यारोपण क्या सिद्ध करते हैं ? आत्मा की वास्तवता ?

आत्मवादी और अनात्मवादियों का वर्गीकरण -

१) आत्मवादी लेकिन अपुनर्जन्मवादी : ये रूह को मानते हैं लेकिन उसका दोबारा जन्म लेकर इस संसार में लौटना नहीं मानते । उदा. ईसाई तथा इस्लाम। वेदों में भी कोई मंत्र नहीं मिलता जो पुनर्जन्म का जोरदार प्रतिपादन करता हो।

२) आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी : जैन और उत्तरकालीन वैदिक । वैदिकों का आत्मा नित्य है । लेकिन जैनों का आत्मा चींटी के शरीर में चींटी के आकार का तो हाथी के शरीर में हाथी के आकार का होने की क्षमता रखता है।

३) अनात्मवादी लेकिन पुनर्जन्मवादी : बौद्ध । शक्ति चाहे शारीरिक हो या मानसिक , उसका रूपांतर संभव हैं, नाश संभव नहीं।

४) चार्वाक

लेकिन अबौद्ध भारतीय दर्शनों में आत्मा की और भी नाना कल्पनाएं मान्य हैं । कुछ अद्वैतवादी, कुछ द्वैतवादी, कुछ न अद्वैतवादी न द्वैतवादी बल्कि विशिष्टाद्वैतवादी।

ऐसा भी कहा जाता है कि आत्मा अपूर्ण है , जबकि ईश्वर पूर्ण। लेकिन आत्मा में पूर्ण होने की क्षमता है।

आत्मा ईश्वर का प्रतिनिधि है । वह ईश्वर के तीन गुणों में से (सत् ,चित्,आनंद) तीसरे गुण की खोज में भटकता है, कर्म करता है। लेकिन उसके लिए उपासना आवश्यक है।

आत्मा का नित्यत्व मानने पर या उसे नित्य एकरस मानने पर उसकी परिशुद्धि और मुक्ति के लिए आधार कहा बचता है?

एक और बात है, पृथ्वी पर जीवन का उदय होने के पहले सारे आत्मे कहाँ थे ?

तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोग-

आत्मा के केवल तात्त्विक विवेचन में पीढ़ियां खप गयीं , यहीं बात नहीं। उसका अस्तित्व जानने का प्रयास तथाकथित वैज्ञानिक स्तर पर भी किया गया है । १९०७ में मैसाचुसेट्स के डॉ .

.डंकन मैक्डूगल ने 'अमेरिकन मेडिसिन' नामक पत्रिका में 'आत्मा' इस संकल्पना का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है कि आत्मा एक द्रव्य है | विज्ञान का मतलब परिमाण और उसका मापन आएगा | इस तथाकथित द्रव्य की नापीजानेलायक मात्रा (mass) या वजन (weight) होता है। इसके लिए उनके द्वारा किया गया प्रयोग इस प्रकार था -

उन्होंने छह मरणासन्न लोगों को वजन नापने की सुविधायुक्त विशेष बिस्तर पर लिटाया और उनके अंतिम समय के दरम्यान उनका वजन लेते रहे। प्रथम मरीज तपेदिक से मर रहा था। मैक्डूगल के अनुसार मरीज की सुविधा का हर संभव ख्याल रखा गया था, हांलाकि वह मृतप्राय ही था। उसने एक औंस प्रति घंटे की दर से वजन खोना शुरू किया। जिसका कारण था पसीने के रूप में उसके शरीर से बाहर आ रही नमी का बाष्पित होना। तीन घंटे चालीस मिनट बाद वह मर गया और अचानक मौत के साथ ही उपकरण की सुई धाम आवाज के साथ ही नीचे गिरी और फिर नहीं उठी। वजन में एकाएक कमी दर्ज की गई २१.२६२१ ग्राम्स | क्या वह आत्मा की मात्रा थी ? उसे किस रूप में लिया जाए ?

मैक्डूगल ने बाद में यह प्रयोग तीन और मरीजों पर दोहराया | परिणाम अलग-अलग मिले। आधा औंस या तीन बटा आठ औंस भार मिला | फिर उन्होंने यही प्रयोग पंधरा कुत्तों पर दोहराया। लेकिन यहाँ कोई भार दर्ज नहीं हुआ | मैक्डूगल इन सारी बातों की कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं दे पाए।

संक्षेप में परीक्षणों के परिणाम थे -

- १) आदमी की तथाकथित आत्मा का वजन- २१.२६२१४२३४७५००००३ ग्राम्स || (उस समय इतनी सूक्ष्मता से भार दर्ज करनेवाले उपकरण की उपलब्धता के विषय में जानकारी नहीं।)
- २) विभिन्न मनुष्यों के भार में मृत्यु के समय होनेवाली कमी समान नहीं होती।
- ३) कुत्तों पर किए गए प्रयोगों में कोई कमी दर्ज नहीं की गई।

इस प्रयोग के प्रति जो आक्षेप लिए गए वे इस प्रकार थे -

अ) मैक्डूगल ने मृत्यु के ठीक समय का पता कैसे लगाया ? क्योंकि चिकित्सीय दृष्टि से मृत्यु कई प्रकार की होती है। फिजिकल डेथ (शारीरिक मृत्यु), ब्रेन डेथ (मानसिक मृत्यु), सेलुलर डेथ (कोशिकाओं का विघटन) और क्लानूनी मृत्यु आदि , जिनकी व्याख्याएं भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग ढंग से की जाती हैं।

आ) भौतिक विज्ञान के अनुसार अगर किसी वस्तु का भार है तो वह सीधे जमीं पर गिरनी चाहिए न की हवा में उड़ जाएगी।

इ) क्या आत्मा शरीर से निकलते समय, वस्तु रूप का रूपांतरण ऊर्जा में होकर निकलती है? है, तो यह रूपांतरण किस तरह होता है?

ई) क्या अलग-अलग व्यक्तियों के सन्दर्भ में आनेवाला फर्क इस कारण होता है कि आत्मा पर लदे पाप-पुण्य का बोझ अलग-अलग होता है ? क्या इन पाप-पुण्यों का भी भार होता है?

वास्तव में अगर प्रत्येक में वही आत्मतत्त्व विद्यमान है तो भार समान होना चाहिए । आगे ऐसे ही कुछ प्रयोग १९८७ में स्लोवेनिया के लुबलाना बायो टेक्नोलॉजी प्रयोगशाला में किए गए। लेकिन सारे प्रयास अभी तक तो किसी स्पष्ट निष्कर्ष से कोसों दूर हैं --- (दैनिक भास्कर :रसरंग :२९ -२ -२००४)।

उपरोक्त बातों का स्पष्टीकरण वेदों के आधार पर दिया जा सकता है ऐसा दावा डॉ.एम् .एल .गुप्ता महोदय ने दैनिक भास्कर :रसरंग :२-५-२००४ के अंक में किया है । दिया गया विवेचन निम्न प्रकार से है -

मुद्रा क्र . 1

भारतीय दर्शन में 'आत्मा ' शब्द उस चेतन तत्त्व के लिए प्रयोग में लाया जाता है जो सर्वव्यापी है और सभी जीवित प्राणियों में समान रूप से पाया जाता है । यह तत्त्व न पदार्थ रूप है, न ऊर्जा रूप। लेकिन इन दोनों का ही मूल कारण है । इस तत्त्व के लिए 'भार' की अवधारणा ही निरर्थक है।

आत्मा और जीवात्मा में भेद-

उपरोक्त प्रयोग में भार में होनेवाली कमी जीवात्मा अर्थात् मनुष्य के सूक्ष्मशरीर की अनुपस्थिति के कारण ही मानी जानी चाहिए क्योंकि उसकी केन्द्रस्थ आत्मा का कोई भार नहीं होता।

जीवात्माओं के भार में भिन्नता-

विभिन्न जीवात्माओं के केंद्रीय चेतन तत्त्व और जीवात्माओं के घटकों के बीच के आवरण तथा उनके स्वरूप में अनेक भिन्नताएं हो सकती हैं । जैसे चित्त के सात्विक , राजसिक व तामसिक पक्षों में से किस जीवात्मा में कौनसा तत्त्व प्रबल है ? बुद्धि के प्रज्ञा, मेधा, स्मृति और

विवेक आदि अंगों में किसकी मात्रा अधिक हैं ? मन में काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि भावों में कौनसा भाव उत्कृष्टता लिए हुए हैं ?-----इन कारणों से उपरोक्त भार अन्यो से भिन्न भी हो सकता है।

पशु-जीवात्माओं सम्बन्धी परिणामों की व्याख्या-

पशु जीवात्माएं पदार्थ रूप तत्व से बनी होती हैं तथा चेतन तत्व से उसी प्रकार अनुप्राणित होती हैं जिस प्रकार मनुष्य जीवात्माएं। पशु की मृत्यु होने पर संभवतः जीवात्मा का चेतन तत्व अपने सूक्ष्म आवरण के साथ (जो किसी अभौतिक तत्व या बल तत्व से बना हो सकता है) शरीर से बाहर निकल जाता है तथा उसका पदार्थ रूप सूक्ष्म शरीर पशु के शरीर में ही बना रहता है। इसी कारण डॉ .मैक्डूगल को स्वानों पर प्रयोग में, शरीर के भार में कोई कमी नहीं मिली। --- (डॉ .एम् .एल .गुसा ,ऍम .एस .सी .;पी .एच .डी .(लन्दन) भौतिक विज्ञान के आचार्य और ' द कॉस्मिक यज्ञ ' ,वैदिक अश्वमेध यज्ञ ' आदि पुस्तकों के लेखक)

(तर्क बेचारा क्या कहें)

धर्म

धर्म का अर्थ क्या है?

महाभारत में धर्म का अर्थ बताया है , 'जो समाज की धारणा करता है '। अर्थात् धारणा में अंतर्भूत हैं वे बातें , जो समाज में एकता बनाए रखें , उसका कल्याण करें , संवर्धन करें आदि । अर्थात् इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए अपेक्षित है सत्य , सदाचार, प्रेम, कर्तव्य, परोपकार, न्याय, मानवता आदि। स्वाभाविक तौर पर यह संकल्पना मानव जीवन इतनी ही व्यापक होनी चाहिए । इस अपेक्षापूर्ति के लिए, मानव व्यवहार में कुछ चीजें होनी चाहिए, जो समकालीन परिस्थिति के साथ कदमताल करते हुए चलती रहें। लेकिन इन बातों को निश्चित कौन करेगा?

लेकिन समय के साथ धर्म अलग ही रूप लेने लगा । आगे बढ़ते-बढ़ते वह गलत रास्ते पर चल पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि कई धर्मों का अवतरण हुआ । अहम् और अत्याग्रह के कारण उनमें टकराव होने लगा । पुरे समाज की दृष्टि से वह धारणात्मक शक्ति के स्थान पर विघटनात्मक शक्ति बन गया । मनुष्य को विशाल दुनिया के दर्शन कराने के स्थान पर एक संकुचित दायरे में पहुंचाने का काम करने लगा। पहले समाज धारणा का काम धर्म ही करता था। लेकिन समय के साथ जैसा-जैसा समाज आगे बढ़ता गया , उसके ध्यान में आने लगा कि अब 'धर्म' जिसे कहा जाता है, उसकी मूल उद्देश्य की दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं रही और अधिकतर दुनिया ने उसे व्यक्तिगत बात बताते हुए सामाजिक क्षेत्र से पूरी तरह हटा दिया । ऐसा जिन्होंने किया वे विकास की दिशा में काफी आगे बढ़ गए और जो उसके साथ चिपके रहें , वे उनकी तुलना में पीछे छूट गए।

अब धर्म कहते ही छुआछूत , जातिभेद, कर्मकांड, कट्टरता, शब्द प्रामाण्य, जिहाद ऐसी बातें ही आँखों के सामने आती हैं। धर्म का एक और अर्थ हो गया , कुछ ग्रंथों में उद्धृत बातों का आँखें मूंद कर पालन। इसके स्थान पर, जैसा दुनिया में अन्यत्र हुआ है, भारतीय संविधान में भी नये नीतिमूल्यों का अंतर्भाव किया गया । आज़ादी, समता, बंधुता, सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक न्याय, लोकतंत्र आदि वे मूलभूत नीतिमूल्य हैं। मूलभूत अधिकार, मूलभूत कर्तव्य इनके प्रति भी वहां आपको मार्गदर्शक तत्व मिलेंगे।

संविधान में मूलभूत अधिकारों के विभाग में , धर्म-आज़ादी के सन्दर्भ में २५ से लेकर ३० तक, छह धाराएं मिलती हैं। उसमें २५ वीं धारा में दो उपधाराएँ हैं। २५ (१)में कुछ शर्तों के साथ व्यक्तिगत स्तर पर धर्मपालन की आज़ादी दी गई है । वे शर्तें हैं-कानून-व्यवस्था , नीतिमत्ता, स्वास्थ्य तथा संविधान द्वारा अन्यो को प्रदत्त मूलभूत अधिकार । इनके अंतर्गत सद्विवेक की आज़ादी और धर्म का मुक्त ढंग से पालन करने का , उसका प्रचार करने का प्रत्येक को समान

अधिकार। उपरोक्त शर्तों का जहाँ उल्लंघन होगा , वहाँ यह आज़ादी भी मर्यादित की जा सकेगी । यहाँ नीतिमूल्यों के अधीन रहते हुए धर्म का पालन करने का अर्थ एक व्यक्ति का दूसरे के साथ व्यवहार कैसा हो, इस विषय के तत्त्व, नियम या शिष्टाचार। पहले ये सारी बातें धर्म ही निश्चित करता था, लेकिन संविधान कि धरा २५ (१) ने धर्म को इस अधिकार क्षेत्र से बाहर कर दिया है।

जब तक एक धर्म माननेवाला समाज था तो कोई समस्या नहीं थी। लेकिन समय के साथ अलग-अलग धर्म मानने वाले जब एकदूसरे के संपर्क में आने लगे, इतना ही नहीं तो एक समाज के रूप में उनका संगलन होने लगा , और उनके उपरोक्त ढंग के नीतिमूल्यों में एकवाक्यता नहीं पायी गयी, तो समाज को नियंत्रित करने वाली संस्था के रूप में कार्यरत राज्य और धर्म इनमें आपस में संबंध कैसे हों, इस बात से 'धर्मनिरपेक्षता' की संकल्पना का उदय हुआ।

जहाँ तक भारत का संबंध है , १९७६ से पूर्व भी यह परिणाम देनेवाला अर्थ संविधान की धारा २५ में विद्यमान था ही , लेकिन १९७६ में उसका औपचारिक अंतर्भाव हुआ । १९७३ में,' केशवानंद भारती 'प्रकरण में सर्वोच्च अदालत ने यह निर्णय दिया ही था कि सेक्यूलरिज्म यह भारतीय संविधान की अभिरचना का हिस्सा है ही। फिर इस शब्द पर उग्र बहस होने लगी।

'हिन्दुत्ववादियों ने कहा, राज्य यह केवल धर्मराज्य ही हो सकता है।'

' मुस्लिमों ने धर्मनिरपेक्षता को इस्लाम विरोधी घोषित किया।'

लेकिन दुनिया की विद्यमान स्थिति , न्यायपालिका के निर्णय , शासन की भूमिका और भारतीय संविधान के प्रति दिखाई देने वाली आम सहमति इनको देखते हुए, यह निश्चित हुआ कि इस संकल्पना से पीछा छुड़ाना अब असंभव है , तो सभी इस प्रयत्न में जुट गए कि केवल अपने को ही वास्तव धर्मनिरपेक्ष घोषित करें और बाकी लोगों को छद्म धर्मनिरपेक्ष बताएं । फिर इस संकल्पना की अलग-अलग परिभाषाएं गढ़ी जाने लगीं । हिंदुत्ववादी कहने लगे कि भारत देश तो प्राचीन समय से ही सेक्युलर है। हिन्दू राष्ट्र सेक्युलर ही होगा।

कड़ियों का कहना है कि राजनीति और राज्यसत्ता का आधार धर्म होना चाहिए । धार्मिक आधार का अर्थ राजनीति में धार्मिक कर्मकांड, पूजाअर्चा यह न भी लिया जाए और मूल्याधिष्ठित-नैतिक आचार-विचार लिया जाए, सत्य, अहिंसा, न्याय आदि मूलभूत मूल्य लिया जाए, तो क्या इन मूल्यों पर केवल अध्यात्म का ही एकाधिकार है? सारे मानव समाज ने किये वैचारिक प्रगति का क्या कोई मूल्य नहीं है? सिर्फ धर्म को अपनाने से ही व्यवस्थापन संभव है? अगर यह इतना ही अनिवार्य रहता तो विश्व का आधुनिक समाज धर्म को सामाजिक जीवन से हटाकर व्यक्तिगत स्तर पर सीमित क्यों करता?

@डॉ.शरद अभ्यंकर, वाई महोदय ने मराठी दैनिक लोकसत्ता को , एक लेख के सन्दर्भ में , भेजी हुई प्रतिक्रिया (उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए) मैं यहाँ देना चाहूंगा।

"धर्म का पवित्र स्थल यह शांत , आनंदमय, मन को सांत्वना देने वाला हो ऐसी अपेक्षा रहेगी। जेरूसलेम यह मुस्लिम , ईसाई और यहूदी, इन तीन अत्यंत महत्वपूर्ण वैश्विक धर्मों की अत्यंत पवित्र जगह है। लेकिन इस शहर का इतिहास रक्तपात, युद्ध, आगजनी, लूटपाट बॉम्बस्फोट जैसे पापी कृत्यों से भरा हुआ है। इसरायली विरुद्ध फिलिस्तीनी, मुस्लिम विरुद्ध ईसाई, ज्यू विरुद्ध मुस्लिम ऐसे कट्टर शत्रु -मित्रों के झगड़ों में यह शहर जलता रहा । इस शहर पर अबतक ५२ हमले हुए। ४४ बार शहर पर अधिकार बदलता रहा। २३ बार शहर की घेराबंदी हुई और दो बार इसे पूरी तरह नष्ट कर दिया गया । जानमाल का कितना नुकसान हुआ होगा इसका कोई अंदाजा लगा सकता है? यहाँ के नागरिकों ने यदि कोई भी धर्म न अपनाया होता तो वे ज्यादा सुखी होते ।"

@ ३ जनवरी २०१८ को व्हाट्सप्प पर आये इस सन्देश को देखिये -

"तीस हजार का मोबाइल लेकर घूमने वाले 'हिन्दुओं पांच-सात हजार का हथियार भी खरीदकर घर में रख लों। जिस दिन धर्मयुद्ध होगा उस दिन यह मोबाइल काम नहीं आएंगे।"

यह सन्देश देने वाले धर्मयोद्धा कौनसे धर्मयुद्ध की प्रतीक्षा कर रहे हैं , पता नहीं। इतिहास में कई धर्मयुद्ध हुए लेकिन उन्होंने मानव जाति की झोली में तबाही के अतिरिक्त क्या डाला? उलटा आज दुनिया को मानवता के प्रति संवेदनशील स्थिति में लाने के लिए जो संघर्ष हुए, आंदोलन चले उनमेंसे अधिकतर ने धर्म को त्याज्य ही घोषित किया है । हम आज भी देख सकते हैं कि धर्म की आड़ में आज भी लड़े जा रहे युद्धों ने इराक , सीरिया आदि देशों की कितनी बर्बादी की है। क्या ये लोग, भविष्य में भारत का भी ऐसा ही चेहरा देखना चाहते हैं?

भविष्य की बात क्यों ? ये लोग आज भी छिपा युद्ध खेल ही रहे हैं । उनके द्वारा मनुष्य के विवेक की ही नहीं तो इस विवेक को जागृत करने के लिए संघर्ष करने वालों की हत्याएं हो रही हैं। उदा .डॉ.नरेंद्र दाभोलकर(हत्या२०१३), कॉमरेड गोविन्द पानसरे(हत्या२०१५) ,प्रो .कलबुर्गी(२०१५), निर्भिड पत्रकार गौरी लंकेश (२०१७) आदि। यह सूची बड़ी लम्बी है। लेकिन इन हत्याओं ने पूरे देश को विचलित कर दिया था । इन हत्याओं पर माननीय पी.चिदंबरम ने लिखा है,"इनमें से कोई भी किसी गरीब का शोषण करने वाला नहीं था । किसीके पास न राजकीय सत्ता थी, न उनमें से कोई सत्ताकांक्षी था , न कोई किसी ओहदे पर था , न कोई हिंसा का समर्थक था , न इनकी किसीसे व्यक्तिगत दुश्मनी थी।--फिर इनकी हत्या करने वाले कौन हो सकते हैं ,भला?"

उन सभी व्यक्तियों में एक समानता थी । सभी ने विवेकवाद के प्रचार के लिए अपना जीवन समर्पित किया हुआ था । लेकिन आजतक इनमें से किसी भी मामले को इतने तामझामवाली सरकार, न्याय के अंतिम परिणाम तक नहीं पहुंचा पाई । मुंबई उच्च न्यायालय ने एक निरीक्षण जरूर दर्ज किया है (२३-८-२०१७)

"अभीतक चली जाँच में मिली जानकारी के आधार पर इतना निश्चित कहा जा सकता है कि डॉ. दाभोलकर, पानसरे इनकी हत्याएं पूर्वनियोजित थीं । इनके पीछे किसी एक संगठन की शक्ति और खास तौर पर आर्थिक शक्ति थी।"

उल्टा इस जाँच को तथा प्रत्यक्ष अंधश्रद्धा निर्मूलन कानून को एक विशिष्ट धर्म के विरुद्ध षड्यंत्र, ऐसा रूप देने का प्रयास किया जा रहा है । इन लोगों को लगता है, उनके विचारों के प्रति असहमति रखनेवालों को दंगाई दंग से इतनाही नहीं तो प्रत्यक्ष हिंसाचार का प्रयोग करके दबाने में कुछ भी गैर नहीं है । या फिर सबसे आसान तरीका है , खींचतान करके उनका चरित्र हनन किया जाये। एक बार यह बात प्रसृत हुई कि उनके तर्कपूर्ण बात का उत्तर देने की जरूरत ही नहीं। ब्रकिंगज नाम के व्यक्ति ने विविध विद्यापीठों में किये सर्वेक्षण के अनुसार युवाओं में ऐसा माननेवालों का प्रतिशत ५१ तक पहुंच गया है (मतभेदातील मांगल्य :गिरीश कुबेर लोकसत्ता)धर्म का झंडा लेकर घूमनेवाली ऐसी यह परपीड़क मण्डली हैं।

राजनीति ही नहीं तो समाजनीति भी धर्म पर आधारित होनी चाहिए , ऐसा कहने वालों के लिए, एक समाचार यह भी -

दुनिया में जिसका राष्ट्रीय धर्म हिन्दू था ,ऐसा एक अकेला देश था नेपाल । लेकिन २००७ के बाद यह देश भी धर्मनिरपेक्षता के साथ लोकतंत्र का स्वाद ले रहा था । इस समय माओवादियों ने अपने नेता पुष्पदहल 'प्रचंड ' के नेतृत्व में मुख्य धारा में आने के अपने प्रयत्न के तहत, वहां की राजशाही को उखाड़ फेंका था और नेपाल को 'धर्मनिरपेक्ष गणराज्य 'घोषित किया था ।लेकिन वहां यह हवा चली या चलाई गई कि 'अपनी जड़ों की ओर लौट चलो '। राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी के अध्यक्ष कमल थापा और अमृत बोहरा ने छह सौ एक सदस्योंवाली संविधान सभा की बैठक में सन २०१५ में यह मांग की थी कि देश के प्रस्तावित संविधान से 'धर्मनिरपेक्ष 'शब्द हटा दिया जाए और उसकी पुरानी ' हिन्दू' पहचान को बहाल किया जाए। लेकिन उन्हें इतने सदस्यों का भी समर्थन नहीं मिल पाया कि वे अपने पक्ष में मतदान पर जोर दे पाते । इसके लिए उन्हें कम से कम ६१ सदस्यों का समर्थन चाहिए था । लेकिन समर्थकों की संख्या कुछ ३० के आसपास ही अटक गयी।

राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी भलेही अपने नाम में प्रजातंत्र जोड़ लेती हों , लेकिन यह सर्वविदित है कि वह हिंदुत्व की पुनर्स्थापना में ही रूचि नहीं रखती तो राजशाही की भी समर्थक है । आज इस मांग को ठुकराने का ठिकरा माओवादिओं पर भी फोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि आज की स्थिति में माओवादी तीसरे स्थान पर हैं। अर्थात् अन्य पार्टियों ने भी इस मांग को ठुकरा दिया है । कोई भूतकाल के उस स्वर्ण युग में लौटना नहीं चाहता और धर्म के चंगुल से समाज को आजाद ही रखना चाहता है। तो हिन्दू उग्रवादी वहां हिंसा पर उतर आये थे।

भारत किसी समय भौतिक समृद्धि के रास्ते पर दुनिया से कहीं आगे था , जबतक उसके लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जीवन के आदर्श पहलु थे । अर्थ का मतलब था भौतिक उन्नति । काम अर्थ व्यापक रूप में , मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति था । धर्म का अर्थ समकालीन स्थिति के अनुसार समाज की धारणा के लिए बने नियम था । मोक्ष का अर्थ किसी काल्पनिक आत्मा की मुक्ति नहीं तो मनुष्य जीवन को अधिक सहनीय स्थिति प्रदान करना था । लेकिन आगे धर्म और मोक्ष का अर्थ 'अस्तित्व ' से हटकर काल्पनिक संकल्पनाओं में उलझ गया । मनुष्य का जीवन इन दो संकल्पनाओं के बीच फंस गया और हम इस स्थिति में पहुंच गए।

अब अंत में फ्रेडर ने धर्म के लिए जिन दो तत्वों की अनिवार्यता बताई है उन्हें भी देख लें -१) प्रकृति के नियमों का ईश्वर की इच्छा द्वारा अनुशासित होना।

२) परमात्मा की इच्छा को प्रार्थना , पूजा, उपासना, बलि आदि कर्मकांडों द्वारा स्वानुकूल किया जा सकना।

लेकिन यह ध्यान में लेना आवश्यक है कि ये दोनों तत्व मूल 'ऋत' की धारणा में नहीं थे।

शाश्वतता

अध्यात्म इसी नींव पर खड़ा है कि जगत में सब कुछ परिवर्तनीय है और जो परिवर्तनीय है उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। इस कारण मनुष्य को शाश्वत तत्व की खोज में जूट जाना चाहिए। इस प्रयत्न में कुछ तत्वों को शाश्वत घोषित भी किया गया। उनमें से कुछ तत्व इस प्रकार हैं -

१) देश और काल : इनके बिना हम हमारे अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते।

न्यूटन के क्लासिकी यांत्रिकी के पार्श्व में काल और देश, पिंडों के विस्थापन की बाह्य अवस्थाएं थीं जिनका पिंडों के भौतिक गुणों से संबंध नहीं था और वे एकदूसरे पर निर्भर नहीं ऐसा माना जाता था। न्यूटन ने देश, काल तथा उनमें गतिमान पिंडों को मनुष्य की चेतना से परे, विद्यमान वस्तुओं के रूप में चित्रित किया था। यह दृष्टिकोण भौतिकवादी था लेकिन इसकी प्रकृति यांत्रिक स्वरूप की थी। वस्तुगत प्रत्ययवादी ऐसा मानते थे कि काल और देश की सर्जना दैविक शक्ति ने या निरपेक्ष आत्मा ने की और वे भूतद्रव्य के रूप नहीं हैं बल्कि निरपेक्ष आत्मा के अनुगुण हैं। इस कारण उनका भूतद्रव्य से संबंध नहीं। तो अठारहवीं सदी के महान दार्शनिक इमैन्युअल कांट (१७२४ - १८०४) ने इन्हें भौतिक घटनाओं के अनुगुण नहीं तो मनुष्य द्वारा उनके प्रत्यक्षण की अवस्थाएं माना और आत्मगत प्रत्ययवादी विचार दिया।

लेकिन बीसवीं सदी में जब विशेष और सामान्य सापेक्षता सिद्धांतों की रचना हुई और उनकी वस्तुगत तौर पर पुष्टि भी हुई तो यह स्पष्ट हो गया कि देश और काल निरपेक्ष तत्व नहीं हैं। प्रकाश की गति के निकटवर्ती वेगों पर गतिमान पिंडों के आयाम घट जाते हैं और काल मंद पड़ जाता है। इसके अलावा पिंड के द्रव्यमान के अनुसार देश के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। द्रव्यमान जितना अधिक हो, देश युक्लिडीय देश से उतना ही भिन्न होता जाता है आदि - आदि। अर्थात् वे भौतिक दुनियां से पूरी तरह जुड़े हैं। उनका अस्तित्व वस्तुगत है। तो दोनों प्रत्ययवाद अपने आप ही खारिज हो जाते हैं।

कार्य - कारण सम्बन्ध -

इस विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। इनका आपस में सम्बन्ध होना और वह भी वस्तुगत सम्बन्ध होना इस बारे में सभी आश्वस्त हैं। लेकिन प्रत्ययवादियों के अनुसार किसी भी घटना का अपना ही एक कारण होता है और प्रत्येक कारण अपने ही निश्चित कार्य या परिणाम को जन्म देता है। इस दृष्टिकोण को अधिभूतवादी नियतत्ववाद कहते हैं।

लेकिन क्वांटम भौतिकी के बाद अब यह स्थापित हो गया है - प्राथमिक कणों तथा अंतःपरमाण्विक स्तर की दुनिया में कारणता सम्बन्धी अन्तर्क्रियाओं का स्वभाव पूर्णतः असंदिग्ध नहीं रहता। जैसा कि कहा जाता है एकमूल्यक नहीं, बहुमूल्यक होता है। किसी भी पृथक कारण के, कार्य का निश्चितता से पूर्वानुमान लगाना कठिन है | ऐसी घटनाओं का वर्णन करते समय प्रसंभाव्यता का सिद्धांत लागू करना पड़ता है। यह अनियतत्वता की कोटि के मूल्याङ्कन की ओर ले जाता है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद यह दर्शाता है कि कोई भी घटना अनेक भिन्न-भिन्न कारणों का परिणाम हो सकती है और एक ही कारण के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न कार्य हो सकते हैं।

श्रद्धा -अंधश्रद्धा

श्रद्धा आदमी को आशावादी बनाती है । अपनी मर्यादा में और क्षमता में होनेवाली बातें पुरे मन से और पूर्ण शक्ति लगाकर करने के बाद यश प्राप्त होगा , ऐसी आशा हम रख सकते हैं। श्रद्धा हमें क्रियाशील बनाती हैं । लेकिन उसके लिए आवश्यक है बुद्धि और तर्क के आधार पर नियोजन। ऐसी विवेकपूर्ण श्रद्धा के साथ किया हुआ काम सफल होने की सम्भावना अधिक होती है। तभी वह किसी उद्देश्य के साथ आगे बढ़ता है।

जबकि अंधश्रद्धा आदमी को असहाय बनाती है । अंततः किसीके तो द्वारा शोषण करने के लिए उसे प्रस्तुत करती है । लेकिन यह मामला बड़ा नाजुक है । श्रद्धा और अंधश्रद्धा इनको विभाजित करनेवाली रेखा इतनी महीन होती है कि वह कब पार हो गई और श्रद्धा , अंधश्रद्धा में रूपांतरित हो गई इसका भान बड़ों-बड़ों को नहीं रहता । आज दुनिया में आतंकवादियों ने उच्छेद मचा रखा है। अन्यो के लिए तो वह विद्रूप अंधश्रद्धा है लेकिन आतंकवादियों के लिए तो वह महत्तम श्रद्धा है। तभी तो वे अपने आप को बम से उड़ा देने के लिए तैयार रहते हैं।

श्रद्धा के दो पहलू हैं। एक तुम्हारा व्यक्तिगत, जिसका अन्यो पर कोई विपरीत परिणाम नहीं होता। उदा. परीक्षा का पेपर देने जाते समय तुमने मूर्ति को नमस्कार करना । नमस्कार करना, न करना और नमस्कार करने से भला होगा , यह मानना यह तुम्हारा अपना मामला हो गया। लेकिन कोई लड़की मंगली है , इस कारण अगर उसकी शादी नहीं होती होगी तो वह एक सामाजिक समस्या बन जाती है। यहाँ बात व्यक्तिगत नहीं रहती। यहाँ तुम्हारी सोच अंधविश्वास में बदल गई है जो किसीके लिए तो पीड़ादायक है।

श्रद्धा दो तरह की होती है । एक स्वयंस्फूर्त श्रद्धा , जैसे अपनी माँ के प्रति । इसका अनुभव से विनासायास ही उद्भव होता है । दूसरी श्रद्धा मूल्यों के प्रति होती है । आज्ञादी, समता, बंधुता, मानवता ,धर्म आदि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को अपनी बुद्धि का , तर्क के साथ उपयोग करना पड़ता है या उसने करना चाहिए । वास्तव में धर्म यह भी इस दूसरी श्रेणी में ही आएगा। लेकिन अधिकतर इसे स्वयंस्फूर्त श्रद्धा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

अब बात भूतप्रेत , भानामती जैसी कल्पनाओं के प्रति विश्वास की । एक दैवी अवतार के विरोध में एक प्रतिदैवी या राक्षसी अवतार का अवतरण आवश्यक है । उसके अभाव में अवतार अपनी पूर्णता को प्राप्त कैसे होगा? लेकिन जिसतरह ईश्वर का सिद्ध होना संभव नहीं तो फिर इस, उसके प्रतिव्यक्तित्व का कैसे संभव है ?

"All logical is against it, but all belief is for it." डॉ .जॉसन कहते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि औरतों के शरीर में देवी प्रवेश कर जाती है और फिर इन औरतों में असामान्य शक्तियों का दर्शन होता है । लेकिन अक्सर देखने में आता है कि ये औरतें अनपढ़ होती हैं। किसी पी.एच.डी .प्राप्त स्त्री के शरीर में देवी आने की बात सुनने में नहीं आती । ऐसी स्त्री में कुछ असामान्य व्यवहार देखने मिला तो उसका मनोवैज्ञानिक इलाज किया जाता है।

किसी महाविभूति ने कहा है कि लोगों के शरीर में देवी ही क्यों आती है ? झांसी की रानी ,सावित्रीबाई फुले जैसी क्रांतिकारी महिलाएं क्यों नहीं आती ? जिस दिन ऐसा होगा , उस दिन हमारे समाज का चित्र ही कुछ और होगा।

अंधश्रद्धा के कारण हुई कुछ घटनाएं -

बेटा अमेरिका में इंजीनियर और तांत्रिक की सलाह पर भीख मांगने लगी महिला : घटना हैदराबाद की है । शहर को भिक्षावृत्ति से मुक्त करने के अभियान के अंतर्गत , तेलंगना कारावास विभाग ने, पुलिस और नगर निगम ने साथ मिलकर २३५ पुरुषों और १३० महिलाओं को पकड़ा था । उसमें एक ५० वर्षीय महिला थी । उसने पुलिस को बताया कि उसके पास एम्.बी.ए.की उपाधि है। वह पहले लन्दन में अकाउंटेंट का काम करती थी । उसके बेटे ने, संपर्क करने पर, इस बात की पुष्टि की।

तो दूसरी एक महिला अमेरिका में रह चुकी है। उसके पास ग्रीन कार्ड है। इस महिला के पति की मौत हो चुकी थी और वह कुछ दिक्कतों का सामना कर रही थी । उसने एक तांत्रिक से संपर्क किया और उसकी सलाह पर एक दर्गा के पास भीख मांगनी शुरू कर दी । उसका बेटा अमेरिका में आर्किटेक्ट है। (लोकमत समाचार २२ -११ -२०१७)

उत्तरप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, झारखण्ड इतनाही नहीं तो प्रगतिशील समझे जानेवाले महाराष्ट्र में एक अफवा फैलती है -इस क्षेत्र की महिलाओं के बाल काटे जा रहे हैं । एक महिला के अनुसार एक रात में घर के सभी सदस्य नींद में थे तब खिड़की के रास्ते एक काली बिल्ली आई। देखते-देखते उसने आदमी का रूप धारण किया। यह भयानक दृश्य देखकर महिला बेहोश हो गई। लेकिन बाद में पाया गया कि उस व्यक्ति ने या भूत ने महिला के बाल काटे । (अगस्त २०१७)। ऐसी अफवाएं फैलाने में मिडिया के ऐप्स बड़ी भूमिका निभा रहे हैं । क्योंकि ऐसी बातों के प्रति उत्तरदायित्व निश्चित करने के लिए कोई परिणामकारक यंत्रणा ही नहीं है।

ऐसी अफवाएं या तो समाज जीवन दूषित करती हैं या फिर निर्दोष लोगों की जान जाने का कारण बनती हैं। मासाकूसेट इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के अनुसंधानकर्ताओं ने ट्विटर पर प्रसारित हुई १,२६ ,००० कहानियों या समाचारों पर अनुसन्धान करने पर पाया कि उनमें से ७० % बातें असत्य थीं । इतना ही नहीं तो , सच बातों के स्थान पर अफवाहें अधिक तेजी से

फैलती हैं और उनके विस्तार का दायरा भी अधिक होता है। (इसका कारण यह हो सकता है कि वे अधिक सनसनीखेज होती हैं ।) इन बातों से लगभग ३० लाख लोग जुड़े थे । ये बातें २००६ से लेकर तो २०१७, इतने विस्तृत कालावधि की थीं । इस अनुसन्धान के परिणामों की पुष्टि अन्य छह, स्वतंत्र रूप से छानबीन करनेवाले संस्थानों ने भी की । परिणाम ८ मार्च २०१८ के साइंस जर्नल में प्रकाशित हुए थे।

हमारे सामने कई बार आंकड़े प्रस्तुत किए जाते हैं । सांख्यिकी से लिए गए ये आंकड़े असत्य न होने पर भी यह जरूरी नहीं कि वे सौ प्रतिशत सत्य ही उद्धृत कर रहे हों।

आज तो इन प्रसार माध्यमों के कारण जो बात प्रसारित हो रही है वह यह है कि बौद्धिक मतभेद यह सामाजिक चेतना का लक्षण नहीं तो शत्रुत्व के परिचायक हैं तथा वैचारिक मंथन यह पिछड़ेपन की निशानी है। दुनियां अब अपने वैचारिकता के अंतिम पड़ाव पर पहुंच चुकी है। उसे चुपचाप मान लो।

अंधविश्वास के कारण मनुष्य के साथ अमानुष व्यवहार-

अंधविश्वास के कारण प्रताड़ित होनेवाली महिलाएं अधिकांश मामलों में गरीब घर की , प्रौढ़, विधवा, परित्यक्ता, निःसंतान होती हैं । अन्धविश्वास के कारण किसी व्यक्ति के सामान्य अधिकारों का हनन होता है। मानसिक बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति को भूत-प्रेत बाधित मानकर उसका किसी मानसिक चिकित्सालय में उपचार करने के स्थान पर , जंजीरों से जकड़ कर उसे किसी झांड-फूंक करनेवाले को सौंप दिया जाता है । उसे भूत उतारने के नाम पर , डंडे, चाबुक आदि से मारा-पीटा जाता है। कई तरह की यंत्रणाएं दी जाती हैं । कभी-कभी तो उसमें पीड़ित की मौत हो जाती है।

सामाजिक कुरीतियों, जातिभेद, बालविवाह, छुआछूत, विधवा होने जैसे मामलों में मनुष्य को मानसिक ही नहीं तो शारीरिक यातनाओं से गुजरना पड़ता है । इसमें बड़े पैमाने पर मानवाधिकारों का हनन तो होता ही है।

फल ज्योतिष्य शास्त्र

भले ही कुछ सरकारों के शासन के दरम्यान , प्रत्यक्ष इस शताब्दी के शुरू में ज्योतिष्य शास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा तथा राजाश्रय देने का प्रयत्न किया गया हो लेकिन दुनिया के १९२ वैज्ञानिकों ने (जिनमें १२ नोबेल पुरस्कारप्राप्त) कहा है कि यह कोई शास्त्र नहीं है।

दिव्य-दृष्टी -

यह भी एक झूठ है। अगर इसमें थोड़ी भी वास्तवता है तो इसका उपयोग गुनाहों की रोकथाम तथा अन्य सामाजिक उत्थान के कार्यों में क्यों नहीं किया जाता?

श्रद्धा और व्यावहारिक कठिनाइयां-

आज भारत दुनिया का सबसे अधिक दूध उत्पादक देश बन गया है। भारत में गौ को माता का दर्जा दिया गया है। इस भावनात्मक लगाव में कोई बुराई भी नहीं है। इसी कड़ी में २०१७ में उ.प्र. में आदित्यनाथ सरकार आने के बाद उसने गौ के साथ-साथ सभी जानवरों के व्यापार पर पाबन्दी लगा दी। इसी दरम्यान जानवरों की दुलाई करनेवाले व्यापारियों पर जानलेवा हमले हुए। परिणामतः डर का वातावरण उत्पन्न होने से उत्तर भारत में जानवरों का व्यापार लगभग बंद हो गया।

भारत से मांस और जानवर निर्यात करनेवाले संगठन के अनुसार प्रति वर्ष २० लाख गौ, दूध देने के काम की नहीं रहतीं। अतः उन्हें बंगला देश निर्यात किया जाता था। वहां उनका उपयोग मांस और चमड़ा उद्योग में किया जाता था।

ये जानवर उसके मालिक के किसी काम के नहीं रहते। अगर उनका पालन करना रहा तो प्रति जानवर प्रति दिन २०० रु. खर्चा आता है। कम से कम आज की स्थिति में भारत के कृषक यह भार उठाने की स्थिति में नहीं हैं। स्वाभाविक तौर पर बेवारिस के तौर पर उसे छोड़ देता है। ये जानवर कृषि फसल के लिए समस्या खड़ी करते हैं।

इन बेवारिस जानवरों के लिए सरकार द्वारा गोशालाएं खड़ी की जा रही हैं। लेकिन मिलनेवाले समाचारों से पता चलता है कि इन गोशालाओं की स्थिति क्या है? ये गौएँ गोशालाओं में ही चारे के अभाव में मर रही हैं। इतना ही नहीं तो गोशालाएं चलानेवाले कुछ जन, गौ को स्वीकारने के ऐवज में १०००० तक चंदा मांग रहे हैं। इस तरह प्रति वर्ष सुखनेवाली गायों को संभालने के लिए करोड़ों-करोड़ों का बजट भी कम पड़ेगा। (भारत भैसों के मांस निर्यात में भी प्रथम है और ३० हजार करोड़ रु. का निर्यात करता है।) यहाँ भावना और वास्तवता का टकराव है।

अंधश्रद्धा निर्मूलन-

महाराष्ट्र में अखिल भारतीय अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति तथा महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति ये दो संघटनाएँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार और प्रचार करने, प्रत्यक्ष तथा कानूनी स्तरों पर संघर्षरत हैं। जादूटोना विरोधी विधेयक स्वीकृत कराने राज्य के प्रगतिशील संगठनों ने

लगातार अठारह वर्षों तक प्रयत्न किए । लेकिन इसे भी 'हिन्दुधर्म विरोधी' कहते हुए प्रत्यक्ष विधानसभा में कुछ सदस्य विरोध करते रहे और दाभोलकर जैसे समाज प्रबोधन के लिए हौतात्म्य स्वीकार करनेवाले व्यक्ति के प्रति हीन भावना व्यक्त करने से नहीं चुके । (लोकमत १९ -१२ -२०१३)

अंध श्रद्धा निर्मूलन समिति ने कई सालों से , चमत्कार सिद्धता के लिए इक्कीस लाख रु . का बक्शीस रखा हुआ है। वैश्विक स्तर पर तो जादूगर जेम्स रैंडी ने दस लाख डॉलर्स का बक्शीस घोषित किया है । लेकिन आजतक कोई दिव्य दृष्टिवाला दिव्य पुरुष इसे स्वीकारने आगे नहीं आया। आएगा कैसे ? भोलेभाले श्रद्धालुओं को ठगना आसान होता है । चिकित्सक पंचों के सामने हाथ सफाई संभव नहीं।

अध्यात्म और प्रसन्नता

अध्यात्म यह दावा करता था कि मनुष्य के दुःखों का कारण अज्ञान है । मनुष्य के अंदर जो अमृत घट विद्यमान है वहीं आनंद का स्रोत है । उसपर तन, मन और बुद्धि के मेल का या मेल का आवरण है , वह हटा कि जीवन दुःखों से मुक्त होकर सुख से ओतप्रोत हो जाता है । बुद्धि की स्थिरता ही स्वास्थ्य का लक्षण है और परमात्मा की सम्पूर्ण व्यवस्था जान लेने पर बुद्धि स्थिर हो जाती है। लेकिन यह सब उपदेश अमूर्त है।

प्रकृति के नियमों के एवं उद्देश्यों के विपरीत आचरण करने से निश्चित रूप से दुःख प्राप्त होता है या हम प्रसन्नता से दूर रहते हैं । शरीर का शोधन , मन का नियंत्रण और बुद्धि का निर्विकार होना, दुःख मुक्ति और सुख प्राप्ति के लिए आवश्यक है ।हमारी इन्द्रियाँ हमारे काबू में हो, मन स्थिर हो और बुद्धि निर्मल हो। ध्यान हमारे सतत चंचल मन को शांत करता है। इसलिए श्वासोश्वास से शुरुआत करते हैं। आँखें बंद कीजिए और अपने प्राकृतिक श्वासोश्वास के साथ रहिए , आदि। ये सारी बातें आध्यात्मिकता में हो लेकिन वे इस भौतिक दुनिया से संबद्ध हैं । उसमें अस्तित्व पार का कोई तत्व नहीं है। अतःउनके साथ असहमत नहीं हो सकते।

लेकिन अब दुनिया प्रसन्नता का क्षेत्र भी अमूर्त संकल्पनाओं के भरोसे छोड़ना नहीं चाहती। ऐसा लगता है यह क्षेत्र भी अध्यात्म की पकड़ से छूटता जा रहा है।

प्रसन्नता सूचकांक -

२० मार्च का दिन आंतरराष्ट्रीय प्रसन्नता दिन के रूप में घोषित किया गया है । किसी भी देश की उन्नति को मापने का सबसे प्रचलित पैमाना 'सकल घरेलु उत्पाद '(जीडीपी) या' विकास दर' है। लेकिन इसपर कई सवाल उठाए गए हैं । एक तो यह कि , यह किसी देश की कूल अर्थव्यवस्था की गति को तो सूचित करता है, लेकिन इससे यह पता नहीं चलता कि आम लोगों तक विकास का लाभ पहुंच रहा है या नहीं।

दूसरी बात है जीडीपी का पैमाना , केवल उत्पाद वृद्धि की दृष्टि से किसी देश की अर्थव्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है लेकिन नागरिकों के साथ , रोजगार, सुरक्षा की दृष्टि से देश किस पायदान पर खड़ा है यह स्पष्ट नहीं होता।

@ जीडीपी की आज की अर्थव्यवस्था में सटीकता -

जीडीपी इस महत्वपूर्ण संकल्पना के अन्वेषक सायमन कूजनेट्स (Kuznets) ने स्वयं आगाह किया था कि जीडीपी और जीवन-सौख्य (Well being) को एक न समझा जाए।

आम तौर पर एक विशिष्ट समयावधि में माल उत्पादन और सेवाओं में हुए विस्तार के माप को आर्थिक वृद्धि माना जाता है और उसे समाज विकास का सर्वोच्च पैमाना माना जाता है।

सम्पत्ति, गरीबी, जीवन सौख्य और वृद्धि विमोह (वेल्थ ,पावर्टी एंड वेल बीइंग : ग्रोथ डेलूजिअन) के लेखक डेविड पीलिंग (**david pilling**) ने फिर इस बात को अपने प्रबंध में सोदाहरण स्पष्ट किया है।

जबतक गरीब देश अपने आपको विकसित अर्थव्यवस्था में रूपांतरित करने में लगे हैं तब तक यह ठीक है। सामान्य वृद्धि का अर्थ है अच्छी शिक्षा, अधिक स्वास्थ्य सेवा, निवास व्यवस्था, गृहपयोगी सामान की उपलब्धता, रोजगार के समान अवसर आदि। इसके लिए चीन, भारत जैसे देश प्रयत्नशील हैं। ये नागरिकों के जीवन में सकारात्मक बदलाव ला सकते हैं। लेकिन लेखक ने इसे अप्रौढ़ विकास ही कहा है।

दूसरी बात, आज विकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में सेवा गतिविधियों का अनुपात, माल उत्पादन की तुलना में **80%** तक पहुंच गया है। जबकि इस बाजार नियंत्रित व्यवस्था में हर चीज की कीमत है, विकिपीडिया, मनुष्य समाज द्वारा एकत्रित किया ज्ञान मुफ्त में उपलब्ध करा रहा है। इसका पर्यावरण पर भी कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं है। अर्थात् इसका जीडीपी के प्रति कोई योगदान नहीं है। लेकिन इसकी व्याप्ति काफी बड़ी है। आज इस तरह की कई सेवाएं हैं। अतः जीडीपी का सटीकता से निर्धारण काफी कठिन हो गया है।

जिसे कि ऊपर अप्रौढ़ विकास कहा गया है वह अंततः परिमाणात्मक पैमाना है, गुणात्मक नहीं। जब देश या समाज, समृद्धि के एक विशिष्ट स्तर तक पहुंच जाता है तो आर्थिक विकास और जीवन-सौख्य का नाता टूट जाता है। अब अधिक भौतिक उपलब्धता अपने आप जीवन सौख्य के बराबर नहीं होती।

ऐसे स्तर पर आपके जीवन सौख्य में स्वस्थ लम्बे जीवन की अपेक्षा, सामाजिकता का भान, अपराधों का न्यूनतम दर, साफ-स्वच्छ वातावरण और लोगों को जीवन के प्रति होनेवाली विशिष्ट अनुभूति (जिसमें अनिश्चितता का किसी भी तरह का अंश न हो) इनका अंतर्भाव होगा।

कभी-कभी जीवन-सौख्य और भौतिक वृद्धि एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। अगर आपको यह प्रस्ताव मिले कि आप चाहे तो सप्ताह में आठ घंटा अधिक काम कर सकते हैं, जिससे आपकी आर्थिक स्थिति, भौतिक समृद्धि में वृद्धि होगी। लेकिन समृद्धि के एक विशिष्ट स्तर पर पहुंचने के बाद आपके इस आर्थिक वृद्धि के स्थान पर यही समय आपको अपने परिवार के साथ बिताना अधिक सुखकर लगे और आप इस प्रस्ताव को नकार दें। अब आपके समृद्धि के मापदंड बदल गए हैं।

इसी तरह अब समय आ गया है कि विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों की सरकारें ही नहीं तो वहां का समाज भी अपनी प्रायिकता को आर्थिक समृद्धि के स्थान पर जीवन सौख्य की ओर मोड़े ताकि इस धरती पर डाला जा रहा बोझ कम हो और वे समाज जिस तनाव में जी रहे हैं, उनसे मुक्त हो, उपलब्ध संसाधनों का अपव्यय टालते हुए।

इसीलिए अन्य मानकों के विषय में चिंतन होने लगा _

इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास भूटान जैसे छोटे से देश ने किया | १९७२ में भूटान के तत्कालीन राजा जिग्मे सिग्मे वांगछुक ने प्रथम ही जीडीपी के स्थान पर सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता की अवधारणा के आधार पर सर्वे किया।

भूटान की स्थिति पर भी एक नजर डालें | वहां तम्बाकू पर पूरी तरह प्रतिबन्ध है | इसे दुनिया का पहला ' स्मोक फ्री ' देश बनने का गौरव हासिल हुआ है। यहाँ शिक्षा मुफ्त है, स्वास्थ्य सेवा मुफ्त है। इस देश में ऐसा कानून भी लागू है जिसके तहत देश के ६० % हिस्से में जंगल होने ही चाहिए | भूटान न केवल कार्बन उत्सर्जन के सम्बन्ध में तटस्थ है , बल्कि वह जितना कार्बन उत्सर्जित करता है, उससे अधिक वह कार्बन डायऑक्साइड अवशोषित करता है। भूटान को वज्रायन बुद्धिज्ञान का अंतिम शक्तिशाली पड़ाव माना जाता है | इसे यहाँ भारतीय गुरु पद्मसंभव ने आठवीं सदी में प्रचलित किया था | तबतक वहां लोग 'बोनिज़्म'(BONISM) इस धर्म को मानते थे जिसमें प्रकृति के सभी रूपों की पूजा की जाती थी | साफ है उस परंपरा का वहां आज भी पालन किया जाता है।

इसके बाद ब्रिटेन में डेविड कैमरून सरकार ने २०१० ई.स. में इस अवधारणा को अपनाने की कोशिश की।

अब इस अवधारणा के आधार पर संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में प्रति वर्ष वैश्विक प्रसन्नता सूचकांक जारी किए जाते हैं | प्रथम वैश्विक प्रसन्नता अहवाल साल २०१० में प्रसिद्ध किया गया। अब विश्व खुशहाली रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्र द्वारा अनुमोदित की जाती है | प्रथम रिपोर्ट २०१२ वर्ष में प्रसिद्ध हुई थी। १९३ देश इसपर सहमत हैं। अब इसे एक मुलभुत अधिकार का दर्जा दिया गया है।

इसके लिए जो मापदंड निश्चित किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं -

१) समाज में उदारता और सहिष्णुता।

२) अपने पसंद की जिंदगी जीने की और अपने विषय में निर्णय लेने की स्वतंत्रता।

३) सामाजिक सुरक्षा।

४) लोगों में स्वस्थ जीवन की प्रत्याशा।

५) भ्रष्टाचार का न्यूनतम स्तर।

खुशहाली : शुरू में उलझन यह थी कि सरकारें किसी इंसान को खुशी कैसे प्रदान कर सकती हैं चूँकि खुशी तो पूरी तरह किसी भी व्यक्ति का व्यक्तिगत और आंतरिक मामला है जो उसके दृष्टिकोण और घरेलू परिस्थिति पर निर्भर है।

वर्ष २०१७ साल के लिए घोषवाक्य रखा गया था " हैप्पीनेस फॉर आल बाय २०५० "

२०१७ के रिपोर्ट के अनुसार ११७ देशों में से एक नंबर पर हैं सभी स्कैंडेनवियन देश- नॉर्वे, डेनमार्क , आइसलैंड , स्विट्ज़रलैंड , फ़िनलैंड , नेदरलैंड (इन देशों में अध्यात्म का महत्व न्यूनतम हैं) पाकिस्तान-८०, नेपाल-99, भूटान-९७, बंगला देश-११०, श्रीलंका -१२० , भारत-१२२(२०१६ में भारत ११८ पर था)। अमेरिका -१४, चीन-७१।

सिर्फ आर्थिक सुबत्ता बढ़ने से प्रसन्नता वृद्धि होगी ही यह आवश्यक नहीं । यह बात इस सांख्यिकी से स्पष्ट हो ही जाती हैं । १९९० कि तुलना में चीन में प्रतिव्यक्ति आय ५ गुना बढ़ी हैं । लेकिन उसी अनुपात में प्रसन्नता सूचकांक नहीं बढ़ा।

प्रसन्नता के प्रति आज का वैश्विक दृष्टिकोण -

दुबई में १० फरवरी २०१८ को दुनिया के सरकारों का एक सम्मलेन हुआ था । उसकी पूर्वसंध्या पर 'दुनिया में प्रसन्नता ' इस विषय पर एक गोष्ठी हुई थी। यूनाइटेड अरब इमिरात की सरकार में 'प्रसन्नता तथा जीवन की क्वालिटी 'के लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय है। सम्मलेन में १४० देशों तथा १६ संगठनों के लगभग ४००० प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था । दुनिया की बड़ी कम्पनियों के प्रतिनिधि भी उसमें शामिल थे । प्रसन्नता फोरम की उपरोक्त गोष्ठी में इस बात पर चर्चा हुई कि दुनिया में समृद्धि बढ़ने के बावजूद उसी अनुपात में प्रसन्नता सूचकांक क्यों नहीं बढ़ रहा? अतः निधि निर्धारण में किस परिवर्तन की आवश्यकता तथा सम्भावना है । यूएई की सरकार ने अक्टूबर में प्रसन्नता नीति-निर्देशक विशेषांक प्रसिद्ध किया था । इसमें दुनिया की सरकारों के लिए अपनी-अपनी जनता की प्रसन्नता की दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर व्यवस्थित और व्यावहारिक स्पष्टीकरण दिया गया है। इसे सांख्यिकीय आधार देने की बात भी की गई है ।

प्रसन्नता का विज्ञान-

ख्रिस पीटरसन ने ' प्रसन्नता का विज्ञान ' या ' सकारात्मक मानसशास्त्र' की नींव रखी।

सवाल है, ऐसे कौनसे कारक हैं जो आपको प्रसन्नता दे सकते हैं - वैज्ञानिक दृष्टि से सकारात्मक मानस निर्मिति के लिए निम्न बातें सहायक हो सकती हैं -

- १) जिस किसी भी कारण से तुम्हारे जीवन को सकारात्मक सहायता मिली हो उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रखो।
- २) छोटी-छोटी क्यों न हो, चुनौतियों का स्वागत करो। कुछ नई सीख या तुममें हुए परिवर्धन से तुम्हारे दिमाग में एंडोर्फिन्स (प्रसन्नता हार्मोन्स) की पूर्ति होती है।
- ३) चहरे पर स्मित तुम्हें स्वयं को प्रसन्नता की अनुभूति देगा।
- ४) किसी अन्य के साथ संपर्क तुम्हारी प्रसन्नता में वृद्धि करेगा।
- ५) ' कल करे सो आज ' का दृष्टिकोण तुम्हें काम पूर्ण करने में सहायता करेगा और कामपूर्ण होने की अनुभूति तुम्हें प्रसन्नता देगी।
- ६) नया कुछ जानने के लिए तथा अर्थपूर्ण सम्भाषण के लिए उत्सुक रहो।
- ७) नए अनुभव लेने के लिए तैयार रहो।
- ८) आत्मकेंद्रित होने से बचो। अन्यो के प्रति करुणा का तथा उन्हें सहायता करने का भाव हृदय के किसी कोने में जरूर रखो। वह तुम्हें यथा समय जरूर प्रसन्न करेगा।

(आधुनिक विज्ञान के अनुसार हैप्पी हार्मोन्स का सिक्रीशन खुशी का अहसास दिलाता है। ये हार्मोन्स -एंडोर्फिन्स, सेरोटोनिन, डोपामाइन और ऑक्सीटोन आदि हैं । अर्थात जो कुछ भी है वह भौतिक स्तर पर ही है, अस्तित्व के पार नहीं ।)

अध्यात्म के पुरोधा-साधु-संत

अध्यात्म का ध्वज अपने कन्धों पर वहन करनेवाले , धर्म की वकालत के लिए , अपने आपको प्रत्यक्ष ईश्वर ने भेजा हुआ मसीहा बतानेवाले साधु-संतों की असलियत क्या है , यह बात तो समय-समय पर दुनिया के सामने आती ही रहती है । फिर भी बिना कोई टिप्पणी किए कुछ घटनाओं को यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा । यहाँ केवल घटनाओं को जैसा का वैसा उद्धृत किया जा रहा है, जैसा समाचार पत्रों में सामने आया है।

बाबा राम रहीम:स्वयंभू गुरु (समाचार:२५ -८ -२०१७)

राम रहीम बलात्कार के दोषी।

समर्थकों का दानवी उत्पात, ४० की मौत।

फायरिंग,२५० से अधिक घायल।

पंजाब में दो स्टेशन फूँके, २११ट्रेनें रद्द।

सिर्फ पंचकूला में ही डेरा समर्थकों ने १००से ज्यादा वाहन जलाएं।

करोड़ों का नुकसान (२०४ करोड़)। बाबा की संपत्ति जब्त कर, करे भरपाई-हाई कोर्ट।

दसवीं तक पढ़ा डेरा प्रमुख, ११स्कूल, दो कॉलेज चलाता है, जिसमें एक मैनेजमेंट संस्थान भी है। उसका कारोबार हजारों करोड़ का है।

१९९८ में बेगू गांव का बच्चा डेरा की जीप के नीचे आ गया था।

मई २००२ में डेरा की साध्वी ने डेरा प्रमुख पर यौन शोषण के आरोप लगाते हुए एक गुमनाम चिट्ठी, पंजाब-हरियाणा के मुख्य न्यायाधीश को लिखी थी और १०-७ -२००२ को डेरा सच्चा सौदा की प्रबंधन समिति के सदस्य रहे रंजीत सिंह की हत्या हो गई । साध्वी रंजीत की बहन थी।

इस बाबा के पांव कीचड़ से कितने सने हैं, यह बताने वाले पत्रकार की भी हत्या हुई है।

इस बलात्कारी बाबा का हाथ लगी वस्तु को उसका प्रसाद समझा जाता था और लोग इन कीमतों में उन्हें खरीदते थे -

एक दिव्य सेब -११०००रुपए, एक अंगूर का गुच्छा -१४०००रु , एक हरी मिर्च १०००रु . , बाबा बैठा वह कुर्सी-८०००० से २ लाख. आदि -आदि।

यह खुला सच है कि हरियाणा और पंजाब के तमाम राजनैतिक दलों के नेता, डेरा प्रमुख से आशीर्वाद लेते रहे हैं। इतनाही नहीं तो बड़े जोर-शोर से कहा जाता है कि राजनीति का आधार धर्म होना चाहिए। राम रहीम को हरियाणा सरकार ने 'झेड' वर्ग की सुरक्षा दी हुई थी (तुम्हारे-हमारे पैसों से ही)। और दी गई सुविधाओं की सूची लम्बी है । आस्था और राजनीति का अपराधिक गठजोड़ तो हमारे देश में आम बात है। लेकिन यह बात कितनी खतरनाक है, यह एक उदहारण है।

ऑक्सीजन न होने के कारण उत्तर प्रदेश के सरकारी दवाखानों में डझनों बच्चों की मौत होती है लेकिन उसके लिए कोई रस्ते पर नहीं आता । मात्र ऐसे बलात्कारी बाबा के लिए लाखों अंधभक्त कई शहरों में आगजनी करने , अपनी जान देने तैयार हो जाते हैं । जनता को अंधश्रद्धा से बहार निकालने , समाज प्रबोधन करने वालों की हत्या की जाती है और इसके प्रति विरोध करने सौ लोग भी एकत्र नहीं होते। यही आज की सच्चाई है।

एक बलात्कारी को हुई सजा का विरोध करने उतरी भीड़ में महिलाओं की संख्या ही अधिक थी। तथाकथित गुरु ने किये हुए लैंगिक शोषण को ईश्वरी प्रसाद माननेवाले लोगों की संख्या इस समाज में काफी है । इसके कई उदहारण मिलते हैं । अपने स्वत्व को समर्पित करनेवाली ऐसी अंधश्रद्धा आज भी हो सकती है , इसपर विश्वास करना कठिन है लेकिन शायद यही सचाई है।

लेकिन निराश होने की बात नहीं है। वे दो साध्वियां जो न धमकाने से डरी , न लालच में पीछे हटीं , सी.बी.आई के वे जांच अधिकारी जिन्होंने तमाम दबाओं के बावजूद निष्पक्ष जांच करके मामले को अदालत तक पहुंचाया । सी.बी.आई. की विशेष अदालत के जज जगदीप सिंह लोहान, जिन्होंने दबाव बनाने के लिए पंचकूला में एकत्र की गई लाखों की भीड़ की पर्वा न करते हुए बाबाको दुष्कर्म का दोषी ठहराया और दो मामलों में अलग-अलग १०-१० साल की सजा सुनाई और ३० लाख का जुर्माना भी ठोक दिया। हमारे समाज को बचाने वाले ऐसे भी बहादुर लोग हैं।

लोगों से लूटी हुई संपत्ति का एक मामूली हिस्सा खर्च कर अपने को समाज सुधारक बताने में ऐसे ढोंगी लोग आगे ही रहते हैं।

ईश्वर के और कुछ बन्दे -

१) आसाराम बापू : इसपर नाबालिग लड़की पर बलात्कार करने का आरोप है । यह मामला २०१३ का है। आरोप सिद्ध होकर इसे २० साल की सजा भी हुई है । इसके अतिरिक्त अवैध तरीके से जमीन हथियाने , बच्चों की हत्या जैसे मामलों में भी वह लिस है , जिसकी जाँच चल रही है ।

उसके बेटे नारायण साईं पर भी ऐसे ही आरोप हैं। आसाराम के विरुद्ध साक्ष देनेवाले दस लोगों की हत्या हो गई है।

२) बाबा रामपाल :हरियाणा में १८ वर्षों तक सिंचाई विभाग में इंजिनियर का काम करने के बाद इसने अध्यात्म की दुकान खोल ली। आरोप है कि इसके सतलोक आश्रम के दवाखाने में गर्भपात का सेंटर चलता था। फिलहाल वह देशद्रोह के आरोप में हिसार जेल में बंद है।

उपरोक्त सभी बाबाओं के नाम में तो राम है लेकिन --?

और ऐसे बाबाओं की लम्बी सूची है । दस सितम्बर २०१७ के एक समाचार के अनुसार अखिल भारतीय अखाड़ा परिषद ने चौदह बाबाओं को फर्जी घोषित किया है । इनमें आसाराम , निर्मल, राधे मां आदि हैं । ये तो प्रकाश में आए अपराधी हैं । पता नहीं अभी कितने अपराधी साधुओं के चोले में छिपे हैं । मूल बात यह है कि जहाँ करोड़ों की संपत्ति एकत्र हुई है , वहाँ सात्विकता की अपेक्षा ही कैसी की जा सकती है ? असली संत ऐसी गतिविधियों में अपने आप को उलझाएगा ही क्यों ?

२०१६ में नई देहली में आर्ट ऑफ़ लिविंग फाउंडेशन द्वारा आयोजित जागतिक सांस्कृतिक महोत्सव के कारण यमुना के बाढ़ क्षेत्र को पहुंची हानि के लिए राष्ट्रीय हरित प्राधिकरण ने ७ - १२ -२०१७ के दिन फाउंडेशन को दोषी घोषित किया और क्षतिपूर्ति के तौर पर जुर्माना भरने को कहा। फाउंडेशन के सर्वेसर्वा आध्यात्मिक पुरुष ने इसके लिए साफ इंकार कर दिया।

इतना तो निश्चित कि सारे साधु-संत अपनेआप को कानून से ऊपर मानते हैं और ऐसा स्पष्ट दिखता है कि सरकार तथा समाज को इसपर कोई आपत्ति नहीं है।

कोई आशुतोष महाराज नामक व्यक्ति की मृत्यु होती है । उनके भक्तों के अनुसार उनकी मृत्यु नहीं हुई, वे गहरे समाधि में गए हैं । समाधि उपरांत वे लौट आएंगे । तो उनका शव तीन-तीन साल तक शीतपेटी में सरकारी खर्च से सुरक्षित रखा जाता है।

आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित ज्योतिष पीठ के शंकराचार्य विवाद में इलाहबाद हाईकोर्ट ने २२ -९ - २०१७ को स्वामी स्वरूपानंद और स्वामी वासुदेवानंद , दोनों को इस पीठ का शंकराचार्य मानने से इंकार कर दिया ।-----तोबा-तोबा। जगतगुरुओं में कोर्ट-कचहरी तक नौबत । वे आपसी विवाद आपस में नहीं निपटा सकते फिर भी जगतगुरु हैं।

अपराधी बाबाओं पर आरोप सिद्ध होने पर भी , यह हमारे धर्म के विरुद्ध षड्यंत्र है ऐसा कहते हुए हाथ में पत्थर उठाये हुए भक्तों को, आसानी से सामने किया जा सकता है।

सच्चे संत -

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि संत शोषक ही होता है। इतिहास में कई संत ऐसे हुए, जिन्होंने समाज की बुराइयां दूर करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। ऐसे संतों की एक भक्तिधारा ही चल पड़ी थी। समकालीन संतों में महाराष्ट्र के संत गाडगे बाबा, इसका उदाहरण है।

साधु समाज द्वारा समाज सुधार के लिए योगदान का सुझाव-

साधु समाज की शक्ति राष्ट्र निर्माण में योगदान दे सकती है। इसके लिए स्वामी अग्निवेशजी ने अपनी किताब 'हिंदुत्व इन मॉडर्न ऐज' में एक सुझाव भी दिया है। इसके अनुसार-

एक अनुमान के अनुसार, भारत में १० लाख से अधिक साधु हैं और देहातों की संख्या लगभग ६ लाख है। अगर प्रत्येक देहात में एक साधु या देहातों के एक गुप के लिए साधुओं का एक दल जा बसा और उसने देहातों की समस्याओं को स्थानिक स्तर पर ही सुलझाने में योगदान दिया तो इससे पुरे साधु समाज की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। उनका रूप समाज के लिए एक बोझ की तरह नहीं रहेगा। लोगों में उनके प्रति रही श्रद्धा के कारण लोग उनकी बात मानेंगे भी। इस तरह एक स्वस्थ समाज बनाने में उनका बड़ा योगदान रहेगा।

लेकिन जिस तरह विवेक के रास्ते पर अपने भक्तों को ले जाना इन धर्म मार्तंडों के लिए घाटे का सौदा होता है, उसी तरह साधु-संतों के इस समाज ने सामाजिक सुधार की इतनी बड़ी बात सोचना लगभग असंभव है। चूंकि अधिकतर बने ही साधु-संत इसलिए कि बिना किसी उत्तरदाईत्व के परजीवी का जीवन जी सके। इसी कारण वे आधुनिकता के सारे लाभ तो उठाते हैं लेकिन ऊपर से दम भरते हैं कि अध्यात्म पर बात करने का विज्ञान को कोई अधिकार नहीं।

कुबेरपति धार्मिक संस्थान

तिरुअनतपुरम का पद्मनाभस्वामी मंदिर -

इस मंदिर में अभी तक एक लाख करोड़ की संपत्ति मिल चुकी है | अभी भी इसका छठा अंतिम तहखाना खोलने पर सुप्रीम कोर्ट ने रोक लगा रखी है | उसके अंदर क्या-क्या होगा और संपत्ति में कितनी वृद्धि होगी यह तो पद्मनाभस्वामी ही जाने (!)|

इतिहास दिखाता है कि त्रावणकोर के महाराजा की सहानुभूति भारत की आजादी के संघर्ष के साथ नहीं थी। वह अंग्रेजों के साथ थी। आजादी के बाद भी लाख तिकड़में की गईं ताकि वह स्वतंत्र राज्य बना रहे | लेकिन जब १९४९ में इस संस्थान का अंततः विलय हुआ तो अपनी अकूत संपत्ति राजा द्वारा इस मंदिर को और मंदिर की कमान एक ट्रस्ट को सौंप दी गई जिसमें आज भी राजघराने की निर्णायक भूमिका है। इतनी सारी संपत्ति आयी कहाँ से होगी तो जनता के भयंकर शोषण से ही ना।

तिरुपति मंदिर -

इसे १२०० वर्ष पुराना मंदिर माना जाता है | कहते हैं, भगवान बालाजी की मूर्ति वहां स्वयं अवतरित हुई थी।

१.८ करोड़ से ज्यादा भक्तगण इस सबसे संपन्न मंदिर में गहने और पैसे चढ़ाते हैं।

बैंक में जमा राशियों से सालाना २२६ करोड़रु. की आय होती है।

प्रति वर्ष करीब १० करोड़ के गहने मंदिर के खजाने में जुड़ जाते हैं | (आभूषणों का अनुमानित मूल्य ३०००० करोड़ है -मुख्य लेखाधिकारी)

दान में मिली जमीन के कागजात व्यवस्थित करने में एक जीवन कम पड़ेगा ऐसा कहा जाता है। TTD ने ऐसी कुल जमीन का निश्चित हिसाब नहीं लगाया है। फिर भी अनुमान १५००० करोड़ रु.का है।

देवस्थानम अब चांदी के गहने स्वीकार नहीं करता | फिर भी भक्तगण सैकड़ों किलों के आभूषण हुंडई में डालकर जाते हैं।

प्रतिदिन १०० से ज्यादा 'निलुवु दोपिडी ' की जाती हैं। इसका अर्थ है भक्त अपने शरीर के सारे गहने उतारकर भगवन को भेंट चढ़ाते हैं। ये भक्त वे होते हैं जो भगवन से मन्नत मांग चुके हैं। अगर उनकी मनोकामना पूरी हुई तो वे अपने सारे गहने दान में दे देंगे।

प्रति वर्ष २८ करोड़ की आय होती है मुंडन करनेवालों के केशों की निर्यात से।

लड्डुओं की बिक्री २८ करोड़ रु. प्रति वर्ष।

मोटे अनुमान के अनुसार संस्थान की कुल संपत्ति ७५००० करोड़ से अधिक हैं।

बालाजी के महान भक्त विजय माल्या ने गर्भगृह द्वार को सोने से मढ़वाने की इच्छा व्यक्त की थी।

११ अक्टूबर 2006: इंडिया टुडे : २३-८-२००९ की खबर के अनुसार आंध्र प्रदेश के तिरुपति में पुलिस ने मंदिर के मुख्य पुजारी को भगवन के गहने गिरवी रखने के मामले में गिरफ्तार किया है। पुजारी है वेंकटरमन दीक्षितुलु। मंदिर TTD की देखरेख में आता है।

इसे देखते हुए बोर्ड ने ५२ हजार करोड़ के जेवरों का बिमा कराने का निर्णय लिया है । लेकिन एक गैर-जीवन बिमा फर्म के जेष्ठ अधिकारी के अनुसार कोई भी बिमा कंपनी अकेली अपने खातों में इतनी बड़ी जोखिम लेने तैयार नहीं होगी । क्या विरोधाभास है ? एक तरफ यह स्थिति है तो दूसरी ओर भुखमरी और क्या-क्या नहीं?

- दर्शन के टिकटों की काला बाजारी की शिकायतें भी आम बात है। भीड़ के समय कभी-कभी भक्तों को ४८ घंटों तक प्रतीक्षा की नौबत आती है।

शिरडी का साई बाबा संस्थान-

इतिहास से पता चलता है कि लगभग सौ साल पहले साईबाबा की जब मृत्यु हुई थी तब उनके तकिये के नीचे इतनी ही संपत्ति मिली कि जिससे उनका अंतिम संस्कार हो सका।

लेकिन आज उनके नाम पर चलनेवाले इस संस्थान की माली हालत क्या है ?-

ज्वेलरी की कीमत ३२ करोड़।

किया हुआ निवेश ४,२७,१७,०२,९२९ रुपये ।

वर्ष ०९-१० में उत्पन्न १,६४,८८,०१०३० रु. । (संस्थान की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार : हितवाद ५-१-२०११)।

२०१८ के गुरु पूर्णिमा के दिन ६.६६ करोड़ रु. अर्पित किए गए।

" व्ही.आय.पी." दर्शन के माध्यम से एक करोड़ आठ लाख रु. (लो.स.३१-७-२०१८)।

मंदिर की सालाना आय २०० करोड़ के ऊपर।

जिनकी वार्षिक आय १०० करोड़ से ऊपर है ऐसे मंदिर -

१) सबरीमला मंदिर : सह्याद्री पर्वत पर स्थित भगवन अयप्पा का मंदिर।

२) पलानी देवस्थानम तमिलनाडु : कोयंबटूर से १०० कि.मी.दूर भगवान मुरुगन (शिवपुत्र कार्तिकेय)।

३) माता वैष्णव देवी श्राइन बोर्ड।

४) सिद्धि विनायक मंदिर, मुंबई ।

बोचासनवासी अक्षर पुरुषोत्तम स्वामी नारायण संस्थान ने दुनिया में ७०० से अधिक मंदिर और ३३०० धर्मिक केंद्रों का निर्माण किया है । देहली का अक्षरधाम मंदिर तो दुनिया का सबसे बड़ा हिन्दू मंदिर होने के नाते गिनीज बुक ऑफ़ वर्ल्ड रिकॉर्ड में भी शामिल किया जा चुका है । यह मंदिर २०० एकड़ जमीन पर फैला है।

गौड़ सारस्वत ब्राह्मण गणेश मंडल , मुंबई को सबसे अमीर गणेश मंडल माना जाता है । गणेश प्रतिमा को ७० किलो सोना और ३५० किलो चांदी से सजाया जाता है । इस बार गणेश प्रतिमा और पंडाल का २६५ करोड़ रूपए का बिमा कराया गया है । (लो .स .१४-९-२०१८ :मुखपृष्ठ पर फोटो)।

२०१८ में महाराष्ट्र में नोंद हुए गणेश मंडलों की संख्या ६७००० थी , तो नोंद न हुए मंडलों की संख्या, एक अनुमान के अनुसार, ४०,००० थी।

अब तो पंढरपुर के विट्ठल-रुक्मिणी माता का दर्शन भी 'ऑन लाइन' हो सकता है। दर्शन के लिए १००० रु शुल्क लिया जाएगा।

मुंबई के सिद्धि विनायक मंदिर में तो इंटरनेट पर लाइव दर्शन की सेवा भी उपलब्ध है । आप 'लॉग इन' कर मंदिर के वेबसाइट पर वर्चुअल पूजा भी कर सकते हैं । (टेक्निकल भगवन तस्मै नमः)

पौरोहित्य ऑन लाइन किया -----ने। श्रद्धा का बाजार रु. २.१ लाख करोड़ का। (लो .स .९-४-२०१९)(शुभ पूजा पोर्टल)

सोने का संग्रहण -

अमेरिका के पास सोने का भंडार -----८ ,१३३.५ टन-(कुल विदेशी मुद्रा भंडार का ७३.६%)

भारत के सरकारी खजाने में , रिज़र्व बैंक के पास-(देश के विदेशी मुद्रा भंडार का ६.५%) |
दुनिया में ग्यारहवा स्थान -----५५७.७ टन|

भारतियों के पास जेवरों, सिक्कों आदि रूप में -१९००० टन (अनुमानित) |

मंदिर तथा अन्य धार्मिक ट्रस्टों के पास (अनुमानित)-----३०००टन|

तिरुमला तिरुपति देवस्थान के पास -----१००० टन | (केंद्रीय बैंकों से इतर संस्थाओं में, इसे दुनिया में सोने के सबसे बड़े भंडार का मालिक माना जाता है | लेकिन अब तिरुनन्तपुरम के पद्मनाभन मंदिर ने इसे पीछे छोड़ दिया है।)

(स्रोत:वर्ल्ड गोल्ड कौंसिल , सरकारी आकड़े तथा मंदिर प्रबंधन का अनुमानित आंकड़ा :इंडिया टुडे २० मई २०१५)|

मंदिरों के खजानों का लेखा-जोखा-

पश्चिम महाराष्ट्र के जोतिबा और अम्बाबाई मंदिरों को छोड़ दिया जाए तो पुरे ४७१ मंदिरों में श्रद्धालुओं द्वारा बड़ी श्रद्धा के साथ दान किए गए सोने-चांदी के गहनों ही नहीं तो अन्य मूल्यवान वस्तुओं का भी कोई हिसाब-किताब नहीं है | यह खुलासा हुआ लेखा परीक्षक की ताजा रिपोर्ट से|

पश्चिम महाराष्ट्र के ३०६७ मंदिरों की व्यवस्था पश्चिम महाराष्ट्र देवस्थान व्यवस्थापन समिति के पास है, चल-अचल संपत्ति की जिम्मेदारी के साथ |लेकिन उपरोक्त दो संस्थानों को छोड़कर अन्यो के बारे में कोई जानकारी नहीं | लेखा परीक्षक की यह रिपोर्ट १-४-२०१४ से ३१-३ -२०१५ के दरम्यान की है जो कोल्हापुर के सुरेश पवार को सूचना के अधिकार के तहत प्राप्त हुई है। (लो. स .१५ -९ २०१६)

नई देहली: आयकर विभाग, ने कर छूट के नियमों का उल्लंघन करने और दान के धन का व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए उपयोग करने के लिए धरे गए परमार्थ एवं धार्मिक न्यासों की देशभर में जाँच शुरू कर दी है।

हिन्दू धर्म में वैसे भी धन को माया की संज्ञा दी गई और इन्हीं के उपासना केंद्रों के पास इतनी अकूत संपत्ति है। यह कैसा विरोधाभास है। मंदिरों या धार्मिक स्थलों के पास धन होने का बचाव यह कह कर किया जाता है, कि यह जनता का धन है और जनता ने इसे अपनी श्रद्धा से धार्मिक संस्थानों को दिया है।

यदि धार्मिक स्थानों के साथ जुड़ी हुई संपत्ति, उनकी नियमित आय को यहाँ के निर्धन और वंचित, विपन्नों के लिए, जनहित की ओर मोड़ दिया जाए तो यहाँ से गरीबी की तस्वीर मिटने देर नहीं लगेगी। अंततः यह संपत्ति है तो जनता की ही।

अकूत धन बटोरते संत

1) सत्य साईबाबा : सत्यनारायण राजू का जन्म पुट्पर्थी के ही एक गरीब परिवार में २३-११-१९२६ को हुआ था। आयु के चौहदवें वर्ष में उन्होंने अपने आपको साईबाबा का अवतार घोषित किया और जनपर प्रभाव जमाने के उद्देश्य से चमत्कारों के प्रचार का सहारा लिया। बड़ी-बड़ी हस्तियां उनकी भक्त बन गईं।

इनकी मृत्यु के लगभग पौने दो माह बाद उनका निजी कमरा खोला गया। उसमें ९६ किलो सोना, ३०७ किलो चांदी, बड़ी मात्रा में जवाहिरात तथा ११.५६ करोड़ रुपये नगद मिले। तीन-तीन मशीनें लगाई गईं, तब कहीं जाकर नोटों की गिनती पूरी हो सकी। इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा थी। एक सीमित मात्रा से अधिक विदेशी मुद्रा रखने पर मुकदमा दायर होता है, लेकिन मृतक पर नहीं।

बाबा का कोई वारिस नहीं है। हाँ बाबा के भतीजे आर.जे.रत्नाकर राजू ट्रस्ट के ट्रस्टियों में से एक है। ट्रस्ट को मिलनेवाली आमदनी पर कर नहीं लगता। बाबा की कुल संपत्ति ४०,००० करोड़ के आसपास है। (इंडिया टुडे : २७-४-२०११)

उनपर झूठे चमत्कार करने और लैंगिक गैरवर्तन के आरोप भी लगे। बीबीसी ने 'दी सीक्रेट स्वामी' नाम की एक डॉक्यूमेंट्री भी बनाई थी जिसमें उपरोक्त बातें थीं। उनके आश्रम में चार लोगों की संदिग्ध अवस्था में मौत भी हुई थी।

२) आसाराम बापू

उन्हें लैंगिक अपराध, हत्या का आरोप आदि के कारण कारावास की सजा भी हुई। इससे पहले उनके देश-विदेश में ३५० आश्रम और १७००० बाल संस्कार केंद्र चल रहे थे। उनके आश्रम अवैध तरीके से हथियाई जमीनों पर बने हैं, ऐसा कहा जाता है।

३) महेश योगी-

महेश श्रीवास्तव के नाम से जबलपुर में जन्मे और बाद में महेश योगी के नाम से दुनिया में मशहूर हुए इस व्यक्ति की जब २००८ में मृत्यु हुई तो बिज़ीनेस में लगी उनकी संपत्ति २ से ५ बिलियन डॉलर आंकी गई।

४) माता अमृतानंदमयी को 'हगिंग अम्मा ' कहते हैं। वह इस देश की सबसे संपन्न गॉडवुमन कही जा सकती है। एक मोटे आकलन के हिसाब से वह जिस ट्रस्ट की मुखिया हैं उसकी संपत्ति एक हजार करोड़ है।

५) ओशो :-गुरु रूप प्राप्त करने के पहले वे जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर थे । १९७४ में उन्होंने अपना प्रथम आश्रम पूना में स्थापित किया । १९८१ में वे अमेरिका चले गए। कहा जाता है कि उनके पास ८३ रोल्ल्स रॉयस गाड़ियां थीं। (हिन्दुस्तान टाइम्स मुंबई :१ -५-२०११)।

इस तरह के कई अरबपति संतों पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि वे काले धन को सफ़ेद करने की गतिविधियों में लिस रहते हैं।

कर्म सिद्धांत

कर्म

जब किसी भी कर्म को किया जाता है तो किसी परिणाम को सामने रख कर ही किया जाता है। अर्थात वह सकाम ही होता है। वह निरुद्देश्य नहीं होता। अपेक्षित परिणाम की दिशा में ही योजना बनाई जाती है। फलासक्ति न रखकर कर्म करना अव्यवहारिक प्रतीत हो सकता है। अगर अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हुए तो मनुष्य उस कर्म को त्याग देगा या उसकी दिशा मोड़ देगा। यह तो हुआ व्यावहारिक दृष्टिकोण। हाँ, कर्म करते समय सारा ध्यान परिणाम पर केंद्रित कर, कर्म प्रक्रिया में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए।

वास्तव में कोई कर्म निष्फल होता ही नहीं। प्रत्येक कर्म का परिणाम तो सामने आएगा ही। अर्थात प्रत्येक कर्म, फल सहित ही होता है। हाँ, फल आपकी अपेक्षा के अनुसार ही आएगा यह जरूरी नहीं।

अगर धारणा के अनुसार फल नकारात्मक मिला तो मन में ग्लानि होगी और फल अपेक्षा से अधिक मिला तो मनुष्य में अहंकार जाग सकता है। अतः निष्काम कर्म का अर्थ यही लेना होगा कि फल की अपेक्षा रखों, अतीव आसक्ति या मोह मत रखों। अर्थात संतुलन रखो। यही योग है। अपना कर्म कुशलतापूर्वक करना ही योग है, न कि जंगल में जाकर बैठना। अच्छी योजना बनाकर पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा।

अकर्म से कर्म करना निश्चित ही श्रेष्ठ है। मुझे नौकरी भी नहीं चाहिए और वेतन भी नहीं। व्यक्ति अगर ऐसा सोचने लगा तो वह और उसका परिवार तो परेशानी में पड़ेगा ही। इस वृत्ति में वृद्धि सारे समाज में अराजकता फैला देगी।

कर्म के तीन भाग-

१) क्रियमाण कर्म

आदमी सुबह जागे तबसे रात्रि सो जाए तबतक वह जो कर्म करें वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। जन्म से मृत्यु तक ऐसे जो-जो क्रियमाण कर्म किए वे फल देने पर ही शांत होते हैं। बिना फल दिए वे शांत नहीं होते। आपने खाना खाया, खाने का कर्म किया, भूख मिट गयी। कर्म फल देकर शांत हो गया।

२) संचित कर्म

कुछ क्रियमाण कर्म ऐसे होते हैं जो कर्म करने के साथ ही तत्काल फल नहीं देते। उनका फल पकने में देर लगती है। तबतक वे आपके खाते में जमा रहते हैं। वे संचित कर्म हैं।

उदा. आपने आज परीक्षा दी | उसका फल एक महीने बाद बाहर आएगा | आपने अपनी युवावस्था में आपके माता-पिता को कष्ट दिया तो अपनी बारी में आपका बेटा वहीं बात दोहराएगा। मानों सारे दिन में आपने १००० क्रियमाण कार्य किए | उनमेंसे ९०० तो तत्काल फल देकर लुप्त हो गए | लेकिन उनमें से १०० कर्म संचित रूप में रहेंगे | ये तमाम संचित, इस जनम या फिर तमाम अगले जन्मों में फल देकर शांत हो जाएंगे।

३) प्रारब्ध कर्म

संचित कर्म पककर फल देने के लिए जब तैयार हो जाता है तो उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं। अनादी काल से अनेक जन्म-जन्मान्तर के जमा हुए संचित कर्म पककर फल देने के लिए प्रारब्ध रूप से तैयार हो जाते हैं | वैसे जीव अनंत काल तक अलग-अलग देह धारण करता ही रहता है और जबतक देह धारण करनी पड़े तबतक उसको मोक्ष प्राप्त हुआ नहीं माना जाएगा। क्रियमाण कर्म का फल प्रारब्ध के सामने आते ही भोग लिया और मोक्ष को प्राप्त हुआ।

क्रियमाण कर्म करने की पद्धति : इसके लिए निम्न उदाहरण दिया जाता है -

एक आदमी डॉक्टर को अपने बेटे की सेहत दिखाने घर ले आया | आदमी ने डॉक्टर से फीस के विषय में पूछा | सत्वगुणी डॉक्टर ने कहा , " फीस की बात बाद में , पहले तेरे बेटे का दर्द मुझे मिटाने दे। " विजिट फी तो उसे मिलनेवाली ही है।

रजोगुणी डॉक्टर कहेगा , " मैं दर्द तो मिटाऊंगा लेकिन आपको दस रूपए फीस देनी होगी। "

तमोगुणी डॉक्टर कहेगा , " पहले दस रूपए रखों तो मैं मरीज को देखूंगा। "

आदमी सत्वगुणी डॉक्टर को खुश होकर फीस देगा तो तमो गुणी डॉक्टर को दुःखी मन से। कर्म तो एक ही हुआ लेकिन -----

पाप कर्म करनेवालों को उसके फल की कामना नहीं होती | इसलिए वह पाप कर्म निष्काम भाव से करता है ऐसा नहीं। शास्त्र विहित कर्म, धर्म की मर्यादा में रहकर, राग - द्वेष से प्रेरित हुए बिना , कर्तापन के अभिमान के बिना , समस्ती के कल्याण के लिए , अपना निजी कलुषित स्वार्थ छोड़कर किया हुआ कर्म ही निष्काम कर्म है | अपना कर्तव्य समझकर किया हुआ कर्म, कामना रहित किया हुआ कर्म संचित कर्म में जमा नहीं होता।

जो क्रियमाण कर्म संचित में जमा नहीं होते -

१) अज्ञान अवस्था में किए हुए कर्म।

- २) अभान अवस्था में किए हुए कर्म।
- ३) मनुष्योत्तर योनियों में किए हुए कर्म।
- ४) कर्तापन के अभिमान रहित किए हुए कर्म।
- ५) समस्ती के कल्याण के लिए किए हुए कर्म।
- ६) निष्काम कर्म।

अबोध या अभान अवस्था : बाल्य अवस्था , पागलपन, नशे की अवस्था (इसमें राग-द्वेष की प्रेरणा नहीं होती ।)

मनुष्योत्तर योनि के जीव, प्रकृति आवेग के अनुसार क्रिया करते हैं। ये कर्म तात्कालिक फल देते हैं। इन योनियों में केवल प्रारब्ध कर्म भोगकर ही रह जाते हैं। इसे भोगयोनि कहा जाता है।

देवयोनि : देवयोनि भी भोगयोनि कही जाती है। जिनके तमाम पाप नष्ट हो गए हैं और केवल पुण्य कर्म ही बचे हैं , वे स्वर्ग लोक में पहुंचकर दिव्यभोग भोगते हैं । उनके क्रियमाण , संचित रूप में जमा नहीं होते। वे पुण्य का क्षय होने पर भी मर्त्यलोक में वापस नहीं आते।

कर्म तो जीवन की अभिव्यक्ति है।

कोई भी आदमी एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता । वह कर्म न करे तो उसकी जीवन यात्रा ही रुक जाएगी । किन्तु क्रियमाण कर्म हमें ऐसी कुशलता से करने चाहिए जिससे वे कदापि संचित में जमा न होने पावे और भविष्य में देहबंधन में न डाले । यही योग है।

सामान्यतः लोग ऐसा समझते हैं कि यदि चार क्विण्टल पाप कर्म करेंगे और पांच क्विण्टल पुण्य कर्म तो खाते में एक क्विण्टल पुण्यकर्म तो बचा रहेगा ही । लेकिन यहाँ यह गणित गलत है। फल तो पुरे नौ क्विण्टल के ही भोगने पड़ेंगे।

मनुष्य की इच्छापूर्ति के निम्न चार भाग हैं - धर्म , अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से एक और चार के लिए तो मनुष्य को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए या पुरुषार्थ करना चाहिए । जबकि दो और तीन को प्रारब्ध के ऊपर छोड़ देना चाहिए। लेकिन हम उलटी दिशा में चलते हैं।

अच्छा कर्म करने से जो संतोष मिलता है वही सबसे बड़ा पुरस्कार है।

कामना-

विषयों का आकर्षण हृदय में कामना उत्पन्न कर देता है और कामना कर्म को दूषित कर देती है। जब मनुष्य को प्रारब्ध और कर्म के अनुसार प्राप्त भोगों से तृप्ति नहीं होती और अप्राप्य भोगों की वह इच्छा करता है तो उसे कामना कहते हैं । मन का वह विक्षेप जो किसी वस्तु को प्राप्त करने की अत्यंत अधीरता के रूप में व्यक्त होता है , काम कहलाता है। काम के कारण हम आदर्श को भूलकर पापाचरण में प्रवृत्त होते हैं । (लेकिन अध्यात्म के अनुसार - परमेश्वर के दर्शन की कामना - 'भक्ति '। मुक्ति पाने की कामना - ' मुमुक्षुत्व '। परमतत्त्व को जानने की कामना - ' जिज्ञासा '।)

मन में कर्मफल की कामना रहने पर प्रायः मनुष्य अपने प्रयास से अधिक फल चाहता है और उतना न मिलने पर असंतुष्ट रहता है। यह असंतोष ही मन को दुःखी और क्षुब्ध करता है। कामना में यह दोष स्पष्ट देखा जा सकता है कि कर्मफल पाने पर भी कामना उसका सुख प्राप्त नहीं होने देती। इसलिए कामना रहित कर्म की आवश्यकता है।

प्रारब्ध भोगने की रीत -

मानो एक मनुष्य ने कोई पापकर्म किया । इसके फलस्वरूप प्रारब्ध के अनुसार उसे एक दिन भूखा रहना है। यह तो उसे भोगना ही है। अगर जीव सत्त्वगुणी है तो वह एकादशी का व्रत करेगा और अपना प्रारब्ध भोग लेगा । रजोगुणी है तो परिस्थितिवश उसे भूखा रहना पड़ा । उसकी पत्नी बीमार होने से उसे अस्पताल ले जाना पड़ा , आदि-आदि। अगर वह तमोगुणी है तो सामने परोसी थाली को पटककर पत्नी से झगड़ा करेगा और भूखा रहेगा।

तीनों की प्रारब्ध भोगने की रीत अलग-अलग है । प्रारब्ध में होगा उतना ही मिलेगा और उसे मिलनेवाली बेचैनी भी उसके प्रवृत्ति के अनुसार होगी।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ

पुरुषार्थ ही समय पाकर प्रारब्ध बन जाता है । इसलिए प्रारब्ध और पुरुषार्थ एक ही है , एकदूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक है । प्रारब्ध वर्तमान शरीर को भोग प्रदान करता है जबकि पुरुषार्थ भविष्य की भूमि तैयार करता है जो भविष्य में प्रारब्ध बनकर भविष्य के शरीर को भोग प्रदान करेगा

तीनों योग -

संचित कर्मों से कैसे छूटे यह एक गंभीर समस्या है । क्योंकि क्रियमाण कर्म करने में तो मनुष्य स्वतंत्र है। उसे मर्यादित करना भी उसके हाथ में है। संचित कर्म तो अभी पककर फल देने तैयार भी नहीं हुए और वे तो हो चुके क्रियमाण कर्म हैं। उन्हें वापस नहीं लिया जा सकता।

मानव मात्र मोक्ष का अधिकारी है । मानव शरीर मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मिला है । मानव शरीर मिलने के बाद भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया तो चौरयासी लक्ष योनियों का चक्कर है।

लेकिन कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग द्वारा, जीव तमाम क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्मों से मुक्त होकर इसी जीवन के अंत में अवश्य 'मोक्ष' प्राप्त कर सकते हैं। जगत में जो महान भक्त हुए हैं उन्होंने बिना किसी ना नुकुर करते हुए अपने प्रारब्ध और दुःख भोग लिए । उन्होंने उनसे छुटकारा देने की ईश्वर से प्रार्थना नहीं की। प्रारब्ध कर्म को कंट्रोल करने में भक्तियोग मदद करता है। नीति-धर्म से अपने नियत कर्म करते-करते जीवन का एक-एक कर्म भक्ति बन जाता है। जैसे नाई का काम करते-करते सेना नाई , कुम्हार का काम करते-करते गोरा कुम्हार महान संत बन गए।

क्रियमाण कर्म को नियंत्रित करने में कर्मयोग मदद करता है।

संचित कर्म ज्ञानाग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं। जीव अपने असली स्वरूप को भूल गया है कि वह ब्रह्म का ही अंश है। वह सत-चित-आनंद स्वरूप है। मुक्त होने पर भी, माया के वशीभूत होकर वह बद्ध हो गया है। उसे उसके असली स्वरूप का ज्ञान होना ही ज्ञानयोग है । ज्ञानाग्नि में, तमाम प्रकार के शुभ-अशुभ, क्रियमाण, प्रारब्ध, संचित कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं और जीव मोक्ष प्राप्त करता है अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है - एक गृहिणी को अपने परिवार को किसी मौके पर मीठा हलवा खिलाना है। अच्छा हलवा बनाकर खिलाने की भावना भक्तियोग है । हलवा बनाने की कला ज्ञानयोग। लेकिन शुरुआत तो कर्मयोग से ही करनी होगी अर्थात् चूल्हे पर कढ़ाई चढ़ाने से। इनमें से किसी एक की भी कमी सारा खेल बिगाड़ देगी।

केवल ज्ञानयोग मनुष्य को शुष्क वेदांती बना देगा । केवल भक्तियोग मनुष्य को अपने उत्तरदायित्वों से भागने का बहाना हो सकता है । केवल कर्मयोगी अपने कर्मों की गठरी सिर पर लादे भटकता रहेगा। बिना भक्ति में भिगा हुआ कर्म मिथ्याचार (ह्यपोक्रेसी) हो सकता है तो ज्ञान भी निरर्थक हो सकता है। लेकिन निष्काम कर्म अपने आप में भक्ति में परिणत हो जाता है और

भक्तिमय कर्म करनेवाले के अंतःकरणमें अपने आप ज्ञान प्रस्फुटित हो उठता है । इस तरह कर्म, भक्ति और ज्ञान का उदय एक साथ ही होगा।

क्रिया और कर्म -

प्रत्येक कर्म क्रिया है लेकिन प्रत्येक क्रिया कर्म नहीं है।

1) शारीरिक /भौतिक क्रियाएं -

अ) अनैच्छिक क्रियाएं : जैसा स्वासोश्वास लेना।

आ) ऐच्छिक क्रियाएं :जैसे शीर्षासन करना।

ये सब ऐच्छिक-अनैच्छिक शारीरिक क्रियाएं जिसमें आपका मन संलग्न नहीं होता , राग-द्वेष नहीं होता, तो गीता के अनुसार वे कर्म नहीं हैं।

२) मानसिक क्रियाएं : कई क्रियाएं आप मन से ही करते हो , शरीर से नहीं। जैसे किसीको मारने का विचार आपके मन में आया लेकिन जबतक आप उसे कृति में नहीं उतारेंगे तबतक वह अपराध नहीं होगा इसी कारण आपराधिक कानून में एक कलम है -

'Intention to commit an offence is not an offence '

जहाँ तक 'कर्म सिद्धांत ' का प्रश्न है , कलियुग में, जिसमें हम जी रहे हैं , (और युग तो हमारे लिए केवल कल्पना है)मानसिक पुण्य करें तो पुण्य मिल जाता है , लेकिन मानसिक पाप करें तो आपको कोई दूषण नहीं लगता । इसका अर्थ यह नहीं कि इसकी आपको छूट है । इसका अर्थ है कोई बुरा विचार आपके मन में आया और उसको मूर्त रूप देने के पहले ही आपमें पश्चात्ताप का भाव उभरा तो कोई दोष आपको नहीं लगेगा । (लेकिन आपमें पश्चात्ताप का भाव नहीं उभरता तो वहीं विचार बार-बार उभरेगा और एक क्षण ऐसा आएगा कि आप उसे शारीरिक कर्म, क्रिया में उतारने से अपने आप को रोक न पाओं और वह प्रत्यक्ष अपराध का रूप ले लेगा)। यह सुविधा केवल कलियुग में उपलब्ध है, सत्ययुग में नहीं, ऐसा शास्त्र कहता है।

अज्ञानी बालक अनजाने में किसी किड़े को मार डालता है , मनुष्य द्वारा भी पानी , दूध, उत्स्वास आदि में असंख्य जीवाणुओं की हिंसा होती है । लेकिन ये सब कर्म नहीं बनते चूँकि इनके पीछे कोई राग-द्वेष की भावना नहीं होती।

पुण्य और लोकेषणा

आप दान-पुण्य करो और उसकी जाहिरात हो जाए , आपकी वाहवाही हो जाए तो आपके कर्म का अच्छा फल आपको तुरंत मिल गया । अब वह आपके खाते में जमा नहीं होगा । जिससे आपको भावी जीवन में कोई सुख मिले।

वैसे ही किसी भी गलत काम के प्रति पश्चात्ताप से भी उस कर्म का फल तिरोहित हो जाएगा।

पुरुषार्थ द्वारा प्रारब्धों का बदलना ---

शरीरकाल दरम्यान भोगे जानेवाले प्रारब्धों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है -

१) अति तीव्र प्रारब्ध : इसे किसी भी बड़े से बड़े पुरुषार्थ से रोका नहीं जा सकता।

2) तीव्र प्रारब्ध: तीव्र पुरुषार्थ से किसी हद तक बदल संभव है।

३ + ४): मंद और अति मंद प्रारब्ध, प्रबल पुरुषार्थ से निष्फल किए जा सकते हैं।

या तो आप मानिए कि प्रत्येक कर्म का फल तो आपको भोगना ही है। इसमें से छुटकारा नहीं। तो फिर वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, रामायण आदि के सारे उपदेश निरर्थक हैं और अगर कर्म के फल में हेरफेर किया जा सकता है तो फिर कर्म सिद्धांत का मूल मतितार्थ ही नहीं बचेगा। पुरुषार्थ ही सर्वश्रेष्ठ होगा । कर्म सिद्धांत इस विरोधाभास से अपने आप को मुक्त नहीं कर सकता।

मनुष्य जानते हुए भी पाप क्यों करता है?

श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता में बताते हैं -

"मनुष्य के भीतर, अंतःकरण में रही जन्मोजन्मान्तर की वासनाएं और कामनाएं उसे पाप कर्म करने में प्रवृत्त करती हैं।"

कर्म, प्रतिकर्म (रिएक्शन), विकर्म और अकर्म -

कर्म: इस लोक और परलोक में जिसका फल सुखदायक होता है ऐसी उत्तम क्रिया 'कर्म' है।

विकर्म: जिसका फल इस लोक में और परलोक में दुःखदायी होता है । बुरी धारणा से , तमोगुण प्रधान कर्म 'विकर्म' है।

अकर्म : जो कर्म या कर्मत्याग किसी भी फल की उत्पत्ति का कारण नहीं बनता उसे अकर्म कहते हैं। कर्म अगर कर्तापन के अभिमान से रहित , निजी राग-द्वेष के बिना , समष्टि के कल्याण के लिए करने में आता है, तो वह अकर्म बन जाता है।

कोई भी क्रिया, कर्म, विकर्म या अकर्म में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित हो सकती है। कर्म करते समय स्वयं साक्षीभाव से रहे। सहज स्वाभाविक कर्म को ही 'अकर्म' कहते हैं ।

प्रतिज्ञाभंग करना पाप या विकर्म है। फिर भी श्रीकृष्ण प्रतिज्ञाभंग करते हुए , युद्ध में शस्त्र(रथचक्र) धारण करते हुए, भीष्म जैसे सत्यप्रतिज्ञ को मारने दौड़ पड़े , इसे 'विकर्म' नहीं 'अकर्म' माना जाए, ऐसा शास्त्र कहता है। सब मन का और शब्दों का खेल है। सुविधाजनक आत्मसांतवना है।

हम लोग जिसे कर्म कहते हैं वह वास्तव में अधिकतर प्रतिकर्म (**Reaction**) होता है। अगर आप गाली दे तो कर्म और प्रत्युत्तर रूप में गाली देना पड़े तो प्रतिकर्म। लेकिन कोई आपको गाली दे और फिर भी आप कोई प्रतिक्रिया न करते हुए शांत बने रहे तो वह कर्म होगा। बाहर के परिबल से प्रयुक्त हुआ (**Compelled**), मजबूरी में किया हुआ कर्म।

लेकिन अकर्मण्यता (**Non - action**) यह 'अकर्म' (**Inaction**) नहीं है।

ज्योतिष्यशास्त्र-

बहुत से जन ज्योतिष्य का आश्रय लेकर प्रारब्ध जानने का प्रयत्न करते हैं। मानो , आपने उसे जान भी लिया तो भी वह आपको छोड़ेगा नहीं।

बुद्धि: प्रारब्ध भोगने में जीव परतंत्र है । इसलिए उसकी बुद्धि प्रारब्ध के अनुसार होती है । प्रारब्ध भोगने में बुद्धि, कर्म का अनुसरण करती है। जैसा कर्म वैसी ही बुद्धि सूझेगी।

ग्रह-नक्षत्र:मनुष्य का जैसा प्रारब्ध निर्माण हुआ हो उस प्रकार के ग्रह-नक्षत्रों की उसके जन्म के समय स्थिति होती है । ज्योतिष्य जीव को कल्याणकारी प्रवृत्तियों में लगाने के लिए मार्गदर्शन कर सकता है। किन्तु यह ग्रह-नक्षत्र, जीव को प्रारब्ध से सम्पूर्ण मुक्ति नहीं दे सकता।

स्वर्ग और मोक्ष-

कर्म के क्षेत्र में दो पक्ष दिखाई देते हैं। एक पक्ष के अनुसार जन्मजन्मांतर और सुखदुःख का कारण कर्म ही अवश्य है। लेकिन धर्म, अर्थ और काम ये तीन ही पुरुषार्थ उसके हिसाब में थे। उसकी यात्रा का अंतिम पड़ाव स्वर्ग ही था । मोक्ष की संकल्पना उसमें नहीं थी । कर्मकांडों और यज्ञों का फल स्वर्गप्राप्ति तक ही था । इसे प्रवर्तक पक्ष कहा जाता है । इसके विपरीत दूसरा पक्ष

स्वर्ग से आगे 'अंतिम मोक्ष' की पायदान को महत्त्व देता है । या निवर्तकवादी पक्ष हुआ । इसके अनुसार दया, पुण्य आदि शुभ कर्म स्वर्गप्राप्ति तक तो ठीक है। लेकिन मोक्षप्राप्ति के लिए उससे आगे बढ़कर और अधिक ' शुद्धि ' आवश्यक है। अब यह मोक्ष और शुद्धि अनिर्वचनीय तो है ही।

जैन धर्म-

जैन धर्म कर्मों को भी दो तरह का मानता है -नियतविपाकी और अनियतविपाकी। जो कर्म तीव्र कषाय से बंधते हैं, उनका बंध भी प्रगाढ़ होता है और विपाक भी नियत होता है। उन्हें निकोचित कर्म कहा जाता है। जो कर्म अल्प कषाय से उद्भूत होते हैं, उनका बंधन शिथिल होता है और वे तप या पश्चात्ताप से निजीर्ण हो जाते हैं । उन्हें अनियत विपाकी कहा जाता है। नियत विपाकी कर्म का भोग अनिवार्य होता है। अनियत विपाकी को आध्यात्मिकता के माध्यम से दूर किया जा सकता है।

वास्तव में पुरुषार्थ से जुड़े कर्मवाद को अलौकिक संकल्पनाओं को पूरी तरह नकार देना चाहिए। लेकिन -

वैदिक विचारधारा जीव को कर्म करने में स्वतंत्र मानती है। ईश्वर उसकी स्वतंत्रता में बाधक नहीं बनता। लेकिन कर्मफल पाने में जीव ईश्वराधीन है। दुःख, ईश्वर की वह दंड व्यवस्था है जिसके द्वारा वह पापों, अपराधों को रोकता है।

इसपर एक आस्तिक व्यक्ति ही पुछता है कि ईश्वर अगर कर्मों का फल देता है तो वह न्यायकारी तो हो सकता है लेकिन उसे दयालु कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि दया का अर्थ है बिना दंड दिए क्षमा कर देना । न्याय का अर्थ है, कर्म के फल को बिना घटाए-बढ़ाए देना । दोनों बातें एकदूसरे के विरोधी हैं । दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं ।इसका उत्तर वैदिक प्रेमी इस प्रकार देते हैं - "ईश्वर जो फल देते हैं उसका प्रयोजन न बदला लेना हैं और न ईश्वर की अपनी कोई स्वार्थसिद्धि। उसका उद्देश्य सुधार हैं । तो निःस्वार्थ भाव से औरों का सुधार करना दया नहीं तो और क्या हैं ?"

बुराइयां, अन्याय, अत्याचार, पक्षपात आदि से मनुष्य को रोकने के दो ही मार्ग हैं।१) शासन-प्रशासन द्वारा लादे गए कानून और उनके कारण मिलनेवाले दंड का भय । लेकिन इसके लिए हर जगह निगरानी रखना संभव नहीं । २) मनुष्य के अपने सुसंस्कार और विवेक बुद्धि । जहातक समाज का प्रश्न है उसका अपना सांस्कृतिक स्तर।

आस्तिकवादी कहते हैं कि ईश्वर के डर की एक बड़ी उपयोगिता है। ईश्वर के डर से लोग बुराइयों से दूर रहते हैं । लेकिन क्या यह वास्तवता है ? ईश्वर, धर्म आदि का सबसे अधिक

बोलबाला आज भारत में है। जबकि पाश्चिमात्य जगत में तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम। लेकिन वहां छोटी-मोटी चीजें बेचने के स्थान पर कोई मनुष्य नहीं होता। लोग अखबार आदि उठाने से पहले उसकी कीमत ईमानदारी से रख देते हैं। सार्वजनिक नलों की टोटियां ले जानेवाले भारत जैसे समाज में क्या इसकी कल्पना भी की जा सकती है? अर्थात् केवल आध्यात्मिक डर अपराधों को नहीं रोकता। समाज का सांस्कृतिक स्तर अधिक परिणामकारक सिद्ध होता है।

एक विचार यह भी मिलता है - जैसे आम का फल आम के वृक्ष से उत्पन्न हुआ है अर्थात् वह आमवृक्ष का ही हिस्सा है, वैसे कर्म का फल, कर्म से ही फुटकर नहीं निकला है, वह कर्म का हिस्सा नहीं है। वह कर्म के कारण बाहर से आया है। क्यों भाई? आप कह रहे हो इसलिए? बाहर से आनेवाला फल कौनसी दुनिया से आता है? वह इस दुनिया का हिस्सा क्यों नहीं हो सकता? आप कारण और परिणाम को तो आमतौर पर मानते हैं। फिर यहाँ इस सिद्धांत से दूर ऐसी छलांग क्यों? यहाँ भी ऐसे प्रश्नों का अंत नहीं होगा। हाँ आप जरूर कहेंगे कि यह मेरे जैसे अज्ञानी के समझ के बाहर की बात है।

* वास्तव में कर्म सिद्धांत दो तरह के विचारों की खींचातानी का परिणाम है। एक विचार था कि किसी अदृश्य और अलौकिक शक्ति के हाथ में अपने जीवन की बागडोर सौंपने की मंशा, ताकि कुछ हद तक अपने कर्मों के उत्तरदायित्व से और अपराध बोध से मुक्त हुआ जा सके। इसमें से ईश्वरवाद का जन्म हुआ और अलौकिक शक्तियों का संसार खड़ा हुआ। इसके पीछे समय-समय पर अलग-अलग उद्देश्य होने की बात इतिहास से स्पष्ट हो जाती है। लेकिन इस विचार को आम सहमति मिलना मुश्किल था। मनुष्य को अपने अस्तित्व का, अपनी स्वतंत्रता का अहसास होना स्वाभाविक था। कुछ लोग ऐसी शक्तियों की परतंत्रता से छुटकारा चाहते थे और सारा जीवन ऐसी कल्पनाओं के सहारे तो चल नहीं सकता था। तो नियतिवाद और पुरुषार्थवाद के सम्मिश्रण से कर्म सिद्धांत का जन्म हुआ। जैसे-जैसे मनुष्य के व्यवहार में नैतिकता का प्रश्न विस्तृत होता गया, यह मान्य होने लगा कि शुभाशुभ कर्मों के प्रति उत्तरदायित्व कर्ता का ही होना चाहिए।

पाप और पुण्य

पाप की परिभाषा दुनिया के विभिन्न भागों में अलग-अलग है।

अभी-अभी कुछ घटनाएं हुई हैं। कोई अगर एक गौ को मार डाले तो वह पाप है। ठीक है। केवल गौ के साथ दिखने पर यदि वह व्यक्ति मार डाला जाए , केवल इसलिए कि वह व्यक्ति विशिष्ट धर्म का है , तो मारनेवाला वीर , धर्मरक्षक, पुण्य का अधिकारी समझा जाने लगा है । धर्मरक्षक उसे आशीर्वाद और अभय भी देते हैं । ऐसे कितने ही उदाहरण सामने आए हैं । अर्थात् सभी बातें सापेक्ष हैं। तो फिर पाप है क्या ?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अच्छे प्रयोजन से किए गए कर्म पुण्य हैं । इससे उल्टा पाप है। पाप का अर्थ अनैतिक आचरण से है तो उस शब्द पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

लेकिन धार्मिक सन्दर्भ में उसका अर्थ केवल उतना ही नहीं होता । नैतिकता और धार्मिक आचरण सर्वथा अलग-अलग बातें हैं । नैतिकता की कसौटी सामाजिक आचरण है और सामाजिकता का गुण केवल रीतिरिवाजों और परम्पराओं के पालन से नहीं आता। जाती, धर्म और ईश्वरवाद के आधार पर चार लोगों का एकत्र आना सामाजिकता नहीं है । उल्टा उससे समाज अलग-अलग वर्गों में बट जाता है।

कहाँ जाता है कि गलत काम करने से रोकने और काम हो जाने पर उसके प्रति ग्लानि उत्पन्न करनेवाली शक्ति ईश्वर ही है। क्या वास्तव में ऐसा है?

डाकू मानसिंग दुर्गा का अनन्य भक्त था । जब वह डाका डालने निकालता था तो प्रथम देवी के मंदिर में पूजा करता था और उसका आशीर्वाद मांगता था । अपनी लूट का एक हिस्सा मंदिर में चढ़ाता था। ईश्वर क्यों उसे इससे विमुख नहीं करता था?

इस पर आस्तिक कहते हैं कि ऐसे कामों के लिए ईश्वर थोड़े ही कहता है , तो दूसरी ओर कहते हैं कि भगवान की मर्जी के शिवाय पता भी नहीं हिल सकता। कितना विरोधाभास है।

ईश्वर का नाम , उन लोगों को मानसिक सम्बल देता है , जो उसका नाम लेकर दुष्कर्म करनेवाले, अपने मन में उत्पन्न अपराध बोध से छुटकारा पा लेते हैं। बुरे से बुरा काम कर लो , ईश्वर से क्षमा मांग लेंगे । वह तो दयालु है ही और यही बात उन जुल्मी राजाओं , सत्ताधारियों, बड़े-बड़े महंतों ने, शक्तिशाली व्यक्तियों ने की है। चोरों के बीच रहें, पले, बड़े हुए लोगों में न चोरी करने में झिझक होती है , न करने के बाद उनमें ग्लानि पैदा होती है । उनके लिए यही क्या, इनसे भी भयंकर कर्म सामान्य बात है । पहले कुछ जातियां थीं जिनका काम या कहिए

जीवनयापन का माध्यम ही चोरियां थीं। जिस समाज में, जैसे व्यक्तियों के बीच मनुष्य रहता है, वहां का वातावरण व्यक्तियों में वैसे ही संस्कार उत्पन्न करता है।

सामाजिक नैतिकता वास्तव में समझ के विकास से पैदा होती है। संस्कारों से पैदा होती है। अपनी कल्पना शक्ति से व्यक्ति दूसरों की व्यथाएँ, वेदनाएं जान सकता है।

दान-धर्म में गुलामी है तो सहयोग में बंधुत्व।

जो कार्य अंतरात्मा की आवाज के विरुद्ध किए जाएं, वे ही पाप हैं। अंतरात्मा क्या है? इसे ही अन्य शब्दों में सदसद्विवेक बुद्धि कहा जाता है। बचपन से मिले हुए संस्कारों के आधार पर ही अंतरात्मा की आवाज निर्भर होती है। कुछ लोगों के अनुसार, आत्मा ही वह वस्तु है जो, सही-गलत का विवेक कराती है। उनकी आत्मा इस सदसद्विवेक बुद्धि से अलग क्या है?

यदि यह मान लिया जाए कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियां ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं तो सही-गलत का सिद्धांत ही नहीं रहेगा।

आध्यात्म के अनुसार हमारे अच्छे-बुरे कर्म, आत्मा में पाप-पुण्य का सृजन करते हैं और ये ही पाप-पुण्य, हमारे साथ-साथ रहते हैं। इन्हें 'अदृष्ट' का नाम दिया गया है। 'अदृष्ट' हमारे अच्छे-बुरे फल का कारण है। इस अदृष्ट का नियंत्रक 'ईश्वर' है। पाप-पुण्य करनेवाला शरीर और आत्मा एक नहीं।

- लेकिन निर्लिंग कहे जानेवाले आत्मा को जबरदस्ती इनके साथ चिपका दिया जाता है।

भौतिकविज्ञान, बाह्य निसर्ग के अध्ययन से मूल्यों की निर्मिति नहीं होती। उनकी निर्मिति यह मानवी आत्मा से ही होती है। (स्वामी रंगनाथानन्द: विज्ञान और आध्यात्म)

भौतिक विज्ञान और आध्यात्म, केवल ये ही दो पहलु नहीं हैं मनुष्य जीवन के। इस भौतिक दुनिया से जुड़े कई पहलू हैं जिनके आधार पर मनुष्य जाति ने मूल्यों की निर्मिति की है।

वास्तव में परंपरागत संस्कार के कारण ही उत्तरदाईत्व की भावना सुप्त मन की गहराई में अंकित होती है और व्यक्तिगत सदसद्विवेक बुद्धि के रूप में आवश्यकतानुसार निर्णय लेती है। हाँ, यह बात जरूर है कि विभिन्न परिस्थितियों का विभिन्न व्यक्तियों पर होनेवाले प्रभाव में कुछ अंतर होता है।

समष्टि का ख्याल रखते हुए अपने कुछ स्वार्थों का त्याग करना यही विवेक बुद्धि बताती है। यही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध सामाजिकता से है। धर्म पूरी तरह इसी जीवन का, इसी समाज का, इसी संसार का विषय है। किसी अदृश्य, काल्पनिक संसार का नहीं। हमें भौतिक जगत

की समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए । उनके विषय में अपने विवेक का उपयोग करना चाहिए । हमारी समस्याओं से हमें ही निबटना है । सामाजिक नियम रूपी धर्म इसी जीवन में मनुष्य को अर्थ और काम की प्राप्ति करा सकता है । धर्म शब्द का अर्थ सामाजिक नियम या कर्तव्य होना चाहिए या निरर्थक कर्मकांड ? यही ईमानदारी से किए जाए , तो आपके कर्म ही आपका धर्म है । आपसे श्रेष्ठ शक्ति की उपासना है। इसीसे आपका जीवन धन्य हो जाएगा। यहीं स्वर्ग उतर आएगा। ऐसे धर्म का सम्बन्ध क्या किन्हीं काल्पनिक, अलौकिक कल्पनाओं से हो सकता है?

वैसे तो आजकल अपने-अपने पाप-पुण्य का हिसाब-किताब बराबर करा लेना बहुत आसान हो गया है । मंदिरों आदि में अधिक से अधिक दान दो , अपना भार ईश्वर के कंधे पर डालों और क्षमा मांग लो । आजकल तो बड़े से बड़े मंदिर बनवाने की , पंचतारांकित धार्मिक आयोजन आयोजित करने की, अपने ईश्वर भक्ति का अधिक से अधिक प्रदर्शन करने की होड़ सी मची हुई है। बराबर है, आज का धर्म तो मुक्त व्यापार ही है । प्रत्यक्ष दैनिक व्यवहार में न भूतो, न भविष्यति भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है।

दंड -

दंड का उद्देश्य मनुष्य का सुधार होना चाहिए , उससे बदला लेना नहीं। यह बात कोई भी विचारशील व्यक्ति मान्य करेगा।

सुख-दुःख-

इंसान के कर्मों के दो ही परिणाम निकल सकते हैं , सफलता या असफलता। इंसान की अपेक्षा रहती है , कर्म का फल सफलता के रूप में सामने आये और इस सफलता-विफलता के साथ उसके सुखों-दुःखों की अनुभूति जुड़ी रहती है । सुख-दुःख भी दो तरह के होते हैं , शारीरिक और मानसिक। जहाँ तक मानसिक दुःखों का सम्बन्ध है , आज यह स्पष्ट हो चुका है कि ये मनोवैज्ञानिक संवेग हैं। किसी सायकिल वाले को स्कूटर मिल जाए तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहेगा। लेकिन किसी कारवाले की नौकरी छूट जाए और उसे कार छोड़कर स्कूटर अपनाना पड़े तो वह एकदम दुःखी हो जाएगा । अर्थात् ये अनुभूतियाँ सापेक्ष हैं । एक ही कारण से तुम्हारे मनोवेग अलग-अलग हो सकते हैं।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोविकारों की शरीर और मन पर प्रभाव के रूप में परिणति ही कर्मफल मिलना है। यही हाथोहाथ मिलनेवाला स्वर्ग-नर्क है।

मनुष्य को उसका अपना स्वाभाविक जीवन जीने दीजिए , ऐसा दिखेगा कि वह स्वयं ही उन्नत हो रहा है, बिना किसी बंधन के। वह अपने सुख-दुःखों को स्वयं ही जी रहा है।

स्वर्ग-नर्क-

गरुड पुराण में नरकों का इतना विस्तृत वर्णन है कि मानो जिसने भी यह वर्णन लिखा होगा, वह वहां जाकर सारी चीजें प्रत्यक्ष भुगतकर आया है । मानों वहां के असंख्य कर्मचारी उत्पीड़न प्रक्रिया में ही दिनरात मग्न रहते हैं।

हिन्दुओं का नर्क दक्षिण दिशा में है तो पारसियों का उत्तर में।

स्वर्ग के वर्णन के तो कहने ही क्या?

समाजों में सुख-दुःख की अनुभूति जिस स्तर की रही है , वहां के स्वर्ग-नर्क भी उसीके साथ मेल खाते हुए दिखेंगे।

मुक्ति -

विज्ञान ने तो मनुष्य का जीवन काफी सुखदायक बनाया है और काफी समस्याओं से उसे मुक्ति दी है।

अध्यात्म ने कितने लोगों को मुक्ति दी , इसका तो हिसाब किसी ने रखा नहीं लेकिन उसने कई तरह के बंधन , उसके भौतिक, मानसिक और बौद्धिक जीवन पर डाल रखे , यह तो वास्तवता है।

मनुष्य समाज की यात्रा में , मनुष्य शुरू से ही कई तरह के बंधनों में जकड़ा हुआ था । कुछ हद तक, यह कहना सचाई से अधिक दूर नहीं होगा कि उसे जानबूझकर इन बेड़ियों में जकड़कर रखा गया था। उसे इन बंधनों से मुक्ति चाहिए। आर्थिक, मानसिक और बौद्धिक बंधनों से मुक्ति। वास्तव में इन सभी वर्गों के बंधन, एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं।

काल्पनिक संकल्पनाओं से मुक्ति का अर्थ है निर्भय मानसिकता का उदय । भारतीय चिंतन में धर्म , अर्थ, काम, मोक्ष इन्हें मनुष्य जीवन के उद्दिष्ट बताया गया है । मोक्ष यह एक अमूर्त 'कल्पना' है जिसका प्रस्तुतीकरण कई रूपों में हो सकता है। अर्थात् सारी बातें इसी भौतिक जीवन से जुड़ी हुई हैं। उनका पालन दुनिया को 'माया' मानकर कैसे होगा?

भाग्यवाद -

हमारे जीवन में कुछ-कुछ मुहावरे काफी घुले-मिले हुए हैं। जैसे -

जब-जब जो होना है, वही होता है।

ईश्वर की मर्जी के बिना पता भी नहीं हिल सकता।

सब कर्मों का फल है, लिखे हुए को कोई टाल नहीं सकता।

भगवन के घर देर है, अंधेर नहीं। भगवान् न्यायी है।

इन सारी बातों में अंतर्विरोध ही अंतर्विरोध है । भगवन की मर्जी के बिना पता भी अगर हिल नहीं सकता तो मनुष्य की कर्म स्वतंत्रता का और उसके अनुसार मिलनेवाले फल का क्या प्रयोजन रहा?

ये सब भाग्यवाद को बढ़ावा देनेवाली और मनुष्य की कार्यशक्ति कुंद करनेवाली बातें हैं । ऐसे भाग्यवाद से जितना जल्दी छुटकारा हो जाए, उतना ही अच्छा।

'भाग्य में यही लिखा था' ऐसी किसीकी दी हुई सांत्वना या आत्मसांत्वना तत्काल दृष्टि से कुछ उपयोगी लग सकती है । लेकिन यह मनुष्य की सोचने-समझने की शक्ति छीन लेती है क्योंकि मनुष्य भाग्य को सर्वोच्च मानकर चुप बैठ जाता है । उन कारणों को समझने की विशेष कोशिश नहीं करता जिसके कारण असफलता मिली थी । दोबारा उठ खड़ा होने की उसकी क्षमता कुछ क्षीण हो जाती है।

मुक्ति-

मृत्यु के उपरांत मनुष्य को मुक्ति मिलती या नहीं, न इसके कोई प्रमाण है, न इसके कि वह मुक्ति याने निश्चित क्या है।

लेकिन जीवन जीते हुए ही मनुष्य को मुक्ति की आवश्यकता है और कुछ मर्यादा तक उसे प्राप्त किया जा सकता है।

मुक्ति --१) आध्यात्मिक मुक्ति।

२) भौतिक मुक्ति।

आध्यात्मिक मुक्ति -अध्यात्म में मानव मुक्ति की संकल्पना यह सबसे ऊपर है । सारे अध्यात्म का उद्देश्य यह मुक्ति प्राप्ति ही है । लेकिन अध्यात्म के क्षेत्र में इस 'मुक्ति' की संकल्पना में कहीं एकवाक्यता नहीं है, जैसा की अन्य आध्यात्मिक संकल्पनाओं के बारे में भी है । लेकिन मोटे तौर पर उसका स्वरूप इस तरह लिया जा सकता है-

मेरे दुःख के लिए उत्तरदायी मैं ही हूँ इस गृहीत के आधार पर अपने आप की शुद्धि करना, विकार मुक्त होना। अर्थात् दुनिया की गतिविधियों के साथ जुड़े रहते हुए भी, उनका प्रभाव

अपने मन पर न होने देना, स्वतंत्र मन से निर्भयता के साथ सहज जीवन जीना। यह बात है कि अपने मन को निश्चित, निर्भय और निःशंक स्थिर अवस्था में रखना कुछ आसान नहीं है। लेकिन उसके लिए काल्पनिक संकल्पनाओं से युक्त अध्यात्म ही केवल साधन है , यह बात नहीं। दुनिया में आजतक लाखों लोग हुए हैं जिन्होंने अध्यात्म को नकारते हुए भी या उससे दूर रहते हुए ही , अपना मन वज्र जैसा बनाते हुए , प्राप्त हुई क्षमता का अधिकतम उपयोग करते हुए , जो अनमोल जीवन मिला है उसका उचित उपयोग करते हुए , दुनिया में असामान्य काम किए हैं। मानवता को आगे बढ़ाया है।

बात सामान्य व्यक्ति की:- उपरोक्त तरह का मानसिक संतुलन प्राप्त करना उतना ही कठिन है, या आसान है भले ही आप उसके लिए अध्यात्म का रास्ता पकड़ो या उसे नकारते हुए आगे बढ़ो। अगर ऐसा न होता तो अध्यात्म के रास्ते पर चलनेवाले ढोंगी , इतनी बड़ी संख्या में नहीं मिलते।

बात उनकी भी हो सकती है जिनमें डिप्रेशन जैसी मानसिक रुग्णता उत्पन्न हुई है । डिप्रेशन का कारण बाह्य होने पर भी यह बात अब सिद्ध है कि दिमाग में हो रहा रासायनिक संतुलन भी इसके साथ जुड़ा रहता है और इस असंतुलन का इलाज करने आज तो काफी संख्या में दवाइयां उपलब्ध हैं ।

भौतिक मुक्ति -

१)शारीरिक मुक्ति

भले ही गुलामी प्रथा इतिहास की बात हो गई हो लेकिन बंधुआ मजदूरी जैसी प्रथाओं से आज भी समाज पूरी तरह मुक्त नहीं है। इस प्रछन्न गुलामी के कई रूप हैं।

२) बौद्धिक मुक्ति

इसके लिए बौद्धिक और तार्किक आधार के निर्माण से अन्य कोई उपाय नहीं है। इस प्रबंध का सारा प्रपंच ही इसी उद्देश्य के लिए है। अवैज्ञानिक संकल्पनाओं से मुक्ति के लिए विज्ञान और विवेक ही मुक्तिदाता हैं।

३) आर्थिक मुक्ति

यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति के बाद मानव समाज के इतिहास में भौतिक मुक्ति का समय शुरू हुआ। इस यात्रा में सबसे महत्वपूर्ण बात यह ध्यान में आई कि मनुष्य के

दुःखों के लिए काफी हद तक बाह्य परिस्थिति उत्तरदाई है | अतः मनुष्य को सुखी करने बाह्य परिस्थिति को बदलना यह प्रथम प्रायिकता होनी चाहिए।

भारतीय समाज को भौतिक/आर्थिक मुक्ति की कितनी आवश्यकता है यह निम्न बातों से स्पष्ट होगा -

पिछले कई सालों से संयुक्त राष्ट्र संघ दुनिया के देशों में विकास की स्थिति क्या है, इस विषय पर कई आधारों पर निर्देशांक प्रति वर्ष घोषित करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ विकास कार्यक्रम (**NUDP**): इसके अंतर्गत १९९० में 'मानव विकास निर्देशांक' निर्माण करने का प्रकल्प हाथ में लिया गया था |नोबेल पारितोषिक विजेता भारतीय अर्थतज्ञ अमर्त्य सेन इन्होंने मेहबूब-उल-हक और अन्य विशेषज्ञों की सहायता से 'मानव विकास निर्देशांक' इस संकल्पना को आकार देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया | इस निर्देशांक को निश्चित करते समय स्वस्थ और दीर्घ आयु , अध्ययन/ज्ञान ग्रहण और अच्छा जीवनयापन का स्तर ये तीन मितियाँ ध्यान में ली जाती हैं।

१८८ देशों के क्रम में 'मानव विकास निर्देशांक' की दृष्टि से भारत १३१ वे स्थान पर है।

उसी तरह निम्न चार घटकों के आधार पर 'सामाजिक प्रगति निर्देशांक' निश्चित होता है

-

१) जन्म के समय अपेक्षित आयुष्यमान।

२) स्कूल में बिताए औसत साल (२५ या इससे अधिक आयु के व्यक्तियों द्वारा)

३) स्कूल में व्यतीत करने के अपेक्षित वर्ष (पांच साल के बच्चे के जीवन के , पढाई के लिए अपेक्षित वर्ष)।

४) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पन्न।

'सामाजिक प्रगति निर्देशांक' अमेरिका की एक स्वयंसेवी संस्था प्रतिवर्ष घोषित करती है | वर्ष २०१६ में १३३ देशों की सूची में भारत ९८ वे स्थान पर था।

- शिक्षा की दृष्टि से जागतिक विश्वविद्यालयों की सूची में प्रथम २०० में भारत का एक भी संस्थान नहीं है।

न्यायी ईश्वर-

एक संत सालों से जेल में बंद है | उनके विरुद्ध गवाही देनेवालों को उन्होंने अपने चेलों द्वारा मरवा डाला या कहीं उनके चेलों ने मार डाला | यह है उनके आध्यात्मिक उपदेशों का आउटकम| क्या ईश्वर का न्याय भी यही है | एक बदचलन व्यक्ति (भलेहि उसने संत का चोला पहन रखा हो) के विरुद्ध गवाह देने वालों को (पुण्य का काम करनेवालों को) ईश्वर ने उनकी हत्या के रूप में पारितोषिक दिया।

मामूली सी बीमारी के कारण हजारों गरीब लोग इस दुनिया से चले जाते हैं , केवल इस कारण कि बीमारी का इलाज करने उनकी आर्थिक क्षमता नहीं होती। वही अमीर व्यक्ति बड़ी से बड़ी बीमारी पर आसानी से नियंत्रण कर लेता है | क्या ईश्वर के न्याय को भी पैसे की दरकार होती है।

जब कर्म सिद्धांत लोगों को विश्वास दिलाता है कि इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में मिलना है तो चालाक व्यक्ति अधिकतर मान लेता है कि अगला जन्म किसने देखा है ? चलो इसी जन्म में जो भला-बुरा कर रहे हैं, अपनी स्वार्थसिद्धि कर रहे हैं, वैसा ही चलने दे। यह व्यक्ति को सत्कर्म में प्रवृत्त करने के स्थान पर नकारात्मक परिणाम देगा | अगर आध्यात्मिक श्रद्धा ही जीवन का अंतिम सत्य है तो उसका परिणाम प्रत्यक्ष जीवन में क्यों नहीं दिखाई देता ?

अच्छे लोगों द्वारा दुःख झेलने और बुरे लोगों द्वारा मौज उड़ाने के जो बहुत सारे कारण हैं वे अधिकतर इसी दुनिया की व्यवस्था से जुड़े हैं, न कि इनका दूर-नियंत्रण (remote sensing) इस दुनिया के पार कहीं है |

न्यायी ईश्वर यह मनुष्य के दिमाग में बैठाई गई बहुत ही हानिकारक कल्पना है | यह दुनिया के बड़े से बड़े अन्यायकर्ता को उसके अत्याचारपूर्ण कृत्यों से पूरी तरह दोषमुक्त कराती है। ईश्वरी न्याय ने किसकी झोली में क्या डाला इसका तो पता नहीं लेकिन समाज व्यवस्था में विद्यमान अन्यायपूर्ण अंधेरगर्दी को वह न्यायोचित ठहराता रहा।

पुनर्जन्म

"पेड़-पादपों की तरह जीवन का भी शरीर के साथ ही अंत नहीं हो जाता । आदि और अंत से रहित वह सतत प्रवाहित रहता है । मृत्यु शारीरिक परिवर्तन की एक अवस्था है जिसमें जीवन की पृष्ठभूमि सन्निहित है। जीवात्मा का वह एक पड़ाव है, जहाँ से नई तैयारी, नई उमंग के साथ, नए जीवन की शुरुवात होती है । कर्मों के सूक्ष्म संस्कार उसके साथ चलते हैं । उसीके आधार पर अगले जीवन की भली-बुरी परिस्थितियां जीवात्मा को उपलब्ध होती हैं। जन्मजात प्रकट होनेवाली भली-बुरी विशेषताएं पूर्व जन्मों के कर्मों के ही प्रतिफल होते हैं । जो अनायास ही प्रत्यक्ष होती दिखाई पड़ती हैं। कर्मों का प्रतिफल इसी जीवन में मिले, यह आवश्यक नहीं। यह मान्य करते ही कई गुत्थियों का हल मिल जाता है । जैसे एक ही माँ-बाप से दो भिन्न तरह के बच्चों का पैदा होना।"

(मरणोत्तर जीवन और उसकी सच्चाई)

@ कुछ धर्मों ने मरने के बाद फिर से जन्म लेने की बात स्वीकार की तो कुछ धर्मों के अनुसार मृत्यु एक ऐसी घटना है जिसमें चेतना या प्राण सदा के लिए सो जाते हैं और सृष्टि के अंत में फिर जाग उठते हैं, अपना अंतिम न्याय पाने के लिए।

पुनर्जन्म की घटनाएं-

ऐसा दावा किया जाता है कि पुनर्जन्म को वैज्ञानिक रूप से सिद्ध किया जा रहा है या इसकी पुष्टि के प्रमाण मिले हैं । अगर ऐसा है तो इन प्रमाणों के आधार पर यह विषय एक विज्ञान के रूप में स्थापित क्यों नहीं हुआ , जिसकी चर्चा कुछ हजार सालों से हो रही है । कई घटनाओं के सन्दर्भ में यह साफ हुआ है कि वे घटनाएं पूर्वनियोजित थीं । लगभग सभी घटनाओं का स्वरूप एक जैसा ही था । कोई बच्चा बताता है कि पिछले जन्म में वह किसी निकटवर्ती स्थान पर अमुक-अमुक व्यक्ति के रूप में जीवन बिता रहा था । ऐसा कहीं पढ़ने में नहीं आया कि किसी बच्चे ने बताया हो कि पिछले जन्म में वह कोई जानवर था । अध्यात्म के अनुसार तो ८४ लाख योनियों में घूमने के बाद मनुष्य जन्म मिलता है । दूसरी बात ऐसी कि अधिकतर घटनाओं में हिंदु बच्चा, दोबारा हिंदु परिवार में ही जन्म कैसा लेता है ?

कर्म सिद्धांत और पुनर्जन्म इनके कारण ही व्यक्ति के गुणदोष और उसका जन्म लेना , उसके सुख-दुःख , उसका इस संसार में स्थान निश्चित होता है , इस मान्यता के कारण कुछ व्यक्तियों को विशेषाधिकार और बहुसंख्य जनता का अमानुष शोषण , इस तरह की समाज व्यवस्था का उदय हुआ, हजारों सालों तक इस व्यवस्था की न्यायोचितता स्थापित होती रही और उसे सभी धर्मों का समर्थन मिलता रहा।

पुनर्जन्म में जीव कौनसी योनि में जन्म लेगा इसका भी आधार इन्हीं कल्पनाओं को माना गया है। इस जन्म में मनुष्य रहा जीव अगले जन्म में सूअर भी बन सकता है । अर्थात् देहान्तर को तो माना गया। यही मूल कल्पना थी। लेकिन जब डार्विन कहता है कि एक जाती की उत्क्रांति में से दूसरी प्राणी जाति उत्पन्न होती है तो उसे सभी आध्यात्मिक सम्प्रदायों का एक आवाज में विरोध है। क्योंकि वैज्ञानिक आधार पर उभरे किसी सिद्धांत के बाद असिद्ध और गूढ़ संकल्पनाओं के लिए स्थान नहीं बचता।

आर्य संस्कृति में 'पुनर्जन्म' यह एक सर्वसम्मत मान्यता है। इसकी तुलना की महत्वपूर्ण और कोई मान्यता नहीं है और यह जीवात्मा ही है जो किसी भी प्राणी के एक जन्म में किये गए कर्मों के संस्कारों को दूसरे जन्म तक ले जाने का और उनके वाहक बनने का काम करता है।

अब प्रश्न उठेगा कि क्या जीवात्मा संस्कारों से प्रभावित होता है । यदि होता है तो उसे अपरिवर्तनशील और नित्य कैसे माना जाएगा। यदि प्रभावित नहीं होता तो वह संस्कारों का वाहक कैसे हो सकता है। जीवात्मा को अपरिवर्तनशील मानो और संस्कारों का वाहक भी ये दोनों बातें नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं । इसी तरह किसी भी आस्तिक संकल्पनाओं का बौद्धिक विश्लेषण करने पर आपको विरोधाभासी स्थिति का सामना करना पड़ेगा।

- ईश्वरवादियों के अनुसार ही पिछले जन्म के पापों की सजा अन्य किसी जन्म में मिलने की बात, असिद्ध हो जाती है। आत्मा और शरीर अलग-अलग बताए जाते हैं। कहा जाता है कि आत्मा निर्लिप्त है। वह न कोई कर्म करती है , न इच्छा रखती है। भले-बुरे कर्म शरीर द्वारा ही होते हैं। अब जिस शरीर ने कर्म किए वह तो मृत्यु के बाद नष्ट हो गई । अगले जन्म का शरीर तो बिलकुल अलग होगा। फिअ 'अ' के गुनाहों की सजा 'ब' को कैसे दी जा सकती है ?

वास्तव में पहली बार पुनर्जन्म और मुक्ति की बातें , छांदोग्य उपनिषद् में की गई हैं । इसी उपनिषद् में यह भी बताया गया है कि सत्कार्य से द्विज योनि और बुरे कामों से कुत्ता, शूकर या शूद्र कुल में जन्म होता है। शूद्रों को मनुष्य नहीं बल्कि कुत्ते और शूकर के बराबर माना गया। इन अलौकिक संकल्पनाओं की और मनुष्य-मनुष्य में भेद करने की, कुछ मनुष्यों को अति तुच्छ मानने की शुरुवात एक साथ हुई। इसके पीछे कुछ तो कारण होगा। आज अगर इस वर्णव्यवस्था को हम ठीक नहीं मानते तो इसकी उत्पत्ति के समय विद्यमान अन्य कारकों का अध्ययन आवश्यक है और वे कारक अगर आज भी हमारे बीच हैं तो उन्हें दूर करना जरूरी है।

अब 'थेनेटोलॉजी' नाम की एक शाखा विकसित हो रही है जो मरणासन्न व्यक्तियों का अध्ययन करती है। थेनेटोस यह ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है 'मृत्यु'।

मोक्ष -

वेद में एक जगह बताया गया है कि जीवात्मा मोक्ष की अवधि पूर्ण कर पुनः मनुष्य शरीर धारण करता है। मध्यकाल में यह धारणा थी कि एक बार मोक्ष होने पर जीवात्मा, दुनिया में कभी नहीं लौट आता।

इस बात पर उपलब्ध मतों को इस तरह वर्गीकृत किया जा सकता है-

आत्मवादी-

अ) अपुनर्जन्मवादी -आत्मा पुनः जन्म नहीं लेती - १) इस्लाम २) ईसाई ३) पुरातन वैदिक चिंतन

(वेदों में पुनर्जन्म का विवेचन नहीं है)

आ) पुनर्जन्मवादी - १) उत्तरकालीन वैदिक विचार (नित्य आत्मा)

२) जैन धर्म

अनात्मवादी -१) अपुनर्जन्मवादी -भौतिकवादी

२) पुनर्जन्मवादी -बुद्ध

शक्ति या तो शारीरिक हो सकती है या मानसिक। उसका रूपांतर हो सकता है। विनाश असंभव है। परिवर्तन कहते ही है, किसी के भी एक स्वरूप का नाश होना और दूसरे स्वरूप का उत्पन्न होना। नाम-रूप (व्यक्तित्व) का क्षण-क्षण मरना और क्षण-क्षण उत्पन्न होना या जन्म लेना ही उसका पुनर्जन्म है। इस तरह केवल अनात्मवाद से ही पुनर्जन्म सिद्ध होता है।”

नीतिशास्त्र

अनुभव के आधार पर कुछ एकदम प्राथमिक मूल्य निश्चित किए जाते हैं और उनपर से कई-कई नैतिक मूल्य आकार लेते हैं। अर्थात् इनका आधार अनुभव या वस्तुनिष्ठ होता है।

नीति यह कोई प्रकृति या प्राणि सृष्टि के नियम नहीं हैं । वह मनुष्य निर्मित कानून हैं । मनुष्य-मनुष्य के बीच, संबंधों में सुव्यवस्था कायम रखने के लिए वह बनी हैं।

नीतिसंस्था को इतिहास हैं।

नीति के नियम शाश्वत नहीं हो सकते।

नीति-नियम सामाजिक आवश्यकता में से उत्पन्न होते हैं । परिस्थिति के अनुसार वे बदलते हैं।

समाज जितना विकसित होगा उसी अनुपात में उसकी नीति विषयक कल्पनाएं प्रगल्भ होती जाती हैं और इसी प्रक्रिया में से आज 'नीतिशास्त्र' इस एक अलग शास्त्र ने आकार लिया है। परलोक आदि के कल्पनाजाल में न उलझते हुए वैज्ञानिक सोच के आधार पर 'नीतिशास्त्र' यह आज पूरी तरह ऐहिक बना हुआ है । पुराने धार्मिक नीतिशास्त्र की बैसाखियों से पूरी तरह मुक्त । विज्ञान ने मानवी ज्ञान का स्वरूप , क्षेत्र विस्तार तथा मर्यादाएं स्पष्ट की है । मूल्य उत्क्रांत होते रहे हैं। उनमें मनुष्य के जिन्दा होने का, उसकी बुद्धि सक्रीय होने का अहसास हैं।

यह सच है कि केवल अनीश्वरवाद से भी मनुष्य नैतिक नहीं बन जाता । मनुष्य के सामने मनुष्यता को प्राप्त करने की समस्या है। शुरु में ईश्वर और धर्म के रूप में इसका समाधान ढूँढने की कोशिश की गई थी । लेकिन जहांतक हमें वास्तव इतिहास की जानकारी है , धर्म और अध्यात्म की यह कोशिश पिछले पांच हजार सालों में विफल रही है । उसके स्थान पर पिछली इनी-गिनी सदियों में आस्तिकता को नकारनेवाले आन्दोलनों ने, कम से कम मानवता को सर्वोच्च मानने का मूल्य तो स्थापित कर ही दिया है और प्रत्यक्ष भौतिक जीवन को सहनीय बनाने में सफलता प्राप्त की है । अब ईश्वर और धर्म मानवीय जीवन की उद्देश्यपूर्ति करनेवाले आवश्यक कारक नहीं रह गए हैं । आज की दुनिया में समस्या-पूर्ति की दृष्टि से वे बहुत छोटे लगने लगे हैं। हो सकता है किसी समय उनका महत्व होगा।

आस्तिकवाद (लेखक श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय पृ.३५-३६) का निम्न परिच्छेद देखिए -

"जो लोग यह मानते हैं कि आस्तिकता अथवा धर्म के प्रभाव के बिना भी हम मानवी जीवन को सदाचारयुक्त , यथेष्ट और सुखपूर्वक बना सकते हैं , उनको ऐसी मानव जाति का

निर्माण करना चाहिए जो सर्वथा धार्मिक और आस्तिकता के प्रभावों से वंचित हो । लेकिन ऐसा समाज बनना असंभव है जहाँ ऐसा प्रभाव शून्य हो , जैसे पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण रहित क्षेत्र मिलना मुश्किल है।"

एक तो दुनिया में ऐसे लोग भारी संख्या में हुए हैं जिन्होंने ईश्वर को न मानते हुए भी साफ-सुथरे हृदय से एक मनुष्य का जीवन जिया है । इतिहास ऐसे व्यक्तियों से भरा पड़ा है । उपरोक्त परिच्छेद या तो इतिहास के प्रति अज्ञानता दर्शाता है या फिर गलत बयानबाजी।

आज की नैतिकता कई बंधनों से जकड़ी हुई है - क्षेत्रीय, आर्थिक, धार्मिक आदि।

आज के समाज में पैसा कमाना और संपत्ति एकत्र करना वह भी बिना किसी मर्यादा के यही सम्मान का पैमाना है । उसके सामने नैतिकता पार्श्व में चली गई है च्यूकि संपत्ति के अधिकार को पवित्र अधिकार माना गया है और धर्म की भी इसके लिए पूरी सम्मति है । शायद इसी कारण सारे संत और आध्यत्मिक प्रतिष्ठान अरबों कमाने के पीछे पड़े हुए हैं।

बुद्ध तो अनीश्वरवादी , अनात्मवादी अर्थात् नास्तिक थे लेकिन व्यक्तिगत जीवन में सदाचार और मानवीयता का सर्वोच्च उदहारण थे । तो क्या सारे नास्तिक अनैतिक और सारे आस्तिक नैतिक होते हैं?

बुद्ध के अनुसार धर्म की धुरी ईश्वर और आदमी का सम्बन्ध नहीं है बल्कि आदमी-आदमी के बीच का सम्बन्ध है। उनके बीच का आपसी व्यवहार मापदंड होना चाहिए। इस स्थिति में आदमी ईश्वर को मानता है या नहीं यह बात गौण हो जाती है।

मनुष्य की चिंता करते हुए, उसके प्रति करुणा का भाव धारण करते हुए, उसके लिए कार्य करता हुआ नास्तिक भी क्या अनैतिक है? और क्या दुनिया में ऐसे व्यक्ति नहीं हुए हैं ? मनुष्य ही केंद्रबिंदु और मानवता ही मुख्य है।

विवेक और बुद्धि ये अगर मनुष्य को सदाचार के प्रति प्रेरित करते होंगे तो अमूर्त , असिद्ध संकल्पनाओं की शरण में जाने की क्या आवश्यकता है?

सभी के जीवन की रक्षा तथा जिन्दा रहने के लिए जो आवश्यकताएं हैं उनकी सुरक्षा और उपलब्धता इसीपर नीतिशास्त्र आधारित होना चाहिए। यह साधारण समझ की बात है। इसके लिए अध्यात्म के किन्हीं गूढ़ संकल्पनाओं की क्या आवश्यकता है?

बौद्ध और जैन: इन्होंने कर्मकांड , यज्ञ , वेद , ईश्वर आदि का खंडन किया । जैन दर्शन ने सुझाया कि अपनी बात को ही अंतिम न मानकर दूसरों की बात को भी सुनो । तभी समाज में

शांति रह सकती है। जैन दर्शन ने तथाकथित मोक्ष प्राप्ति के लिए जो तीन बातें बताई वे हैं - सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र्य। इनमें से सम्यक चारित्र्य के अंतर्गत आनेवाले नियम हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। समाज में अशांति का कारण इनकी अवहेलना ही है। यदि लोग इनका पालन करने लगे तो मोक्ष मिले न मिले, इस धरती पर मनुष्य का जीवन सुखपूर्ण हो सकता है। इनमें से कौनसी ऐसी बात है, जिसकी खोज हमें इस संसार से पार किसी और दुनिया में करना पड़े।

बौद्ध: इसका उदय जैन धर्म के अवतरण के बाद हुआ है। किसी व्यक्ति का कल्याण इसी संसार में उसके आचरण से ही संभव है। बुद्ध ने संसार को दुःखमय तो माना लेकिन उसे कम करने के उपाय पूरी तरह लौकिक ही बताए: अहिंसा, सत्य, करुणा और ब्रह्मचर्य। इसके लिए जनसामान्य के लिए परिचित पाली भाषा को अपनाया। इन बातों से इन धर्मों का व्यापक प्रचार होने में काफी सहायता मिली।

वैसे देखा जाए तो महान भारतीय चिंतक कौटिल्य जिन्हें आध्यात्मिक क्षेत्र में भारी आदर प्राप्त है, कभी भी राजनीति को नैतिक आचरण के साथ जोड़ना नहीं चाहते। उनके अनुसार, शत्रु पर विजय पाने के लिए और उनको अपने नियंत्रण में लेने के लिए उनमें फुट डालना आवश्यक है और उसके लिए किसी भी बात का उपयोग किया जा सकता है। इसमें नैतिक-अनैतिक का प्रश्न उपस्थित नहीं करना चाहिए। लेकिन आध्यात्मवादी राजनीति का आधार धार्मिक होना चाहिए ऐसा आग्रह करते हैं। कैसा विरोधाभास है?

आधुनिक नीतिशास्त्र-

जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, नीति निर्धारण ने एक शास्त्र का रूप ले लिया है। उसके कुछ पहलुओं का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा।

अगर भूतकाल पर दृष्टि डाले तो -

प्लेटो के अनुसार नीतिनियम सापेक्ष नहीं होते।

एरिस्टोटल के अनुसार प्रत्येक बात का खींचाव उसकी स्वाभाविकता की ओर होता है अर्थात् 'स्वत्व' की ओर। मनुष्य का स्वत्व तो उसका विवेक है। लेकिन यह विवेक भावनाशून्य नहीं होना चाहिए। मनुष्य की कई भावनाएं होती हैं। उनके बीच का संघर्ष टालते हुए संवाद उत्पन्न करना, यही विवेक का काम है।

अर्थात् यह विचारधारा सद्गुणों पर आधारित है।

लेकिन आधुनिक नीतिनियमों की चौखटें निम्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं -

१) उपयुक्ततावादी दृष्टिकोण (**The Utilitarian Approach**) इसपर अधिक काम जेरेमी बेंथम और जे. एस.मिल इन्होंने किया है।

२) हक्काधिष्ठित दृष्टिकोण (**The Right Approach**)

व्यक्ति के नैतिक अधिकारों का सम्मान तथा सुरक्षा हो यही इसका आधार है | इसमें मनुष्य की क्षमता के आधार पर उसके अधिकारों को निश्चित नहीं किया जाता। उसने एक मनुष्य के रूप में जन्म लिया है इसी एक आधार पर उसके कुछ मूलभूत अधिकार माने गए हैं।

३) न्यायाधिष्ठित दृष्टिकोण (**The Justice Approach**)

४) सामाजिक कल्याणवादी दृष्टिकोण (**The Common Approach**)

५) सद्गुणाधिष्ठित दृष्टिकोण (**The Virtue Approach**)

सुखवाद-

अधिकाधिक लोग ज्यादा से ज्यादा सुखी हो | सुख यह एक भावना है | प्रत्येक व्यक्ति की सुख की कल्पना अलग-अलग होती है | सुख, समाधान तथा आनंद इनमें अंतर है | सुख सबसे ऊपर है। आनंद विकृत भी हो सकता है। चाहना और उचित होना इनमें अंतर है। जो उचित होगा वह सुख-समाधान देगा ही यह जरूरी नहीं | इससे उलट भी सच हो सकता है | जो उचित है और समाधान भी दे सकता है उसे सुख कहा जा सकता है।

किस बात की इच्छा की जाये यह नीतिशास्त्रीय समस्या है।

प्रयोजनवाद-

किसी कृति के परिणाम के आधार पर कृति की नैतिकता निश्चित करनेवाले नीतिशास्त्र के सिद्धांत को 'प्रयोजनवाद' कहते हैं। यहाँ कृति का प्रयोजन, ध्येय, अंतिम परिणाम इन्हें अधिक महत्व होता है। जिस कृति के माध्यम से अच्छे परिणाम प्राप्त किए जाते हैं ,ऐसी कृतियों को 'अच्छी' या 'योग्य' माना जाता है।

कर्तव्यवादी सिद्धांत (**Deontological Theory**)-

इसे जर्मन चिंतक इमानुएल कांट द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

कर्तव्यवादी व्यक्ति के लिए क्या करना चाहिए या न करना चाहिए यह पूरी तरह कर्तव्य तथा जिस व्यक्ति के लिए कृति की जानी है उसकी आवश्यकता पर निर्भर होता है । आवश्यकता न होते हुए भी जब व्यक्ति कोई अच्छी कृति करता है तो उसे 'कर्तव्यातीत ' कृति के तौर पर सम्बोधित किया जाता है।

कांट कहते हैं -

नैतिकता की कोई नींव न होनेवाली समाज व्यवस्था केवल संख्या के आधार पर प्रगति नहीं कर सकती।

मनुष्य ने अपने में विद्यमान पशुवत इच्छाएं , उसे प्राप्त तार्किक विचारों की सहायता से नष्ट करनी चाहिए। सुख का क्या अर्थ है ? सुख हमेशा अच्छा ही होता है, ऐसा नहीं। बिना टिकट यात्रा करना भले ही सुखकारक हो लेकिन वह अनैतिक है । सामान्यतः कोई सुख कुछ शर्तों के पालन के साथ ही जुड़ा होता है। अच्छाई ठहराने का पैमाना विवेक है।

कर्तव्य यह स्वतंत्र होना चाहिए। उसके लिए कोई शर्त न हो। कर्तव्य यह केवल कर्तव्य की दृष्टि से करना चाहिए। उसका सम्बन्ध उसके परिणाम के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

नैतिक नियम ये वैश्विक स्वरूप के होने चाहिए । वे तत्त्व केवल अपने लिए ही लागू नहीं होने चाहिए, सबको लागू होने चाहिए। वे व्यापक और आदर्श होने चाहिए। उदा.दिए हुए वचन का पालन यह तत्त्व सबको लागू होगा।

दुनिया में अलग-अलग समय में , अलग-अलग समाज में नीतिनियम विषयक कल्पनाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। फिर भी कांट मानते हैं कि नैतिक नियम सापेक्षवाद के पार जाकर बनाए जा सकते हैं। वैश्विक स्तर पर समर्थनीय ऐसे नियम बनाए जा सकते हैं।

कांट के अनुसार केवल संकल्प करने से काम नहीं चलेगा तो प्रत्यक्ष कृति करना भी आवश्यक है। इस प्रकार इस संकल्पना के दो घटक हैं -१) कृति की भावना/प्रेरणा २) उसके अनुसार की हुई प्रत्यक्ष कृति।

संक्षेप में मनुष्य अपने व्यवहार को , बौद्धिक, तार्किक चिकित्सा द्वारा अधिक नैतिक बना सकता है। उसके लिए किसी काल्पनिक संकल्पना की आवश्यकता नहीं।

सिंधु घाटी सभ्यता

मार्शल के विचार -

"पांच हजार वर्ष पहले जब आर्यों का नाम भी किसीने नहीं सुना था, भारत के अन्य भागों में न सही, किन्तु पंजाब और सिंध में एक अति विकसित अनोखी और समरूप सभ्यता पूर्ण रूप से पनपी हुई थी जो तत्कालीन मेसोपोटोमिया और मिश्र जैसी ही थी , किन्तु कुछ पक्षों में वह उनसे भी श्रेष्ठ थी।"

मोहन्जो-दारो और हड़प्पा दोनों जगह जो बात स्पष्ट और प्रमुखता से उभरकर आती है , वह है, इनकी सभ्यता- इन दोनों स्थानों पर -कोई नवोदित सभ्यता नहीं बल्कि यह युगों पुरानी है जिसमें कई हजार वर्षों के मानव प्रयत्नों की झलक मिलती है । इसकी गिनती उन महत्वपूर्ण स्थानों में होनी चाहिए जहाँ समाज को सभ्यता प्रदान करने की प्रक्रिया आरंभ तथा विकसित हुई।

वहां आवश्यकता से अधिक जो कृषि उत्पादन होता था वही इस संस्कृति का आधार था । इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता में (और स्थानों के समान ही -जैसे नाइल नदी के किनारे पनपी सभ्यताएं) मातृसत्तात्मक तत्वों के प्रबल अवशेष मिलते हैं ।-- (लोकायत पृ .२०६)

एह्रेनफेल्स , "मार्शल ने पुराने परिणामों का जो सारांश दिया है उससे इतिहास के बारे में विशेषकर भारत के मातृसत्तात्मक क्षेत्र के अति विकसित स्तर के सम्बन्ध में सारा दृष्टिकोण ही बदल गया है और दो मुलभूत महत्त्व के तत्व सामने आये हैं । १) हम जिससे हिन्दू धर्म कहते उसके सांस्कृतिक ढांचे में आर्यपूर्व तत्व की प्रमुखता .२) इस विकसित आर्यपूर्व सभ्यता का मातृसत्तात्मक स्वरूप जिससे आधुनिक और मध्ययुगीन भारत को कई तत्व , प्रवृत्तियां और सांस्कृतिक बातें मिली हैं।"

दोनों स्थान आर्यपूर्व काल के वास्तविक स्मारक हैं।

मोहन्जो-दारो और हड़प्पा से मिले भौतिक अवशेषों में मिट्टी की बर्तन बहुत सारी नारी मूर्तियां और ऐसी अन्य वस्तुएं हैं जिन्हें मात्र खिलौने नहीं समझा जा सकता। ऐसी मूर्तियां ऐलम, मेसोपोटोमिया, ट्रांसकॉसपिया, एशिया मायनर, सीरिया, फिलिस्तीन, सायप्रस, क्रीट, साईक्लेड बाल्कन क्षेत्र और मिश्र में मिली हैं । इनके बारे में आमतौर पर स्वीकार किया गया है कि ये मूर्तियां महामाता या प्रकृति देवी की हैं । इसकी उपासना अनातोलिया (संभवतः फिजिया) में शुरू

हुई और वहीं से पश्चिम एशिया के अधिकांश हिस्सों में फैली । सिंधु से लेकर तो नील नदी तक सारे क्षेत्र में ये मूर्तियां थीं। यह क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से तो एक के बाद दूसरे से जुड़ा हुआ था।

देवी को आद्यशक्ति , जगदम्बा को शक्ति , शाक्त सम्प्रदाय जैसी धारणाएं निश्चित ही ऐसे समाज में बनीं होगीं जहाँ मातृसत्तात्मक व्यवस्था होगी।

कुछ जनजातियां ऐसी हैं जिनमें माता की उपासना विशेष रूप से होती है । वे आर्यपूर्व काल की हैं और कभी भी हिन्दू धर्म के अंतर्गत नहीं आईं।

मार्शल के उद्धरण के अनुसार -

वह माता या महामाता है और प्रकृति का मूल प्रतिरूप है जो शक्ति के रूप में विकसित हुई। उसके प्रतिनिधियों को ग्रामदेवता कहा जाता है । उनके गुणों में विभिन्न स्थानों के अनुसार अंतर हो सकता है। वे उत्पादकता की जन्मदात्री है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनार्य लोगों के राष्ट्रीय देवताओं में उनका प्रमुख स्थान था।

भिन्न -भिन्न लोगों का मूल ढूँढने के लिए मानवशास्त्री अलग-अलग बातों का आधार लेते हैं। सैंधव लोगों का मूल क्या था ? इजिप्त में चित्रलिपि (**Hieroglyphic**)और असीरिया में चिन्हलिपि (**Cuneiform**)अस्तित्व में थीं। इजिप्त की सर्वाधिक प्राचीन भाषा और लिपि के लिए 'हीरोग्लिफिक' यह नाम दिया गया है । मुख्य रूप से उपरोक्त दोनों ही तरह की लिपियों का , मनुष्य जाति ने आविष्कार किया है । विद्वानों के अनुसार सैंधव लोगो का सम्बन्ध सिंधु सभ्यता के उत्कर्ष के काल के पहले से असीरियनों से होने की बात सामने आती है । दोनों सभ्यता की मूल प्रकृति एक ही होने के कारण दोनों में लिपियों के विकास की दिशा भी एक रही । इस कारण भारत में चिन्ह लिपि का ही विकास हुआ। यूरोप में भी चिन्ह लिपि का ही विकास हुआ।

छान्दोग्य उपनिषद में असूरी का उल्लेख है । दासगुप्त ने असूरी का मूल प्राचीन सुमेरिया माना है। बनर्जी और शास्त्री जैसे इतिहासकार भी इन्हें अनुसूरिया से आये हुए मानते हैं । इनका आगमन भारत में आर्यों से पहले का होना , माना जाता है। इन्हीं लोगों के साथ हुए संकर में से सिंधु संस्कृति का उदय और विकास होने की बात कही जाती है । भांडारकर भी इन्हें असुर-असीरियाई मानते हैं और उनका कहना है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में मगध या दक्षिण बिहार तक असूर बस्तियां होने का उल्लेख मिलता है। (कुछ विद्वान् इन्हें अहूर मज्दा के अनुयायी और फारस देश के वासी मानते हैं ।) लेकिन इतना निश्चित कि सिंधु संस्कृति यही इस देश की सर्वप्रथम नागरी संस्कृति थी और उसीने संस्कृति की नींव रखी।

इस तरह भारत में सिंधु सभ्यता का उदय कृषिकर्मी और कृषिजीवी ऑस्ट्रलॉइड और भूमध्य सागरीय (द्रविड़) असीरियन , असूर और ऋग्वेद में उल्लेखित 'पर्णी ' (व्यापारी)प्रवृत्ति के लोग इनके संकर से हुआ यह आम तौर पर माना गया है।

लम्बे अंतराल तक कृषि , व्यापार तथा यायावरी करनेवाले ये सैंधव शांत जीवन जीनेवाले लोग थे। उनके विषय में अनुमान है कि वे कृष्णवर्णी , कुछ फैले नाक के , आर्यों की तुलना में कम ऊँचे, स्थूल शरीर के लोग थे। उनकी भाषा उच्चारण के लिए कुछ कठिन और अस्पष्ट होनी चाहिए।

ऐसा माना जाता है कि गोपालक आर्य उनके मवेशियों के झुंडों के चारे आदि के लिए एक जगह से दूसरी जगह यायावरी करनेवाले लोग थे । वे खैबर दर्रे के रास्ते से भारत में आए । लगभग ४८०० वर्ष पहले उन्हें सिंधु संस्कृति का दर्शन हुआ और सैंधव लोगों से उनका टकराव भी हुआ। बैल के रथों का उपयोग करनेवाले और ताम्बे के हथियारों से लड़नेवाले सैंधव ,घोड़ों पर सवार और फुर्तीले आर्यों का मुकाबला नहीं कर सके।

सेण्टर फॉर सेलुलर एंड मॉलिक्यूलर बायोलॉजी हैदराबाद तथा **REICH** और **NEIL** पैटर्सन की जेनेटिक लैब ने मिलकर एक सांख्यिकीय तकनीक का विकास किया । भारतीय समाज का जैविक मूल ढूंढने के लिए डाटा एकत्र करना शुरू किया। भारत के सैकड़ों देहातों से एकत्र किए नमूनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि भारत के रहनेवाले , दो भिन्न पूर्वज समुदायों से जुड़े हुए हैं।

एक को उन्होंने नाम दिया 'उत्तर भारतीय पूर्वज '। डीएनए के आधार पर उनका सम्बन्ध मध्य एशिया तथा यूरोपियनों तक पाया गया।

दूसरे गट को 'दक्षिण भारतीय पूर्वज ' कहा गया। लेकिन इनके विषय में रहस्यात्मक बात यह सामने आई कि ये पूर्वज भारत के बाहर के किसी भी , आज जीवित, जाति से नजदिक से सम्बंधित नहीं हैं। उपरोक्त दोनों समुदायों का संकर होना २००० से ४००० साल पूर्व शुरू हुआ।

आज बहस का यह एक विषय है कि क्या आर्य भारत के ही मूल निवासी हैं या बाहर से आये हैं।

आर्य लोग शुरू में स्थायी नगर बसाकर रहनेवाले नहीं थे ।यह इस बात से सिद्ध किया जाता है कि वैदिक भाषा में नगर या नगरी यह अर्थ देनेवाला कोई शब्द नहीं है। संस्कृत भाषा में है पुर या पूरी। लेकिन इसका अर्थ नगर नहीं होता। पशुपालक आर्य अपने मवेशियों के साथ जहाँ पड़ाव डालते थे उसके चारों ओर कोट रचा जाता था और उसके अंदर उनकी झोपड़ियां , चमड़े के

तम्बू आदि खड़े किए जाते थे । उसे वैदिक भाषा में 'पुर' कहा जाता था । उन्हें नगर या नगरी मालूम ही नहीं थी। गृह निर्माण कला से वे अनभिज्ञ थे।

आर्यों और सैन्धवों के संघर्ष में सैन्धव पराजित हुए । इंद्रा के नेतृत्व में आर्यों ने आर्येतरों के कई नगरों का विध्वंस किया । सैन्धवों ने कभी युद्ध किए ही नहीं थे । उन्हें इसका अनुभव ही नहीं था। उन्होंने घोड़ा यह प्राणी कभी देखा ही नहीं था । ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि इन युद्धों में सैन्धव स्त्रियों ने भी हिस्सा लिया था।

सायण के अनुसार , "मेरु पर्वत पर अमरावती नगर है , जहाँ देवताओं का वास है और मेरु की तराई में असुरों की नगरी इरावती है।"

चट्टोपाध्याय के अनुसार इसका कोई संकेत नहीं मिलता कि सायण ने यह बात अपने पूर्ववर्ती किस सन्दर्भ के आधार पर कही है । लेकिन पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इरा नदी के किनारे-किनारे खुदाई करते हुए प्राचीन नगर के अवशेष ढूँढ निकाले हैं जो 'हड़प्पा' के नाम से विख्यात हुए हैं और ऋग्वेद में उपलब्ध संकेतों के आधार पर इसका सम्बन्ध असुरों से था । ऋग्वेद में उल्लेखित 'हरियुपीय' नगर यहीं है , ऐसा विद्वानों का दावा है । ऋग्वेद के छठे मंडल में इन्द्र को 'असुरघ्न' अर्थात् असुरों का निर्दालन करनेवाला कहा गया है । इसलिए चट्टोपाध्याय के अनुसार भी यह विश्वास करने के लिए कई आधार हैं कि 'असुर' शब्द का अर्थ था , सिंधु घाटी की सभ्यता स्थापित करनेवाले। लेकिन उनके अनुसार सिंधु सभ्यता का क्षेत्र काफी विस्तृत था । (गुजरात के लोथल तक अवशेष पाए गए हैं) अतः इसके सभी निवासियों का पूर्णतः संहार होने की सम्भावना कम ही है। लेकिन इतना निश्चित कि -

१)आर्यों के भारत आगमन पर उनका विरोध करनेवाले मूल भारतवासी असुर ही थे । अतः आर्यों के लिए यह शब्द पिशाच , दैत्यों का पर्यायवाची बन गया । २)असुरों के सम्बन्ध में इतने सारे दावों को देखते हुए हम केवल इतना ही मानते हुए चलेंगे कि सिंधु सभ्यता के निर्माता 'असुर' थे।

(यह भी दावा किया जाता है कि आर्य बाहर से आये ही नहीं । वे भारत के ही मूल निवासी हैं। हम इस विवाद की भी यहाँ चर्चा नहीं करेंगे। लेकिन कुछ तथ्यों की ओर ध्यान दिया जा सकता है - भारोपीय भाषाओं में से फ़ारसी भाषा में आज भी देव अर्थात् ऊँचा-पूरा बलदंड व्यक्ति और भारत में 'देव' शब्द श्रेष्ठ, दैवी शक्ति, ईश्वर, देवता इनके लिए प्रचलित हुआ।)

विद्वानों के अनुसार ई.पू.२८०० के दरम्यान आर्यों की टोलियों ने भारत पर आक्रमण शुरू किया जो अगले १४०० वर्षों तक जारी था।

इतिहास साक्षी है कि ऐसे संघर्षों में पराजित समाज, विजयी समाजों का दास या गुलाम इस रूप में, आगे आनेवाले समाज का हिस्सा बनकर रहता है, यही बात सैन्धवी समाज के विषय में हुई।

लेकिन ऐसा लगता है कि इतिहास के ई. पू. ८०० के दरम्यान ये दास या गुलाम अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होने चाहिए। सैन्धव समाज मुलतः भौतिक जीवन को महत्व देनेवाला था इसके चिन्ह पुरातात्विक खोज के दरम्यान मिले हैं। साहजिक तौर पर उनका चिंतन उसी दृष्टि की ओर झुका हुआ होगा और इस चिंतन में से ही एक नए विचार का जन्म हुआ। यही दुनिया में सर्वप्रथम भौतिकवादी लोकायत या चार्वाक दर्शन। जिस तरह आध्यात्मिक दर्शन का उदय भारत में होने का दावा किया जाता है, उसी तरह भौतिकवादी दर्शन का अवतरण भी यही हुआ ऐसा इतिहास बताता है। मानव मुक्ति के चिन्तन से उपजा हुआ दर्शन। स्वाभाविक है कि वह कुछ उग्र स्वरूप का होगा ही।

सिंधु घाटी सभ्यता के भौतिक अवशेषों में तंत्रवाद के बहुत अधिक लक्षण दिखाई देते हैं।

हड़प्पा-मोहनजो-दारो के उत्खनन में शिवोपासना के अवशेष मिले हैं। शैव सम्प्रदाय में सामान्यतया देवालयों में स्थापित शिवलिंग की पूजा की जाती है। शैवों में कश्मीरी, तमिल, पाशुपत अथवा लाकुलीश, कापालिक, कालामुख, नाथ, कौल आदि शाखाओं का निर्माण हुआ।

अवैदिक विचार-

काल्पनिक संकल्पनाओं पर आधारित वैदिक कर्मकांड अत्यंत जटिल और बलि आदि के रूप में हिंसापूर्ण हो गया तो उसका विरोध शुरू होना स्वाभाविक ही था। सारी संपत्ति या तो यज्ञों में स्वाहा होती थी या ब्राह्मणों के पास चली जाती थी। उपनिषदों और आरण्यक ग्रंथों में इस विरोध की झलक मिलती है। लेकिन इस विरोध ने जनसाधारण का ध्यान वैदिक कर्मकांड से हटाकर और अधिक कल्पनाधारित आत्मचिंतन की ओर मोड़ना चाहा। तो दूसरी ओर वैदिक चिंतन से पूरी तरह अपने आपको अलग कर लेनेवाले चिंतन का भी आविर्भाव हुआ। शुरू में तो अवैदिक या नास्तिक, उन्हीं दर्शनों या विचारों को कहते थे जो वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते थे। लेकिन पारम्परिक दृष्टि से बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन हैं। लेकिन जैन ग्रंथों में ३६४ जैनेतर मतों का उल्लेख मिलता है जिन्हें वेद पर विश्वास नहीं था।

'ब्रह्मजाल सुत' के अनुसार बुद्ध जन्म के समय ६२ अवैदिक मत प्रचलित थे।

जैन विचारक वर्धमान महावीर विश्व को अनादि-अनंत मानते थे । इसके लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानते थे। लेकिन पुनर्जन्म, परलोक, मोक्ष, पाप-पुण्य आदि उन्हें मंजूर थे।

वैदिक काल

समाज विकास के कुछ चरणों से परिचित होते हुए हम आगे बढ़ेंगे।

शुरू में समाज शिकार के चरण में ही था । उस दरम्यान समाज में कोई उत्पादन नहीं होता था। केवल छोटे जानवरों, जमा किए गए बीजों, फलों पर ही मनुष्य का जीवन-यापन चलता था। अर्थात् श्रम का भी कोई विभाजन नहीं था । लेकिन सुरक्षा तथा शिकार आदि की दृष्टि से अकेले मानव के स्थान पर समुदाय बनाकर रहना उसकी मजबूरी थी। उत्पादन की निम्न स्तरीय तकनीक होने के कारण उत्पादन और उपभोग एक सामूहिक क्रिया बन गयी थी । समाज के इस निम्न स्तर पर यह आम प्रथा पाई जाती है कि शिकार, मछली, भोज्य पदार्थ, कंद-मूल यहाँ तक कि उपहार में दी गई किसी भेंट पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं होता था । सब चीजों का सभी सदस्यों में बंटवारा होता था । इस आधार पर उनमें न झगड़ा होता था , न चोरी। कबीले के अधिकारों के सामने व्यक्ति के अधिकार नगण्य हो जाते थे । अर्थात् यह व्यवस्था कोई बाहर से थोपी नहीं गई थी । अनुभव से अपने आप उपजी हुई व्यवस्था थी । घोर स्वार्थपरकता का कोई अस्तित्व नहीं था। इसमें से मनुष्य-मनुष्य में भावात्मक बंधन उत्पन्न हुए थे।

एस्किमो लोगों में अपने शिकार पर कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता था । शिकार को गांव के सभी निवासियों में बांटा जाता था , कोई छोटी चीज हो या बड़ी। किसी भी एस्किमो गांव में खाद्यान्न और औजारों के रूप में जो कुछ भी होता था वह सब की साझी संपत्ति होती थी।

दुनिया का प्रत्येक समाज इसी स्थिति से गुजरा है । वैदिक समाज भी इसके लिए अपवाद नहीं हो सकता। इसी कारण ऋग्वेद में भी सामूहिकता की चेतना मिलती है । सबके साझे पशु (समाने उर्वे:-सायन के अनुसार -सर्वेश्याम साधारणो गोसमुहे) होने के कारण वे संगठित थे (अधिसंगतः) और सबके विचार भी एक जैसे बन गए थे (ते सम जनते:-सायन-ते एक बद्धाय भवन्ति)। मानो वे संयुक्त रूप से श्रम करते हैं (न एएनते मिथ्या ते) ---एकदूसरे को हानि पहुंचाए बिना ही वे संपत्ति के साथ विचरते हैं । (अमर धन वसुभीः यदमाना)---ऋग्वेद ऋचा ७.७६-४-५)---लोकायत

आगे बटवारे की प्रथा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ आर्यों की पशुपालक समाजव्यवस्था वाले युगों के आरंभिक चरणों तक बनी रही । लेकिन परवर्ती युग में निजी संपत्ति के अर्जन की दिशा में समाज बढ़ता गया और परिणामस्वरूप उनके आद्य समुदायक जीवन का पतन हुआ।

शिकार चरण से पूर्व जब कोई उत्पादन नहीं होता था तो समाज में स्त्री की प्रधानता होना स्वाभाविक है क्योंकि उत्पादन की दृष्टि से किसी के श्रेष्ठ होने का प्रश्न ही नहीं था । जबकि शिशुओं के लालन-पालन और उन्हें अपनी परम्पराओं का ज्ञान कराने जैसा सर्वाधिक महत्वपूर्ण

कार्य इस चरण में केवल स्त्रियां ही करती थी | अतः माता और उसके बच्चों के बीच प्राकृतिक लगाव से समुदायों में रिश्ते की भावना आई | एक दूसरे के प्रति, अपने-अपने कर्तव्यों के बारे में चेतना जगी और परस्पर स्नेह का आविर्भाव हुआ | किन्तु भाले के अविष्कार के साथ शिकार का काम पूरी तरह पुरुषों का हो गया | क्योंकि शारीरिक दृष्टि से और गर्भावस्था, स्तन्यकाल के दौरान स्त्रियां अपेक्षाकृत कम गतिशील हो जाती हैं |

जबकि स्त्रियों ने खाद्य सामग्री एकत्र करने का काम जारी रखा |

शिकार के साथ ही जानवरों को पालतू बनाने की प्रवृत्ति आई | जानवरों को मारने के स्थान पर उन्हें पालतू बनाना शुरू हुआ | पशुपालन का कार्य लगभग सभी जगह पुरुषों का रहा |

दूसरी ओर खाद्य सामग्री एकत्र करने की क्रिया से बस्ती के आसपास की जमीन में बीज बोने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ और इस प्रकार कृषि का काम, घर में रहनेवाली स्त्रियों द्वारा किया जाने लगा | इसी कारण, कृषि का अविष्कार स्त्रियों द्वारा किया गया है, ऐसा कहा जाता है | बाद में पशुओं द्वारा चलाए जाने वाले हल के उपयोग के कारण कृषिकार्य पुरुषों के जिम्मे आया | उत्पादन विधि के साथ स्त्री-पुरुषों के संबंधों में परिवर्तनों के सन्दर्भ में ही पितृवंशानुक्रम की प्रथा के उद्भव को देखना होगा | यह प्रक्रिया शिकार के साथ शुरू हुई, पशुपालन के चरण में इसमें गति आई | लेकिन कृषि के प्रारंभिक चरण में यह प्रक्रिया उलटी हो गई | शिकारवाली अर्थव्यवस्था की मूल विशेषता थी स्त्री और पुरुष के बीच का श्रम विभाजन | अर्थात् स्त्री और पुरुष का सामाजिक महत्व, आर्थिक जीवन के विकास से जुड़ा हुआ है | आज कुछ जगहों पर इससे अलग व्यवस्थाएं दिखाई पड़ती हैं | उसका कारण है उन समाजों का विकास विशिष्ट स्तर पर पहुंच कर रुक गया |

शिकारवाले चरण के पूर्व ----मातृअधिकार |

शिकार का चरण आरंभ ----पुरुष की सामाजिक श्रेष्ठता |

पशुपालन अवस्था ----सामाजिक श्रेष्ठता पुरुष की और सुदृढ़ |

जहाँ कृषि की खोज हुई ----वहाँ स्थिति उलट गई, मातृसत्ताक अधिकार |

कृषि का और विकास\हल का अविष्कार ---- मातृसत्ता अपना स्थान खो बैठी |

शुरू में सभी उद्योग कुटीर उद्योग थे और इस कारण उनका विकास स्त्रियों के हाथों हुआ जिनसे घर बनता है और जो घरों में रहती हैं | जिस खोज के कारण, मनुष्य ये सब उद्योग विकसित कर सका वह थी कृषि |

देवी-देवताओं का सृजन तो मनुष्य की आकृति के अनुसार ही होता है । स्त्री-पुरुषों के महत्त्व में हुए परिवर्तनों में भी यही बात देखने मिलती है । शिकारी और पशुपालक चरणों के समाज में मुख्यतया देवता हैं जबकि कृषिचरण के प्रारंभिक काल में देवियों का स्थान ऊँचा है।

स्त्री-सिद्धांत:धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक मतों में आमतौर पर एक बात आती है 'स्त्री-सिद्धांत'। साधारण भाषा में यह स्त्री-सिद्धांत मातृ अधिकार का वैचारिक पक्ष है।

लगभग यह मान्य हो चुका है कि प्रारंभिक वैदिकजन मुख्यतः पशुपालक थे । इसके बाद भी उपनिषद् काल तक ऋषि-मुनि अपनी संपत्ति को पशुधन के आधार पर ही आंकते थे । उस समय के सारे वैदिक साहित्य में यही इच्छा व्यक्त होती है कि अधिक से अधिक पशुधन मिले।

विंटरनिट्ज़ का मत है कि ऋग्वेद में चावल के विषय में कोई नहीं जानता था , जो कि बाद में भारत में प्रमुख कृषि उत्पादन, अनाज और खाद्य बन गया। ऋग्वेद से ही पता चलता है कि केवल जौ उगाया जाता था। कृषि को बहुत मामूली महत्त्व था। दो पड़ोसियों में संघर्ष होता था वह पशुधन के लिए । कृषि व्यवस्था न केवल गौण थी बल्कि उसे हीन दृष्टी से देखा जाता था । मनु के अनुसार ब्राह्मणों के लिए कृषि का काम वर्जित था।

परिणामतः वैदिक धर्म और उपासना में देवियों का स्थान अति गौण है । यदि कुछ महत्त्व है तो देवी उषा का। लेकिन स्थिति देखिए-लगभग सभी देवताओं को सोमरस की भेट चढ़ाई जाती थी लेकिन 'उषा' इसकी अधिकारिणी नहीं थी । दूसरा स्थान है सरस्वती का । इसी प्रकार देव पत्नियों के रूप में देवियों का महत्त्व वेदों में बहुत कम है।

प्रारंभिक काल में भी स्त्रियों की उतनी प्रतिष्ठा नहीं थी जितनी की बताई जाती है । ऋग्वेद, अथर्ववेद में अंतिम संस्कार सम्बंधित ऋचाओं से पता चलता है कि वैदिक काल में पुरुषमेध , अनुमरण या आसान भाषा में पति की चिता पर बैठकर उसका अनुसरण करना जैसी प्रथाएं प्रतीकात्मक रूप में विद्यमान थीं।

एहरेनफेल्स का तो कथन है कि , कृषि का एक आदिम रूप , इसके साथ-साथ मातृ अधिकार का एक रूप सबसे पहले भारत में ही विकसित हुआ । सामान्य भौगोलिक और पुरातात्विक स्थिति इस सिद्धांत के पक्ष में है कि विश्व में मातृसत्ताक संस्कृतियों का मूल आविर्भाव भारत में हुआ। लेकिन इस बात के लिए विश्व स्तर पर आम सहमति की कमी है । फिर भी पूर्वोत्तर में खांसी और गारो जनजातियां तथा केरल में मलाबार तट के नायरो में मातृ अधिकार के अवशेष विद्यमान हो सकते हैं।

ऋग्वेद में एक स्थान पर सीता का आवाहन किया गया है। सीता का शाब्दिक अर्थ है, खेत में हल चलने से बननेवाली झिरी या हराई। लेकिन इसका स्तर भी देवताओं से नीचे है।

ऋग्वेद की ऋचाएं-

हे, अग्नि ! हमें प्रचुर मात्रा में अन्न दो | हे, अग्नि, हमें अपार मात्रा में संपत्ति दो (१११.१.२२)|

ऋग्वेद में गौ शब्द तथा इससे व्युत्पन्न शब्द , पशुधन की इच्छा के निश्चित सन्दर्भ में कम से कम एक हजार बार आया है।

निघण्टु के अनुसार 'ब्रह्म' शब्द जो आगे शुद्ध चेतना का पर्यायवाची बन गया, उसका एक अर्थ 'अन्न' भी था। शुरू की ऋचाओं में इसके शिवाय कोई अर्थ नहीं मिलता।

जहां तक ऋग्वेद के शुरू के अंशों का सम्बन्ध है , इन ऋचाओं की रचना करनेवाले ऋषि-मुनियों की चेतना में हमें परलोक या विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक मूल्यों के कोई लक्षण नहीं मिलते। जो भी प्रमुख बातें उसमें होंगी तो वह केवल पशुपालक जनों द्वारा इहलौकिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा।

ब्रह्म शब्द अपने व्युत्पन्न शब्दों के साथ ऋग्वेद में २३२ बार प्रयुक्त हुआ है | लेकिन ऋग्वेद के पूर्वकालीन मंडलों में कहीं भी इस शब्द का उपयोग शुद्ध चैतन्य , पारमार्थिक सत्ता के अर्थ में नहीं किया गया है (लोकायतः चट्टोपाध्याय पृष्ठ ६५९)।

ऋग्वेद में मन, असु, आत्मा शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेकिन यह प्रयोग प्राणवायु या शरीर के अर्थ में है। शरीर से अतिरिक्त किसी अदृश्य आत्मा के अर्थ में नहीं। अर्थात् वैदिक ऋषि मुख्यतः प्रकृतिवादी थे।

माया : इसी प्रकार वैदिक युग में "माया" शब्द के प्रयोग में भौतिक जगत के मिथ्यात्व का बोध विद्यमान नहीं है | ऋग्वेद में माया और उससे व्युत्पन्न शब्द १०० बार उल्लेखित हैं लेकिन अनेक सन्दर्भ में | निघण्टु में माया का उल्लेख प्रज्ञा के पर्यायों के तौर पर है। यास्क : निरुक्त (१२-१७) ने भी माया का अर्थ प्रज्ञा ही बताया है। जबकि सायण ने माया को कपट, प्रज्ञा, ज्ञान ,कर्म विषयक ज्ञान, कर्म, शक्ति इन अर्थों में ही व्याख्याईत किया है | लेकिन निरपेक्ष भाव के अर्थ में नहीं | मैक्डोनाल्ड ने अपने दैविक देवताओं के अध्ययन में 'माया' को 'क्रिया समन्वित ज्ञान' के अर्थों में बताया है। (वैदिक माइथोलॉजी p ४७)। लेकिन परवर्ती काल में 'माया' को भाववादी धारणा के तहत भ्रम अथवा मिथ्या का प्रतीक बना दिया गया।

विद्वानों का कथन है कि जबतक समाज के सदस्य प्रत्यक्ष रूप में श्रमजन्य साधनों द्वारा ही उत्पादन में संलग्न थे , तबतक विवेक और क्रिया के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का निर्धारण नहीं हो पाया था। वे ही शब्द जो विवेक या समझ का अर्थ निष्पादित करते थे , सीधे क्रिया या कर्म को भी द्योतित करते थे।

ऋतः यह ऋग्वेद के प्राचीनतम मन्त्रों की महत्वपूर्ण धारणा है । इसका शब्दार्थ है वस्तुओं की कार्यविधि। इसका तात्पर्य साधारण तौर पर सब प्रकार के नियमों से है। विन्टरनिट्स ने 'ऋत' का अर्थ ब्रह्मांडीय व्यवस्था के रूप में किया है । यह शब्द सार्वभौम व्यवस्था के लिए उपयोग में लाया जाता था।

"ऋग्वेदः हे द्यौः और पृथ्वी, आपका ऋत विद्यमान रहे जिससे हमें अन्न के साथ-साथ संपत्ति प्राप्त हों "(111.५४.३), जिस प्रकार हमारे पूर्वजों (अंगिरसों)ने अतीत में ऋत का प्रसार किया तो उन्हें हृष्ट-पुष्ट गायों का पता चला (iv .२.१६)।" ऋत की निधि अक्षय है , उसके विविध रूप मनोहारी हैं , उसके उपासक अन्न बहुलता के इच्छुक हैं । ऋत की कृपा से गाएं प्राप्त होती हैं और वे (गाएं) ऋत में प्रवेश करती हैं (iv. २३.९)। अर्थात् वैदिक ऋषियों के लिए यह एक ऐसा कारक था जो उनकी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का स्रोत था।

लेकिन-ऋग्वेद के बाद के अंशों में ऋषियों ने 'ऋत' के विलुप्त होने पर विलाप करना आरम्भ कर दिया था और दार्शनिक चिंतन के वेदोत्तर युग में ऋत का उल्लेख तो आकस्मिक तौर पर भी नहीं हुआ। मुख्य उपनिषदों में यह शब्द केवल सात बार आया है।(तैत्तिरीयः i ,१,१ ;i 9 .१; १.१२.१; ११.४.१;iii .१० ६; कठ iii ,१;v .२) और साथ-साथ ही इनके लिए दैनंदिन आवश्यक सामग्री की कमी होने लगी थी।

लेकिन मैक्डोनाल्ड ने इसे नैतिक या दैविक नियम कहा है। तो ऋग्वेद में आग्रहपूर्वक धर्म और ईश्वर के या अलौकिक शक्ति के आदि स्रोत ढूँढ पाने के लिए विद्वानों ने इसे एक पारलौकिक नियम का जामा पहना दिया। विशेषकर डॉ .राधाकृष्णन जैसे विद्वानों ने।

ऋत के समान्तर, सृष्टि में व्याप्त एक विशेष व्यवस्था के लिए चीनी संत लाओ , ताओ को स्वीकार करते हैं । जो उनके नीतिशास्त्र , धर्म एवं दर्शन का आधार है । लेकिन गहराईपूर्ण अध्ययन यह बताता है कि मुलतः यह एक आदिभौतिक संकल्पना थी । इसलिए इन दोनों धारणाओं को भाववादी संकल्पनाएं मान लेना ठीक नहीं होगा । ऋग्वेद में जहाँ कहीं भी ऋत का सन्दर्भ है वहाँ उसे, प्रत्येक स्थल पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जीविकोपार्जन के श्रमजन्य प्रयासों से सम्बद्ध बताया गया है, ऐसा विद्वानों का अवलोकन है। ऋत देवताओं पर निर्भर नहीं है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर स्वयं देवता ही ऋत से उत्पन्न बताए गए हैं | (कीथ:religion and phylosphy of the ved and upnishad .p.84)

ऋग्वेद में यह 'ऋत' वरुण से गहरे ढंग से सम्बद्ध है जबकि वरुण प्राकृतिक घटनाओं से सम्बद्ध है। विद्वान् ऐसा कहते हैं कि भारत में वरुण का इतिहास नैतिक उत्कर्ष का इतिहास है जो क्रमशः कम होता गया | अंततः वरुण केवल जल का देवता रह गया | उसी तरह 'ऋत' की संकल्पना भी लुप्त कर दी गई | प्रमुख उपनिषदों में तो उसका उल्लेख केवल सात बार हुआ है | ऋग्वेद के अंतिम मंडलों में तो इस प्राचीन व्यवस्था के लुप्त हो जाने के प्रति कई स्थानों पर रोष व्यक्त किया गया है | समय के साथ वरुण , मित्र , ऋत की संकल्पना लुप्त होने के बाद इनके स्थान पर नई शक्तियां उभरकर सामने आ रही थीं | जिसका नायक इंद्र था | जिसके साथ धन , गायों का संग्रह करने , लूटमार करने की ही अपेक्षितः अधिक चर्चा ऋग्वेद में मिलती है | कीथ ने भी कहा है कि 'ऋत' तथा 'वरुण' के बाद आर्यों के जीवन में , व्यवस्था में एक प्रकार का नैतिक पतन आरम्भ हो गया था।

यज्ञः ऐतरेय ब्राह्मण ही हमें बताता है कि मूल रूप में यज्ञ , अन्न प्राप्त करने के साधन के साथ बहुत गहरे रूप से जुड़े हुए थे (ii .१८)। अर्थात् उनका उत्पादन की प्राविधियों के साथ सम्बन्ध था। लेकिन अंततः वेदों का रचनात्मक युग समाप्त हुआ।

परवर्ती काल में आर्यों के दैनंदिन जीवन में यज्ञों का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया | यज्ञों को संपन्न करने के लिए ऐसे ग्रंथों की रचना की गई जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थ कहा जाता है | कर्मकांड की एक ऐसी प्रणाली बनी जो संसार की किसी भी धार्मिक प्रणाली से अधिक जटिल थी | ब्राह्मणग्रन्थ गद्य रूप में हैं | इसी काल में चातुर्वर्ण ने एक निश्चित रूप ले लिया | प्रत्येक ब्राह्मण ग्रन्थ चारों में से किसी एक वेद के साथ सम्बद्ध है | यज्ञों में निम्न बातों को अति महत्व मिला

-

पुरोहितों की दक्षिणा तथा यजमानों की उदारता यह पैमाना हो गया।

यज्ञों की छोटी से छोटी क्रिया को बड़ी सावधानी से निभाना | यहाँ तक कि कौनसी क्रिया दाई हाथ से और कौनसी बाई हाथ से इसपर यज्ञ के फल अवलंबून रहने लगे | कौनसी क्रियाएं यजमान की स्वर्ग की यात्रा आसान बनाएं।

यज्ञ प्रक्रिया को इस प्रकार का रूप दिया गया था , जिसमें प्रक्रिया एक व्यक्ति संपन्न करता था और उसका फल दूसरे व्यक्ति द्वारा अपेक्षित होता था | यज्ञ को संपन्न करने का अधिकार एक खास वर्ग , पुरोहित वर्ग के पास आरक्षित था। वह यह सब किसी धनाढ्य यजमान के लिए करता था जिसके ऐवज में उसे मोटी रकम प्राप्त होती थी। यहाँ यह बात ध्यान में लेना

चाहिए की सामाजिक संगठन में एक वर्ग , श्रमिक बहुसंख्य था तो दूसरा विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग था। यह वर्ग श्रमिकों के 'अतिरिक्त उत्पादन ' पर सुविधासम्पन्न जीवन व्यतीत कर रहा था।

- उत्पादन के साधनों की अति अविकसित स्थिति में आदिमानव प्रकृति को किसी न किसी प्रकार अपने नियंत्रण में रखना चाहता था या मानव स्वभाव के अनुसार , उसकी अनुकम्पा चाहता था। इस प्रयत्न और इच्छा के लिए वह अपनी कल्पनाओं के अनुसार निरर्थक क्रियाएं करता रहता था , जिन्हें आज हम जादू-टोने का नाम देते हैं। आधुनिक विद्वानों ने यज्ञों को उन आदिम जादुई प्रक्रियाओं का परवर्ती या परिष्कृत रूप बताया है। उत्पादन के साधनों का विकास स्वयं प्रकृति को मनुष्य के नियंत्रण में ले आता है । तर्क का विकास होता है और वास्तवता में फलोत्पादकता के लिए ऐसी अशास्त्रीय प्रक्रियाएं निरर्थक बन जाती हैं। अर्थात् उसमें यज्ञों के रूप और कर्मकांड भी आ जाते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि सभी रूप लुप्त नहीं होते । उन्हें नए अर्थ प्रदान किए जाते हैं और उनका उपयोग नए प्रयोजन के लिए किया जाता है । भलेही तार्किक आधार पर उनका औचित सिद्ध करना कठिन होता हो।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का भी कथन है कि वैदिक कर्मकांड मूल रूप में किसी पुरोहित द्वारा अन्य किसी संरक्षक , यजमान अर्थात् धनी व्यक्ति के वैयक्तिक हित-लाभ के लिए किए जानेवाले यज्ञ नहीं थे। वे मूल रूप से गतिशील क्रियाएं थीं जो अभिन्न रूप से उत्पादन के साथ संबद्ध थीं (लोकायत पृष्ठ६०९)।

ये जादुई प्राविधियाँ उनके उत्पादन के साधनों की सहायक होकर तथा मानवी मन को आश्चस्तता प्रदान करते हुए स्वरूप ग्रहण कर रही थीं। उनका क्रियान्वय सामुदायिक हित के लिए और सामुदायिक रूप से ही होता था । लेकिन आगे कबिलायी सामूहिक जीवन टूट जाने पर ये प्रक्रियाएं भी वैयक्तिक हित के लिए काम में लायी जाने लगीं और एक वर्ग के शोषण की सहायक बन गयीं।

ऋग्वेद में उल्लेखित देवता भी प्रायः एक सामान्य जन के रूप में ही चित्रित किए गए प्रतीत होते हैं। कालांतर में उन्होंने देवता का दर्जा प्राप्त किया है । वैदिक जनों के देवता पूर्णतया मानवीय थे और अंततः देवत्व को प्राप्त हुए । सायण ने कहा है कि 'ऋभु' जो मूलतः मनुष्य थे अंत में देवत्व को प्राप्त हुए। स्वयं ऋग्वेद में हमें यह घोषणा मिलती है कि ऋभुओं ने नश्वर होते हुए भी अमरत्व प्राप्त किया । अग्नि को(नृणाम नृतामः) मनुष्यों में श्रेष्ठतम मनुष्य कहकर सम्बोधित किया गया है (i .७७.४)। स्वयं ऋग्वेद में आगे हमें अन्य स्थानों पर पूर्ण विकसित देवता मिलते हैं।

इसी प्रकार जहाँ कहीं भी हम सभ्य लोगों के प्रागैतिहासिक इतिहास को जानने का प्रयत्न करते हैं तो ऐसे स्तर पर जा पहुँचते हैं, जहाँ न देवता हैं, न प्रार्थनाएं हैं, न बलि हैं। हमें दिखाई देते हैं जादू और टोने-टोटके। (थॉमसन : रिलिजन , पृष्ठ ९२)

- ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं के नाम तो हैं , लेकिन ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं है । आज आम तौर पर ईश्वर शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है , निश्चित उस अर्थ को व्यक्त करनेवाला भी कोई शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता , ऐसा विद्वानों का मत है। हाँ, ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग है। लेकिन आर्यों के जीवन को उन्नत बनाने के उस संघर्ष काल में, धर्म का अर्थ कर्तव्य, सामूहिक उन्नति और उसके लिए निश्चित किए गए नियम ही थे।

"य एव श्रेयस्करः स एव धर्मं शब्देनेहोच्यते" (विश्वकोशकार)

"यतोभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिं स धर्मः" (वैशेषिक)

अभ्युदय का अर्थ है सामाजिक उन्नति तो निश्रेयस का अर्थ मोक्ष बताया है।

अर्थात् ऋग्वेद के समय परलोक की भी कल्पना नहीं थी । लेकिन बाद में धर्म में प्रमुख हुआ परलोक और दुःख हुआ भौतिक जीवन । पहले धर्म मनुष्य के जीवन से प्रत्यक्ष जुड़ा हुआ था तो सरल था लेकिन बाद में उसमें कितनी काल्पनिक बातें जुड़ गयीं तो वह जटिल से जटिल होता गया।

ऋग्वेद संहिता का संकलन पूरा होते-होते यह धारणा उसमें अंतर्भूत हो गयी थी कि एक परम तत्त्व है जो मानव और प्रकृति के सभी बंधनों, सीमाओं और नियमों से परे है।

गणपति-

आज हिंदु समाज में विघ्नहर्ता गणेश जी का स्थान बहुत ऊँचा है। लेकिन कई प्रमाणों से संकेत मिलता है कि गणपति की जो वर्तमान स्थिति प्रतिस्थापित हुई है उससे पहले एक नहीं, कई गणपति थे । मानव गुह्य सूत्र में चार गणपतियों का उल्लेख है । महाभारत में भी गणेश्वरों और विनायकों के सम्बन्ध में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। भंडारकर का अनुमान है कि मुलतः जो चार गणपति थे वे बाद में एक हो गए । संभवतः विभिन्न गणपतियों के विभिन्न आकार और विशेषताएं थीं । 'तैत्तिरीय संहिता' (IV-१.२.२) से हल्कासा संकेत मिलता है कि इन गणपतियों की शक्ल पशुओं जैसी थी । गणपति के सुपरिचित हस्तिमुख की भांति विभिन्न गणपतियों के पशु नाम भी , संभवतः इस बात का संकेत है कि उनका प्रादुर्भाव प्राचीन टोटमी विश्वासों से हुआ। इसका कोई अन्य स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

देवताओं का दर्जा सारे समाज के लिए वही हो जाता है जो अनुयायियों के समक्ष सरदार का होता है। जैसे-जैसे शासक कबीला अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करता है , वह अन्य कबीलों के टोटम देवताओं को अपने में समेट लेता है । शासक कबीले का टोटम , सारी जातियां, विभिन्न जातियों के समूहों का टोटम बन जाता है और अंत में राज्य का देवता बन जाता है।

महाभारत में 'मुशिक' लोगों के विषय में बताया गया है । वे दक्षिण भारत के निवासी थे। मुशिकों के पराजित होने की कथा प्रसिद्ध हस्तिगुफा में , कलिंग राजा खारवेल के शिलालेखों में मिलती है । ये शिलालेख ई.पू. १६० के बताए जाते हैं । जैस्वाल महोदय ने इन शिलालेखों को पढ़ना, फिर उन्हें संभालना और उनकी व्याख्या करना , अपने जीवन का लक्ष बना लिया था। उनके अनुसार शिलालेख की चौथी पंक्ति में उल्लेख है कि राजा खारवेल ने मुशिकों को पराजित किया। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में कोई पराजित जाती थी जिसका चिन्ह चूहा था। तो इसी प्राचीन भारत में हस्ती कबीले भी थे। हस्ती कबीले के विजयी होने और मुशिक कबीले के पराजित होने के प्रमाण हैं। तो हस्ती कबीले का टोटम गणेश बन गया। पराजित कबीले का टोटम उसका वाहन । विद्वानों के अनुसार गणपति बनने का इतिहास वास्तव में टोटम के देवता बनने का इतिहास है ।लेकिन इसपर अधिक संशोधन नहीं हुआ जैसा कि मोरे और डेवी द्वारा प्राचीन मिश्र में जनजाति से साम्राज्य बनने तक के संक्रमण काल के सम्बन्ध में किया गया शोधकार्य है । उन्होंने मुख्यतया टोटमवादी प्रमाणों के आधार पर इतिहास का पुनर्निर्माण किया और यह सिद्ध किया है कि राज्य के उदय का इतिहास देवता के उदय का इतिहास भी है । राजा मैनीज ने सारे मिश्र में फैले कबीलों को एक राज्य के अधीन कर लिया। यह जनजातियों से एक साम्राज्य बनने की कहानी थी । बाज पक्षी जो प्राचीन मिश्र का बाज देवता था , होरस देवता बन गया।

#भांडारकर का मत था कि 'रुद्रों के गण ' या गणपति को जनजातियों का नेता माना जाता है।(लोकायत पृ.११६)

सेन इससे भी आगे बढ़ जाते हैं । उन्होंने कहा कि गणपति मूलतः अनार्य थे और जनसाधारण को संतुष्ट रखने के लिए आर्यों ने बाद में उन्हें अपनी देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया (वही पृ ११७)।

(वैदिक काल के बाद प्रारंभिक राज्यसत्ता के प्रवक्ता अपने आस-पास के जनजातीय समाज से घृणा करने लगे । इसी कारण उनके मन की यह घृणा , गणों और गणपतियों के प्रति घृणा में कहीं-कहीं प्रकट होती है।)

मित्र का कहना है, "प्रारम्भ में गणेश, गणों का विशेष देवता था। ये गण जंगली आर्य जनजाति से बने थे जो मरुस्थलों, पर्वतीय क्षेत्रों तथा वनों में रहते थे। शायद बाद में गणपति को पशुपति (शंकर) और भूतपति (शिव) से सम्बद्ध किया गया और जब उसे आर्यों के उच्च देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित किया गया तब उसके जन्म के सम्बन्ध में पुराणों में विभिन्न विवरण मिलते हैं। (वहीं पृ .११८)

मनुस्मृति में निर्देश दिए गए हैं कि जो लोग गणयज्ञ करते हैं उन्हें अंतेष्टि में शामिल न होने दिया जाये। 'गणयज्ञ' का अर्थ पुराणों के भाष्यकार गोविंदराज ने गणपति के अनुयायियों का यज्ञ बताया है। अर्थात् मनु ने गणेश को शूद्रों का देवता घोषित किया था।

'मानव गुह्य सूत्र' का समय पांचवी सदी माना जाता है। इस सूत्र में गणपति के विषय में निम्न बातें मिलेगीं -- "इनसे आक्रांत व्यक्ति मिट्टी के ढेले तोड़ता है, घांस काटता है, अपने शरीर पर आलेखन करता है। उसे स्वप्न में जल, सरमुंडे आदमी, ऊंट, सूअर, गधे दिखाई देते हैं और उसे ऐसा लगता है मानों वह हवा में उड़ रहा हों, चलते समय उसे ऐसा लगता है मानों उसका कोई पीछा कर रहा हों।" आज की दृष्टि में ये मनोवैज्ञानिक भ्रम के लक्षण हैं जिन्हें पहले भूत-पिशाच की बाधा होना कहा जाता था और इस सूत्र के अनुसार यह लक्षण थे गणपति से आक्रांत हुए व्यक्ति के।

ऐसे कई दृष्टांत पुराने साहित्य में मिल जायेंगे। लेकिन पुराण काल में गणेश जी की महिमा में एकदम वृद्धि हुई (स्कन्द पुराण)।

बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनका ऋग्वेद में मूलतः केवल भौतिकवादी या कहीं सांसारिक अर्थ था। लेकिन बाद की संस्कृत भाषा में ये कुछ आध्यात्मिक अर्थ लेकर जीवित रहें। संक्षेप में, इन शब्दों के अपने मूल अर्थों से ठीक विपरीत बन गए। इसका एक बड़ा उदाहरण संभवतः 'भगवान' शब्द होगा। आजकल हम इसे 'ईश्वर' के लिए उपयोग में लाते हैं। लेकिन ऋग्वेद में भाग का सीधा सा अर्थ था भौतिक संपत्ति या उसका कुछ अंश। इस तरह भगवान का अर्थ था वह व्यक्ति जिसके पास भौतिक संपत्ति है। (लोकायत पृ .४३७)

वैदिक काल के शुरु में वैदिक ऋषियों को भी किसी लिपि का ज्ञान नहीं था। जिन ऋचाओं या गीतों की रचना उन्होंने की वह मौखिक रूप से हुई थी। ये रचनाएं मौखिक रूप से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती रहीं। इसी कारण इन्हें 'श्रुति' कहते हैं।

बाद में गणेश जी साक्षात् ईश्वर के अवतार बन गए। 'गणेश पुराण' और 'गणपति उपनिषद्' की रचना हुई। गणपति प्रजा और विद्वत्ता के देवता बन गए। यह 'मानव गुह्य सूत्र',

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के विपरीत भाव हैं। उनके उत्पत्ति की भिन्न-भिन्न कथाएं पुराणों में मिलती हैं जो एकदूसरे से मेल नहीं खातीं। उदा. 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' और 'स्कन्द पुराण' कथाएं।

गुप्त राजाओं के शासन काल से पहले के मूर्तिशिल्प में गणेश की कोई मूर्ति नहीं मिलती। इतिहासकार काणे जी के अनुमान के अनुसार उनकी पूजा ई.स. पांचवीं या छठीं सदी में शुरू हुई। वैसे भी विद्वानों ने सिद्ध किया है कि गुप्त राजाओं के शासन काल में ब्राह्मणीय साहित्य नए सिरे से लिखा गया।

विद्वानों के अनुसार जिस प्रक्रिया से वे देवता बने वह उसी प्रक्रिया का सैद्धांतिक प्रतिबिम्ब था जिससे राज्य सत्ता का उदय हुआ । संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित राज्य सत्ता का उदय। यह वर्गीकृत समाज से पूर्वकालीन आदिम साम्यवाद के अवशेषों पर हुआ था। उसी तरह मानव चेतना में आध्यात्मिक चेतना का प्रादुर्भाव , आध्यात्मिकता के पहले के काल के आदिम विचारों के अवशेषों पर हुआ।

वैदिक साहित्य

भारतीय साहित्य में ऋग्वेद को सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है । उसमें भी दूसरे मंडल से लेकर तो सातवे मंडल तक उसका सबसे पुराना अंश माना जाता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद तीनों यज्ञ-विधियों से जुड़े हुए हैं।

कहा जाता है , वेदों याने वैदिक संहिताओं की कई शाखाएं थीं । इनमें से अधिकांश विलुप्त हो चुकी हैं, केवल नाम रह गए हैं। किन्तु बचे हुए नामों में से कइयों के अर्थ भी विलुप्त हो चुके हैं। बहुत कम नाम ऐसे हैं जिनका कोई स्पष्ट अर्थ निकलता हो । ऐसे नामों की व्युत्पत्ति या तो किसी पशु के नाम से या पौधे के नाम से होती है।

ऋग्वेद संहिता की एकमात्र शाखा जो आज विद्यमान है वह है ' शाकल '। यह सांप की एक प्रजाति का नाम है। प्रतिशाख्य (ऋग्वेद 'ब' २९) के अनुसार इसी वेद की और चार शाखाएं थीं। इनके नाम थे -आश्वलायन , बाष्कल, सांख्यायन और माण्डूकायन। माण्डूकायन की उत्पत्ति स्पष्टतः मंडूक या मेढक से हुई है।

पुराणों में उल्लेख के अनुसार कहा जाता है कि सामवेद की एक हजार शाखाएं थीं। इंद्र ने इनका विनाश कर दिया। क्यों? का कहीं जबाब नहीं मिलता। लेकिन बची हुई सात हैं-कौथुम, सत्यमुग, रणायेन, कपोल, महाकपोल, लांगुलिक और शार्दूलीय।

कृष्ण यजुर्वेद:बची हुई दो शाखाएं हैं-तैत्तिरीय (तित्तिर पक्षी) । अन्य बची हुई शाखाओं की उपशाखाएँ हैं- मानव, वराह, छगलेय (बकरी), हरद्रव्यीय, दुंदुभ, श्यामायानीय।

अथर्ववेद: कुछ शाखाएं: पैप्लाद, ब्रह्मपलाश, शौनक।

वैदिक साहित्य में मनुष्यों के ऐसे कई समूहों के उल्लेख हैं जिनके पशु नाम हैं । ऋषियों के नाम भी किसी पशु आदि से सम्बंधित हैं-जैसे कौशिक (उल्लू से बना) , गौतम (बैल से)आदि।

सामवेद: वास्तव में सामवेद स्वतंत्र रूप से नहीं लिखा गया था । यह ऋग्वेद के श्लोकों का संग्रह मात्र था जो सोमयज्ञ के समय ही उच्चारित किए जाते थे। सामवेद की ७५ ऋचाओं को छोड़कर अन्य सभी ऋचाएं ऋग्वेद के आठवें और नवें खंड में हैं । ऐसा अनुमान है कि बाकी ऋचाएं भी ऋग्वेद का कोई ऐसा भाग रही होंगी जो अब लुप्त हो चुका है । सामवेद के सबसे अधिक विख्यात संशोधित संस्करण कौथुम के दो भाग हैं। दोनों भागों का उद्देश्य तो संगीत स्वरों

का पाठ कराना था | 'सामवेद' याने 'स्वरज्ञान'। ऋग्वेद छंदोबद्ध होने के कारण उसे सस्वर अभिव्यक्त करने पर वह साम हो जाता है।

यजुर्वेद के मन्त्र गद्यमय हैं।

अथर्ववेद: पुराने भारतीय परंपरा में अथर्ववेद का नाम 'अथर्वांगिरस' था अर्थात् अथर्वन और अंगिरस। अथर्ववेद के एक तिहाई भाग में वहीं ऋचाएं हैं जो ऋग्वेद में हैं | अंगिरसों और अथर्वजनों का मन्त्र और टोने-टोटके अथर्ववेद के मूल अन्तर्भाग थे।

'श्रुति' अर्थात् सीधा ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् वेद और उपनिषद् | इसके विपरीत 'स्मृति' उन ग्रंथों को कहते हैं जिनकी मूल रचना अधिकारिक ऋषि-मुनियों ने की | इन्हें इसके बाद के उपदेशकों ने याद रखा।

एक ओर तो कहा जाता है कि वेद ईश्वर प्रदत्त हैं। तो दूसरी ओर ऐसे भी दावे किए जाते हैं - वेद निर्मिति का समय १,९६,०८,५२,९,७६ साल पुराना है। (वैदिक संपत्ति)

आज विज्ञान, ज्ञान और ज्ञात जानकारी के प्रकाश में इसपर क्या टिप्पणी की जा सकती है।

उस समय को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

वैदिक काल ---	ईसा पूर्व १५०० से ईसा पूर्व ५००
तक।	

उपनिषद् काल-----	ईसा पूर्व ५०० से ई. स . ५००
तक।	

भक्ति काल -----	ई .स . ५०० से आगे।

उपनिषदें-

क्षत्रियों द्वारा आरम्भ किए गए वेदांत की गूंज उपनिषद् साहित्य में होने के कारण उपनिषदों को वैदिक साहित्य का हिस्सा मानने पर कई विद्वानों को आक्षेप है | उलट क्षत्रियों द्वारा शुरू किए गए वेदांत की यह शुरुवात है | उपनिषदों में सबसे प्राचीन छान्दोग्य उपनिषद् समझा जाता है। उसमें वेद गायन को कुत्ते का भोंकना बताते हुए उसका मजाक उड़ाया गया है | मंडुकोपनिषद् ने वेदों को अपरा अर्थात् निकृष्ट कहा है। उसके साथ-साथ यह भी कहा गया है कि यजानुष्ठानों को श्रेष्ठ समझनेवाले मूढ़ और अज्ञानी होते हैं | और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं |

इस तरह उपनिषदों में ही, कहीं-कहीं वेदों पर विपरित टिप्पणियां मिलती हैं | अर्थात् क्षत्रियों की राजसत्ता की उदय के साथ वेदों की सत्ता को कुछ हद तक नकारा गया।

वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रंथों के द्वारा वेदों की व्याख्या की गई।

तथाकथित आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन आरण्यक ग्रंथों में है।

उपनिषदें: वेद का अंतिम भाग होने से इन्हें वेदांत के नाम से भी जाना जाता है। इनके प्रमाणों के आधार पर ही वेदांत दर्शन (ब्रह्मसूत्र)में ब्रह्म का विवेचन होने से भी इन्हें वेदांत कहा जाता है। वास्तव में उपनिषदें, वेद की शाखाओं, ब्राह्मण, आरण्यक ग्रंथों के ही विशेष अंश या हिस्से हैं। ये कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं।

उपनिषदों की संख्या: प्रामाणिक उपनिषदें ग्यारह हैं - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर।

लेकिन अनेक सांप्रदायिक व्यक्तियों ने अपने सांप्रदायिक ग्रंथों की रचना करके उन ग्रंथों को भी 'उपनिषद्' का नाम दिया। अतः इनकी संख्या अनेक हो गई-

'उपनिषद् वाक्य महाकोश' में '२२३' उपनिषदों का उल्लेख है।

'गीताप्रेस गोरखपुर' के उपनिषद् विशेष अंक में २२० उपनिषदों का वर्णन है।

ऐडियार लाइब्रेरी मद्रास से लगभग २०० उपनिषदें प्रकाशित हो चुकी हैं।

आचार्य विश्वश्रवा ने मुद्रित-अमुद्रित २५० उपनिषदों के नामों की सूची दी है। (उपनिषद् प्रकाश)

मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों का उल्लेख है | (इसके अनुसार ऋग्वेद से सम्बंधित १०, शुक्ल यजुर्वेद से सम्बंधित १९, कृष्ण यजुर्वेद से ३२, सामवेद से जुड़े १६, अथर्व वेद से ३१ हैं। कड़ियों के अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

उपनिषदों पर सबसे प्राचीन भाष्य आदि शंकराचार्य का मिलता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार उपनिषद् शब्द का अर्थ ही रहस्यमय उपदेश था।

प्रारंभिक उपनिषदें ५०० वर्ष ईसा पूर्व रचित हुईं, यह बात सर्वमान्य है।

उपनिषदों में आध्यात्मिक तत्त्व

ईशोपनिषद्-

यह यजुर्वेद की कण्व शाखा का चालीसवां अध्याय है। यजुर्वेद के मूल अध्याय में १७ मंत्र हैं। लेकिन ईशोपनिषद् में १८ मन्त्र हैं। इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र का प्रथम शब्द 'ईशा वास्यम' या ईशा है। इसलिए इसका यह नाम पड़ा। कुछ विद्वान् इसे ही सबसे प्राचीन उपनिषद् मानते हैं।

यह संसार गतिशील है। इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। किसी भी भौतिक पदार्थ में स्थिरता-नित्यता नहीं है।

ऐसे अस्थिर-अनित्य संसार में परमात्मा नित्य है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, निराकार है। वह न्यायकारी भी है।

शरीर में आत्मा चेतन है। वह शुभाशुभ कर्म करने में स्वतंत्र है। लेकिन फल भोगने में परतंत्र है।

लेकिन दिखनेवाला संसार भी मिथ्या नहीं है। सारा व्यवहार इसकी यथार्थता को लेकर ही चल रहा है।

पाप कर्मों से बचो। त्यागपूर्वक, भोगों का भोग करो। ईश्वर के प्रति कृतज्ञ रहो।

समस्त जड़ पदार्थों का ज्ञान-भौतिक ज्ञान-अविद्या-अज्ञान है। इससे मनुष्य मृत्यु से अर्थात् शारीरिक दुःखों से तो बच जाता है किन्तु अमृत-अमरता अर्थात् मोक्ष तो विद्या या आध्यात्मिक ज्ञान से ही प्राप्त होता है। जब तक ज्ञान व्यवहार में नहीं आता तब तक वह अविद्या-अज्ञान ही है।

केन उपनिषद्-

यह सामवेद की जैमिनीय शाखा के जैमिनीय ब्राह्मण से सम्बंधित है। इसके प्रथम मन्त्र में 'केन'शब्द आया है। यह वास्तव में जैमिनी ब्राह्मण का नवम अध्याय ही है। चार खण्डों में कुल ३३ श्लोक हैं। गुरु शिष्य संवाद के रूप में ब्रह्मत्व का विवेचन है।

इन्द्रियाँ मन के साधन हैं। वैसे ही मन भी आत्मा का साधन है। चेतन आत्मा के कारण ही इन्द्रियाँ, विषयों को ग्रहण करती हैं। जो व्यक्ति इस आत्मा के स्वरूप को समझ लेता है वह इन्द्रियों के वश में नहीं रहता, उनको अपने वश में कर लेता है।

जब इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होता है और उससे जो ज्ञान होता है उसे बोध कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियों की विषयों के प्रति बाहर की तरफ जो गति होती है वह बोध है। इसके विपरीत गति अर्थात् अंदर की तरफ गति होने लगे या इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाना बंद कर दे और मनुष्य अपने अंदर खोजने लगे, उस समय मनुष्य की चंचलता समाप्त हो जाती है। वह अपने 'स्व' में स्थित होकर शांति का अनुभव करता है। भौतिक आकर्षण उसे विचलित और

प्रभावित नहीं कर पाते। उस समय का आंतरिक अनुभव, जो उसे ध्यान, धारणा और समाधी द्वारा प्राप्त होता है उसे प्रतिबोध कहते हैं। वह इसी प्रतिबोध से अमृत को प्राप्त होता है।

कठोपनिषद-

महाभाष्य में यजुर्वेद की एक सौ शाखाओं का उल्लेख है। ये शाखाएं शुक्ल और कृष्ण दो शाखाओं में विभक्त हैं। कठोपनिषद कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में प्रसिद्ध 'कठ' शाखा से सम्बंधित है। इसमें कुल ११९ श्लोक हैं।

यह उपनिषद यम और नचिकेता के बीच संवाद के रूप में है।

इसमें मनुष्य का दृष्टिकोण विशाल करनेवाले जीवन के चार आश्रमों का जिक्र है।

आत्मा को मान्यता है। परमात्मा का नाम 'ॐ' बताया गया है।

इन्द्रिय उन्हीं पदार्थों को ग्रहण करती हैं जो नाशवान होते हैं । इसलिए नित्य परमात्मा को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता । लेकिन अध्यात्म पथ के पथिक अपने हृदय के अंदर परमात्मा से साक्षात्कार कर लेते हैं। इससे उन्हें शाश्वत शांति मिलती है।

प्रश्नोपनिषद-

यह उपनिषद् अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से सम्बंधित है । इसमें ब्रह्मज्ञान की खोज में सुकेश, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य (आश्वलायन), वैदर्भी और कबन्धी ये छह 'ब्रह्मजिज्ञासु', महर्षि पिप्पलाद के पास जाते हैं और अपनी जिज्ञासा तृप्त करने उनसे प्रश्न करते हैं , इसलिए यह नाम है।

आध्यात्मिक मार्ग पर चलने, सम्पूर्ण समर्पण भाव आवश्यक है।

संसार किसने उत्पन्न किया?

ऋषि ने उत्तर देते हुए कहा कि प्रलयावस्था में अर्थात् जब यह सृष्टि नहीं थी उस समय ईश्वर, जीव और प्रकृति विद्यमान थे । प्रकृति कारणावस्था में विद्यमान थी तो जीवात्माओं के पूर्वजन्म कृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कार उनके साथ विद्यमान थे।

जब प्रलय अवस्था समाप्त होने को होती है तब सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया आरम्भ होती है। प्रकृति अपनेआप में जड़ है । जड़ वस्तु में अपनेआप क्रिया नहीं हो सकती । सृष्टि बनाने के लिए ईश्वर कामना करता है। ब्रह्म की कामना या इच्छा मनुष्य की इच्छा जैसी नहीं होती इसलिए इसे 'ईक्षण' कहा जाता है। ईश्वर ने ईक्षण किया , उससे प्रकृति में उग्र क्रिया हुई । इसे तप कहा गया है। अर्थात् ब्रह्म की इच्छा से प्रकृति में गति उत्पन्न हुई जिससे मिथुन अथवा जोड़ा या द्वित्व पैदा हुआ। प्रकृति अपनेआप में एक है। एक से अनेक नहीं हो सकते। अनेक होने की लिए पहले दो का जोड़ा हो, मिथुन हो, उसके बाद ही नाना हो सकेंगे।

मुण्डक उपनिषद्-

अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बंधित है । इसमें तीन मुण्डक या अध्याय या विभाग हैं। प्रत्येक मुण्डक के दो-दो खंड हैं। कुल १४ पद्य हैं।

मुण्डक का अर्थ है मूँड़नेवाला । अंतःकरण में विद्यमान समस्त अविद्या को मूँड़नेवाला - समाप्त करनेवाला होने के कारण इसका यह नाम है । इसके स्वाध्याय से ही मानसिक विकार दूर हो जाते हैं। यह इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, ऐसा दावा किया जाता है।

इस उपनिषद् में परा और अपरा विद्या का वर्णन है । समस्त भौतिक विद्या अपरा तथा आध्यात्मिक विद्या परा है । वेदों में आध्यात्मिक वर्णन नहीं है, ऐसा नहीं । लेकिन मध्यकाल में वेदों का उपयोग केवल मात्र यज्ञों के लिए या कर्मकांड के लिए किया जानने लगा अतः उन्हें केवल कर्मकांड के ग्रन्थ माना जाने लगा । कर्मकांड का स्वरूप विकृत हो गया था जिसमें पशुबलि-नरबलि भी अंतर्भूत हो गई थी। इसके विरोध में बृहस्पति, बुद्ध, महावीर आदि ने आवाजें उठाई थीं। वेद कर्मकांड में उपयोगी है और कर्मकांड का उपयोग भौतिक सुख-सुविधाओं एवं भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है यह विचारधारा इस उपनिषद् के समय प्रबल थी । इस कारण वेदों के ज्ञान को अपरा विद्या में अंतर्भूत किया गया । उपनिषदों में आध्यात्मिक विद्या की तुलना में कर्मकांड को निम्न स्तर का बतलाया गया है।

पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुष के शरीर में बाल , रोम निकलते हैं। उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विश्व होता है। (ब्रह्म के प्रकृति रूप शरीर से)

कारण के गुण कार्य में आते हैं, यह सर्वमान्य है। यदि सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म को मान लिया जाए तो उसके सारे गुण सृष्टि में आने चाहिए लेकिन ऐसा नहीं है । इस कारण ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं । उपादान कारण है प्रकृति। ईश्वर उसमें गति देता है। ईश्वर और प्रकृति नित्य है । इसीलिए जिसका अर्थ क्षय न होनेवाला होता है वह अक्षर शब्द

दोनों के लिए उपयोग में लाया जाता है। इस उपनिषद् में प्रकृति के लिए भी अक्षर शब्द मिलता है।

माण्डूक्योपनिषद्-

- अथर्ववेद से सम्बद्ध यह एक लघुकाय उपनिषद् है । इसमें केवल बारह श्लोक हैं । इसमें परमात्मा के मुख्य नाम ॐ की विस्तृत व्याख्या की गई है । श्री गौडपादाचार्य ने इसपर कारिकाएँ लिखी हैं जिससे यह उपनिषद् बहुत प्रसिद्ध हो गया । इस उपनिषद् का प्रारम्भ करते हुए उपनिषत्कार ने लिखा है कि ॐ एक छोटासा अक्षर है परन्तु सारा संसार इसी एक अक्षर की व्याख्या है।

इसमें जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरियावस्था इन चारों का वर्णन मिलता है। जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर होते हैं । जीवात्मा जागृतावस्था में स्थूल शरीर से , स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर से और सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर से युक्त रहता है । जीवात्मा इन तीनों शरीरों तथा अवस्थाओं से पृथक् है। चौथी अवस्था को ही तुरीय अवस्था कहा जाता है। जागृत अवस्था में वह स्थूल जगत का आनंद लेता है। स्वप्नावस्था में वह अंतःप्रज्ञ हो जाता है। अर्थात् वह बाहर से हटकर अपने भीतर चला जाता है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा वह मानसिक भोगों को भोगता है। इसी कारण यहाँ स्थूल भूक न कहकर 'प्रविविक्त भूक' कहा गया है और सूक्ष्म शरीर को 'तेजस' कहा गया है। इसके कारण स्थूल शरीर क्रियाशील होता है।

आत्मा जब सुषुप्ति अवस्था में होता है तो उसे न किसी प्रकार की कामना होती है , न वह कोई स्वप्न देखता है। यहाँ आत्मा अपनी समस्त क्षमताओं को बाहर बिखेरने के स्थान पर एक केंद्र में समेट लेता है। अपने को एक तरह शरीर से अलग कर लेता है। ज्ञान की घनावस्था में पहुँचकर ज्ञानमय और आनंदविभोर हो जाता है। उसका मुँह चेतना या ब्रह्म की ओर हो जाता है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएं जीवात्मा की नहीं अपितु उसके शरीर की हैं । जीवात्मा तो इससे भी परे है जिसे 'अमात्रस-तुर्थः' कहा गया है (माण्डूक्य :१२) । लेकिन इन अवस्थाओं का ज्ञान अनुमान से होता है, जिसका अच्छा विश्लेषण इस उपनिषद् में मिलता है।

जीवात्मा और ब्रह्म और उनकी तीनों अवस्थाओं का वर्णन ॐ में अंतर्भूत है । शरीर में आत्मा, ब्रह्माण्ड में ब्रह्म, उनकी जागृत अवस्था को 'अ' कार से, स्वप्न को 'उ' के द्वारा और सुषुप्ति स्थान को 'म' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सब स्थितियाँ व्यवहार्य , चिन्त्य, वर्णनात्मक हैं। इनमें आत्मा -परमात्मा का सगुण ज्ञान होता है। इन तीनों स्थितियों से अलग आत्मा और ब्रह्म की एक निर्गुण स्थिति है , जो इनका अपना स्वरूप है । ये सभी गुण प्रकृति और शरीर के माध्यम से बताए गए हैं किन्तु

आत्मा शरीर, और परमात्मा प्रकृति नहीं है। ये इनसे अलग है। शरीर और प्रकृति तो इनके व्यक्त होने के माध्यम हैं। आत्मा या ब्रह्म की चौथी स्थिति को ही 'अमात्र स्थिति', 'तुरीय स्थिति' कहा गया है। उपनिषद् के अंत में कहा गया है कि ब्रह्म का वास्तविक जो रूप है वह अव्यवहार्य है । यहाँ शरीर और प्रकृति का प्रपंच समाप्त हो जाता है।

'ओंकार' में विद्यमान 'म' से शरीर और प्रकृति की कारणावस्था अभिप्रेत है जिसे सुषुप्ति कहा गया है। शरीर की सुषुप्ति अवस्था गाढ़ निद्रा की अवस्था है । उस समय आत्मा का स्थूल , सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है । वह शरीर से अपने को अलग कर लेता है और वह अपने स्वरूप में अनजाने में जीवात्मा , परमात्मा के निकट होता है , आनंद का अनुभव करता है। तभी उठकर कहता है कि आज नींद अच्छी हुई , आनंद आया। ॐ में 'म' इस आनंद का प्रतीक है । प्रकृति की सूक्ष्मावस्था तब होती है, जब ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि का निर्माण न करके, प्रकृति की प्रलयावस्था या सत्त्व , रज, तम इन गुणों की साम्यावस्था होती है । प्रकृति या कारणावस्था समान होती है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में गाढ़ निद्रा का सुख , राजा, प्रजा, विद्वान्, मूर्ख, धनी, निर्धन सभीको एक समान रूप से प्राप्त होता है।

ऐतरेय उपनिषद् -

ऋग्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक है । ऐतरेय आरण्यक का चौथा, पांचवा और छठा अध्याय ऐतरेय उपनिषद् है । इसमें मुख्य रूप से ब्रह्मविद्या का वर्णन है । सृष्टि उत्पत्ति के पहले एक परमात्मा ही था । अन्य कोई वस्तु नहीं थी। परमात्मा ने सृष्टि बनाने का निश्चय किया और इन लोगों का निर्माण किया।

छान्दोग्य उपनिषद्-

सामवेद का ब्राह्मण ग्रन्थ , छान्दोग्य मन्त्र ब्राह्मण है । इसके प्रारंभिक दो अध्यायों को छोड़कर शेष भाग छान्दोग्य उपनिषद् है।

छान्दोग्य शब्द छन्दोग से बना है। छन्दोग का अर्थ है 'छंद गायक'। छंद में लय होती है। वैदिक ऋषियों ने गीतों की रचना मुलतः विशेष प्रभावों के लिए की थी । उनकी यह कल्पना थी कि पदों की मात्राओं, स्वरावलि और अक्षरों, यहाँ तक कि उनके उच्चारणों में भी चमत्कारी शक्ति है। एक कथा मिलती है जिसके अनुसार त्वष्टी नामक व्यक्ति का शत्रु मरने का स्थान पर, स्वयं त्वष्टी मर गया चूँकि उसका मंत्रोच्चारण सही नहीं था । लेकिन इस तरह की लयबद्ध गीतों का परिणाम सामुदायिक शक्ति में काम आता है, यह हम आज भी अनुभव करते हैं।

छंद का दूसरा अर्थ भी है, 'प्रसन्न करना', संतुष्ट करना या प्रसन्नता लाना।

लेकिन इस उपनिषद् में विषय है 'वाक' तथा संगीत और इस सन्दर्भ में इसका महत्व बड़ा है। इन बातों को समझने की दिशा में बहुत प्रारंभिक काल में किए गए प्रयासों का वह दस्तावेज है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् -

विद्वान् इसे अन्य उपनिषदों में अर्वाचीन मानते हैं।

उपनिषद् का प्रारम्भ करते हुए उपनिषत्कार ने लिखा है, संसार का क्या कारण है?

एक मत है कि सृष्टि बनने का कारण प्रकृति का अपना स्वभाव है । प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव होता है। इसेही 'स्वभाववाद' कहते हैं।

कुछ मतों के अनुसार सृष्टि ऐसे ही बन रही है , चल रही है। इसका विशेष कोई प्रयोजन नहीं है। इसको लोग 'यदृच्छवाद' कहते हैं।

इस उपनिषद् पर सांख्य दर्शन का प्रभाव है। इसमें प्रकृति के सत्त्व, रज, तम तीन गुणों का उल्लेख है। इस संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन 'अक्षर' प्रतिष्ठित हैं। प्रकृति जीवात्मा के भोग के लिए है। इसप्रकार भोक्ता, भोग्य और प्रेरयिता (ईश्वर) का उल्लेख करके उपनिषत्कार ने त्रैतवाद को स्थापित किया है।

- इसी उपनिषद् में प्रकृति के लिए, 'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है।

तैत्तरीय उपनिषद्-

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा का ब्राह्मण ग्रन्थ तैत्तरीय ब्राह्मण है । तैत्तरीय ब्राह्मण ग्रन्थ का अंतिम भाग तैत्तरीय आरण्यक है। तैत्तरीय आरण्यक के दस अध्यायों में से सात , आठ, नौ अध्याय तैत्तरीय उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'ऋत' को ईश्वरी नियम या दैवीय व्यवस्था कहा गया है।

ब्रह्म कोई व्यक्ति नहीं तो शक्ति या गुणों का भंडार है जिसके कारण सृष्टि का समस्त व्यवहार चल रहा है।

परमात्मा ने सृष्टि की उत्पत्ती किस प्रकार की या सूक्ष्म, स्थूल में कैसा परिवर्तित हुआ तो -परमात्मा से आकाश , आकाश से वायु , वायु से अग्नि , अग्नि से जल और जल से पृथ्वी बनी। उसके पश्चात औषधि, अन्न, वीर्य, पुरुष बना। भौतिक पदार्थों में सबसे सूक्ष्म आकाश है।

यहाँ पांचों कोशों का वर्णन है। अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनंदमय। आत्मा इन पांचों कोशों के अंदर विद्यमान है। क्रमशः इन कोशों के अंदर और अंत में आनंदमय कोष में ध्यान के द्वारा प्रवेश कर सकता है। आत्मा आनंदमय कोष के अंदर है। आदि शंकराचार्य कोशों की सत्ता को काल्पनिक मानते हैं।

उपनिषद् का तृतीय अध्याय भृगुवल्ली के नाम से है। इसमें भृगु अपने पिता वरुण को, ब्रह्म के विषय में पूछते हैं। भृगु को समझाते हुए वरुण ने कहा 'अन्न' ही ब्रह्म है।

बृहदारण्यक उपनिषद् -

शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के अंतिम छह अध्यायों को बृहदारण्यक कहते हैं। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों ही मिश्रित हैं। यह उपनिषद् अन्य उपनिषदों से बड़ा है। आरण्यक अर्थात् जंगल। इसका उपदेश जंगल में दिया गया ऐसा प्रतीत होता है।

यह शरीर जीवात्मा का है। शरीर यह स्थूल पञ्चमहाभूतीय है, जिसमें ब्रह्म विद्यमान है। पञ्चमहाभूतों में कुछ दृश्य हैं, कुछ अदृश्य। इस कारण ब्रह्म मूर्त भी हैं और अमूर्त भी। आत्मा पुनर्जन्म लेता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे को धारण करने के मध्य आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है अर्थात् गर्भावस्था में वह ज्ञानशून्य रहता है। मृत्यु के समय जीवात्मा इन्द्रियों में से अपनी सारी शक्ति खींच लेता है। इन्द्रियां अपना कार्य करना बंद कर देती हैं। आत्मा आँख-कान - मूर्धा किसी भी शरीर स्थान से जब निकलती है तब प्राण भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। तब प्राणों के साथ-साथ विद्याकर्म और उनके संस्कार जाते हैं जो जन्म और मृत्यु के बीच प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। तब जीवात्मा को कुछ भी बोध नहीं रहता। वे संस्कार अगले जन्म में शुभ-अशुभ कर्म के प्रेरक होते हैं। मनुष्य जैसा सोचता है वैसे कर्म करने लगता है। जैसा कर्म करता है, वैसा ही हो जाता है, पुण्यात्मा या पापात्मा। जो व्यक्ति आत्मा को जान लेता है वो कामनाओं से मुक्त हो जाता है।

संक्षेप में --

हमें उपनिषदों से निम्न आध्यात्मिक बातें प्राप्त होती हैं, जिनका अस्तित्व स्थापित करना न आज तक संभव हुआ, न कभी होगा -

सृष्टि-

सृष्टि आत्माओं के भोग के लिए है।

सृष्टि यह माया है, एक छलावा है।

सृष्टि को चलाने के लिए, इसके बाहर के किसी शक्ति की आवश्यकता है।

आत्मा

शरीर में आत्मा शरीर से अलग लेकिन चेतन अविकारी तथा नित्य है।

वह कर्म करने में स्वतंत्र है लेकिन फल भोगने में नहीं।

आत्मा पुनर्जन्म लेता है।

ईश्वर

अनित्य संसार के पार कोई नित्य ईश्वर है।

वह सभी गुणों से युक्त है (इनमें परस्पर विरोधाभासी गुण भी अंतर्भूत हैं)।

किसी के लिए यह सृष्टि का उपादान कारण है तो किसी के लिए निमित्त कारण।

वह आत्मा के कर्मफलों का दाता है।

आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए उपरोक्त उपदेशों के प्रति पूर्ण समर्पण आवश्यक है।

ज्ञान

समस्त जड़ पदार्थों का ज्ञान अविद्या है।

केवल अस्तित्वपार वाले ब्रह्म का ज्ञान ही वास्तव है जो मुक्तिदाता है।

फिर भी यह मान्य किया गया है कि भारतीय चिंतन परंपरा में उपनिषद् ही ऐसे सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं जिनमें आदिम कबीलाई सामूहिक श्रम पर आधारित आदि वैदिकों की सामूहिक यथार्थमूलक चेतना के विपरीत समस्त बाह्य वास्तविकता को भ्रमजन्य घोषित करते हुए आत्मा को एकमात्र यथार्थसत्ता स्वीकार किया गया है।

इनमें अब प्रकृति की शक्तियां, देवता नहीं हैं तो ब्रह्म और आत्मा ही अंतिम सत्य है।
आखिर ब्रह्म है क्या ? तो लौकिक अनुभूतियों से नितांत शून्यावस्था और जगत भ्रम है का निश्चित अर्थ क्या है ? अगर जगत भ्रम है तो वह सर्वोच्च सत्ता सारे जगत में भी भरी हुई है का अर्थ क्या है ?

भौतिक अनुभवों से विच्छिन्न 'शुद्ध' ज्ञान का मनुष्य की बुद्धि में प्रकाश तब पड़ा या उसे आत्मज्ञान तब हुआ जब समाज में एक ऐसा वर्ग अवतरित हुआ जिसे दूसरे वर्ग के शारीरिक श्रमों पर या उनके शोषण पर जीने की सुविधा उपलब्ध हुई । धीरे-धीरे श्रमजन्य गतिविधियों को निम्न कोटि का घोषित कर दिया गया और इससे जुड़े हुए लोगों के वर्ग को निम्न जाति । मनुस्मृति में कृषि को नितांत निकृष्ट धंदा घोषित कर दिया गया और आदेश दिया गया कि ब्राह्मण (ब्रह्म ज्ञान से युक्त) और क्षत्रिय, उत्पादन सम्बंधित व्यवसायों को कदापि अंगीकार न करें (१० -११६ -११७)। वास्तव में ऋग्वेद के प्राचीन स्थलों में वर्ण विभाजन तथा श्रम के प्रति किसी प्रकार का घृणा भाव अनुपस्थित है।

उपनिषदों के महान दार्शनिक याज्ञवल्क, लौकिक जगत को भ्रमजन्य घोषित करते हुए भी अपने सुविधासम्पन्न जीवन के लिए भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा करते हैं और राजा जनक से एक हजार गौएँ प्राप्त करते हैं।

इंद्रा द्वारा वरुण का स्थान ले लेने के साथ ही प्राचीन 'ऋत' के नियम का स्थान कर्म के सिद्धांत ने ले लिया (ह्यूम)। इस प्रकार बहुत आरंभिक काल में ही अर्थात् छान्दोग्य उपनिषद् काल में ही जातीय शासन और पर्याय से जातीय आधार पर शोषण को न्यायोचित ठहराने के हथियार के रूप में 'कर्म सिद्धांत' जैसी संकल्पना का अवतरण वैदिक समाज में हुआ । इसके अनुसार -

'जिनका आचरण इस लोक में अच्छा है वे किसी सुखकर गर्भ में जायेंगे , जो या तो किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य स्त्री का होगा । किन्तु जिनका आचरण इस लोक में कुत्सित होगा वे वस्तुतः कुत्सित गर्भ में जायेंगे अर्थात् किसी कुतिया, सुअरी या चाण्डालिक गर्भ में।

परवर्ती काल में चाहे जितने मतों का आविर्भाव हुआ हो लेकिन 'कर्म का सिद्धांत' सर्वोच्च ही रहा।

गीता -

गीता, महाभारत के अध्याय शांति-पर्व का एक हिस्सा है । इसमें अठारह अध्याय तथा ७०० श्लोक हैं। गीता के कई श्लोक श्वेताश्वतर, कठ, या फिर कैवल्योपनिषद् से या तो जैसे के वैसे या फिर थोड़े फर्क के साथ लिए गए हैं । कुछ वाक्प्रयोग भी छान्दोग्य , बृहदारण्यक आदि उपनिषदों से उनके मूल रूप में उठाए गए हैं।

उपनिषदों की तरह ही गीता में भी वेदों पर कुछ विरोधी टिप्पणियां मिलती हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि गीता यह उपनिषदों का सार है।

गीता के पहले छह अध्यायों में कर्मयोग, सात से बारह अध्यायों में भक्तियोग तथा तेरह से अठारह में ज्ञानयोग के दर्शन होते हैं, ऐसा विद्वानों ने कहा है।

लेकिन ईसा की चौथी सदी तक गीता पर एक भी भाष्य या टिका उपलब्ध नहीं है। अतः इसे या यह जिस महाभारत का हिस्सा है उसे इस सदी के पहले का मानने का कोई आधार नहीं है।

भगवद्गीता: बुद्धिवादी समीक्षा में भदन्त आनंद कौशल्यायन जी ने कुछ मुद्दे उठाए हैं -

सारी भगवद्गीता: अठारह अध्याय या सात सौ से अधिक श्लोक , का वाचन या दो व्यक्तियों के बीच का इतना लम्बा वार्तालाप, दो सेनाओं के बीच रहकर युद्धभूमि में हुआ हो, इस पर विश्वास करना क्या इतना आसान है?

उस अर्जुन की, जिसने कृष्ण के इस कथन पर विश्वास कर लिया था कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता (न में भक्तः प्रणश्यति) और मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा (अहम् त्वाम सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि) और इसीलिए आपका वचन है, वह करूँगा (करिष्ये वचनं तव) कहते हुए जो युद्ध में प्रवृत्त हो गया था, उस अर्जुन की क्या गति हो गई? स्वयं महाभारत का स्वर्गारोहण पर्व साक्षी है कि अर्जुन भी स्वर्ग नहीं पहुँचा । या तो श्रीकृष्ण ने जानबूझकर उस समय उसकी सहायता नहीं की अथवा वे सहायता करने में असमर्थ सिद्ध हुए।

तब एक निर्मम जिज्ञासा मन में पैदा होती है कि , जिस गीता के ज्ञान ने अथवा तदनुसार आचरण ने उस अर्जुन को भी, जिसे सम्बोधित करके ही सारी गीता रची गई है, स्वर्ग नहीं पहुँचाया वह अन्यो के लिए भी क्या परिणामकारी हो सकती है?

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रोस्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥(९-३२)

हे अर्जुन ! मेरी शरण ग्रहण करने से जितनी भी पापयोनियाँ हैं-चाहे वे स्त्रियाँ हो , चाहे वैश्य हो या चाहे शूद्र हों-वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं।

परम गति को प्राप्त हो न हों , किन्तु यहाँ स्त्रियों, वैश्यों, शूद्रों को पापयोनि कह दिया है। (पृ . ३५)

- ये में मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽन स्यून्तो मुच्यते तेऽपिकर्मभिः॥३१॥

ये त्वेतदभ्यस्यून्तो नानुतिष्ठन्ति मे मनम।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३२॥

जो आदमी नित्य मेरे इस मत के अनुसार श्रद्धायुक्त होकर, असूया रहित होकर आचरण करते हैं वे भी कर्म के बंधन से छूट जाते हैं । किन्तु जो असूया के कारण मेरे इस मत के अनुसार आचरण नहीं करते वे सर्वज्ञान विमूढ, नष्टभ्रष्ट हैं, वे जड़ हैं।

टिप्पणी - गीताकार ने यहाँ श्रीकृष्ण के मुँह में ऐसे वाक्य डाले हैं जो अपनी बात न माननेवाले के लिए किसी तरह नहीं कहे जाने चाहिए। जैसाकि बुद्ध का यह विनम्र कथन कि, मेरे कहने को भी उसकी परीक्षा करने के बाद ही ग्रहण करों।

'निष्काम कर्म' का सिद्धांत भारतीय संस्कृति की विश्व को देन है।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाशेत किमासीत् ब्रजेत कीम॥ ५४॥

हे केशव! स्थिरबुद्धि मनुष्य की क्या (परि) भाषा है?

इसके आगे के १८ श्लोकों में इसका उत्तर मिलता है और ये असाधारण महत्व के श्लोक बन गए हैं। सारांश ६८ वे श्लोक में मिलता है -

हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियां हर प्रकार से उसकी वश में होती हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है

कामनाओं के पीछे अँधा होकर न भागनेवाले को ही शांति प्राप्त होती है।(श्लोक ७०)

और यह भाव तो मनुष्य को अपने मन में पैदा करना है । उसे छोड़कर किसी 'नास्ति' में भटकने की क्या आवश्यकता है? दूसरी बात अध्यात्म का गुणगान करनेवाले कितने लोगों में ये गुण मिलते हैं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥ (अध्याय पांचवा)

ईश्वर न संसार के कर्तृत्व का रचयिता है और न संसार 'कर्मों' का रचयिता और न ही वह 'कर्मों' तथा 'फल' के संयोग का। प्रकृति का स्वभाव मात्र रचयिता है।

टिप्पणी: तो फिर गीताकार ने कृष्ण से यह कहलवाया है कि , "गुण, कर्म विभाग के अनुसार चारों वर्णों की रचना मैंने की है।" का क्या अर्थ है? (और फिर प्रकृति के पार हम क्या ढूँढने निकले हैं।)

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्छल

समधावचला बुद्धिस्तदा योगं वास्यसि॥ ५३॥(अध्याय दूसरा)

'श्रुति (वेद) से परांगमुख' जब तेरी बुद्धि निश्छल हो जाएगी , तभी तेरी समाधि-प्राप्त अचल बुद्धि योग लाभ करेगी।

नौवें अध्याय का ३० वां श्लोक कहता है -चाहे कोई अत्यंत दुराचारी हो , लेकिन अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना पड़ेगा - आचरण की अपेक्षा 'भजन' को इतना अधिक महत्वपूर्ण मानने के कारण ही समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं जिनके मुँह में राम और बगल में छुरी होती है।

ग्यारहवें अध्याय का ४८ वां श्लोक -श्रीकृष्ण ने योगमाया के द्वारा अर्जुन को विश्वदर्शन कराया। क्या वह हिप्नोटिज़्म था।

तेरहवें अध्याय का बीसवां श्लोक-कार्य-कारण की उत्पत्ति में प्रकृति को हेतु माना जाता है। तो सुख-दुःख के भोगने में पुरुष को हेतु माना जाता है। अगर पुरुष में कोई परिवर्तन ही नहीं होता, तो वह सुख-दुःख का अनुभव ही कैसे कर सकता है?

चौदहवां अध्याय, तीसरा श्लोक- हे अर्जुन! जो प्रकृति ब्रह्म है , वही मेरी योनि है। मैं उसीमें 'गर्भ'धारण करता हूँ। उसीसे सारे प्राणियों की उत्पत्ति होती है।- यहाँ प्रकृति-ब्रह्म दोनों एक ही हैं। यदि प्रकृति ही ब्रह्म है तो पृथक् किसी अन्य ब्रह्म की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है?

अठारहवाँ अध्याय: चालीसवां श्लोक

हे अर्जुन! न पृथ्वी पर, न स्वर्गलोक में और न देवताओं में ही कहीं कोई भी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो। तो?

चौदहवां अध्याय (श्लोक १७ + २२)

सत्त्व गुण से पैदा होता है प्रकाश, रजो गुण से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति तथा तमोगुण से उत्पन्न होनेवाला मोह, अज्ञान, प्रमाद आदि ।

टिप्पणी: तीनों गुणों के फल तो बताये गए हैं। अगर ये गुण प्रकृति के हैं और प्रकृति अनादि है तो ये गुण भी अनादि होने चाहिए । अगर तमो गुण से दुःख पैदा होता है तो उसका नाश तो होगा ही नहीं क्योंकि उसका मूल ही अनादि , अनंत है। फिर दुःख से मुक्ति कहने का क्या प्रयोजन हो सकता है?

श्लोक ७१ --जो आदमी असूया को त्याग , श्रद्धावान होकर इसे सुन भी लेगा , वह भी पापों से मुक्त होकर, पुण्यकर्मियों के शुभ-लोक को प्राप्त होगा।

टिप्पणी: यदि जो फल पुण्यकर्मियों को पुण्य करके प्राप्त होता है, वह फल अगर गीता के श्रवण मात्र से प्राप्त होनेवाला है तो फिर किसीको भी पुण्यकर्म करने की आवश्यकता ही क्या है?

- सर्वधर्मानपरित्यज्य मामेकं शरणम ब्रज।

अहम् त्वां सर्वोपायेभ्यो मोक्षयिष्यामि माँ शुचः॥६६॥अध्याय अठारह

सब धर्मों को छोड़कर मेरी ही शरण आ। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूंगा। सोच मत, कर।

यह किसी की भी शरणगमन मात्र से पापों की मुक्ति का सिद्धांत बड़ा खतरनाक है । 'शुद्धि' तथा 'अशुद्धि' व्यक्तिगत मामला है। कोई भी किसीको पापमुक्त नहीं कर सकता। एक व्यक्ति दूसरे के लिए अधिक से अधिक मार्गदर्शक हो सकता है । (यही आग्रह तो सारे बाबा अपने अनुयायियों से करते हैं। मेरी शरण मैं आओं, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूंगा।) यह तो हुई एक बात। दूसरी बात - फिर 'कर्म सिद्धांत' का क्या होगा ? की प्रत्येक कर्म का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं।

- इसके अतिरिक्त गीता में भी अन्य धार्मिक ग्रंथों की तरह ही तर्क को महत्व न देनेवाले श्लोकों की भरमार हैं।

'न बुद्धिभेदम जनयेदं' -ज्ञानी लोगों ने समाज का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए। अर्थात् परंपरा और धर्मग्रंथों के अनुसार चली आ रही परम्पराएं, श्रद्धा वैसी ही चलने दे।

श्रद्धावान लाभते ज्ञानःसंशयात्मा विनश्यति

श्रद्धावान को ही ज्ञानप्राप्ति होती है और जो पहले से चले आ रहे ज्ञान के प्रति संदेह उपस्थित करता है, उसकी अधोगति होती है, नाश होता है।

- गीता कहती है कि जब - जब धर्म पर अर्थात् मानव के अस्तित्व पर गहरा संकट आता है तब - तब ईश्वर अवतार लेता है और संकट से दुनिया को उभारता है अर्थात् नए युग का आरम्भ होता है, युग परिवर्तन होता है। मन्वन्तर याने कालखंड में होनेवाला बदल। अर्थात् इतिहास घटित होता है वह किसी असामान्य व्यक्ति के कारण।

दुनिया में समाज का विकास किस तरह हुआ इस विषय में कई कल्पनाएं की गई हैं । लेकिन उसके पीछे की प्रेरक शक्ति क्या होती है?

इतिहास को रूप देने में महान व्यक्तियों के विचारों को , उनके कर्तृत्व को बड़ा महत्व है, यह निर्विवाद है। फिर भी केवल उनकी इच्छा से इतिहास नहीं बनता । महान व्यक्ति के विचार ये समाज विकास के वस्तुनिष्ठ नियमों से ही तैयार होते हैं और समाज उन विचारों को ग्रहण करने की स्थिति में पहुँचता है तभी मन्वन्तर होता है।

महाभारत-

महाभारत के आदिपर्व में ही यह स्पष्ट जानकारी मिलती है -

A) आरंभ में इस इतिहास का नाम जय था और इसमें ८८०० श्लोक थे।

B) दूसरी अवस्था: नाम 'भारत' श्लोक २४०००। (रचना ईसा के पूर्व)

C) तीसरी अवस्था: नाम महाभारत , श्लोक १०००००। यह ईसा की पांचवीं सदी में अस्तित्व में आ गया था। लेकिन इसका समय ईसा की चवथी सदी से पूर्वका नहीं माना जा सकता।

सिंधु सभ्यता कांस युग की सभ्यता है । इस सभ्यता के किसी भी स्थल से लोहे का एक भी औजार नहीं मिला। इसके कुछ अवजार ताम्बे और कांसे के हैं। लेकिन पत्थरों के औजारों का चलन भी बड़े पैमाने पर था।

दुनिया में कहीं भी ईसा पूर्व १४०० और भारत में ईसा पूर्व १००० से पहले का लोहे का एक भी औजार नहीं मिला है। जो मिले वे ताम्बे के हैं। (मिश्र में तूतनखामेन के मकबरे में मिली वस्तुओं में लोहे से बनी कुछ चीजें मिली हैं । इनका जब गहराई से परिक्षण किया गया तो पाया गया कि इनमें ६ से १३ % निकल है । जबकि धरती पर पाए जानेवाले लोहे में निकल की मात्रा ५% से अधिक नहीं होती । अतः यह अनुमान लगाया गया कि ये वस्तुएं उल्कापिंड से प्राप्त लोहे की होनी चाहिए चूँकि इतनी अधिक मात्रा में निकल इन्हींमें पाया जाता है -लो .स .१०-३-२०१९)

ऋग्वेद का 'अयस' शब्द निश्चित ही लोहे का द्योतक नहीं है। लोहे के लिए बाद में 'कृष्ण अयस' शब्द गढ़ा गया। तो महाभारत में किस धातु के शस्त्रों का उपयोग हुआ? भारत में लोहे के औजार तभी बनने शुरू हुए जब आर्य लोग पूर्व की ओर 'राजगृह' तक पहुंचे जहाँ अच्छा खनिज लोहा उपलब्ध है। इसी कारण मगध के किसानों को उत्पादन के बेहतर साधन उपलब्ध हुए, अतिरिक्त अनाज उपलब्ध हुआ और नगरों की नींव पड़ी। इसी कारण भारत का प्रथम साम्राज्य मगध में स्थापित हुआ और एक स्थायी सेना अस्तित्व में आयी। महाभारत का वर्णन इसके बाद का ही हो सकता है।

देहली का पुराना किला 'पांडव किला' के रूप में जाना जाता है। लेकिन इसकी खुदाई में जो प्राचीनतम अवशेष मिले वे मौर्य काल के हैं।

(गुणाकर मुले -महाभारत कितना ऐतिहासिक, कितना काल्पनिक)

गीता का काल-

डॉ. फुलगेण्डा सिन्हा के अनुसार -

५० से भी अधिक भाषाओं में गीता पर दो हजार से भी अधिक टिकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। (लेकिन ईसा की चौथी सदी तक गीता पर एक भी भाष्य उपलब्ध नहीं है।)

गीता का वास्तविक रचना काल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी है। इसमें १८ सर्गों वाली गीता के सात सौ पद नहीं सिर्फ ८४ पद हैं जो प्रथम तीन सर्गों के कुल १६२ पदों में से हैं। जिसे भगवत गीता कहा जाता है वह असल में आठवीं या नववीं शताब्दी में किसी ब्राह्मण द्वारा रचित होनी चाहिए।

(उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Geeta as it was' में यह बात कही है)

ऋग्वेद का काल-विद्वानों के अनुसार -

ईसा पूर्व १४०० के दरम्यान के मितानी साम्राज्य के एक संधिनामे में वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। इसी दरम्यान के हिटाइटी भाषा के एक ग्रन्थ में कुछ संस्कृत समान शब्दरूप आते हैं। भाषा शास्त्र की दृष्टि से वे वैदिक संस्कृत से अधिक प्राचीन हैं। इस आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ईसा पूर्व १४०० से अधिक पुराना न होने का अनुमान लगाया गया है।

रामायण का काल- विद्वानों के अनुसार -रामकथा विकसन की प्रक्रिया ईसा पूर्व सातवीं से लेकर तो चौथी सदी दरम्यान जारी रहनी चाहिए। वाल्मीकि रामायण यह रामकथा के विकसन प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। लेकिन इसका समय भी ईसा पूर्व पहली सदी के पूर्व का नहीं माना जा सकता।

सृष्टि उत्पत्ति का वैदिक सिद्धांत

प्रकृति

चेतन की इच्छा का प्रभाव सीधे तौर पर जड़ प्रकृति पर नहीं पड़ता । अतः जड़ प्रकृति की उत्पत्ति भी एकदम ही विपरीत स्वभाववाले ईश्वर से नहीं हो सकती । इसीलिए प्रकृति को आदि माना गया है। (इसके कई कारण आध्यात्मिक साहित्य में मिलेंगे । उनका उल्लेख यहाँ टालना ही उचित होगा)

केवल प्राकृतिक शक्तियाँ ही सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकती , चूँकि उसका हर परमाणु समान है-तो उनमें संयोग-वियोग कैसा होगा ? जब जड़ पदार्थों में स्वयं सञ्चालन (**self direction**) तथा सम्प्रयोग (**coordination**) की शक्ति है ही नहीं तो विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार अरबों वर्षों तक जड़ परमाणुओं का इस तरह का सञ्चालन कि अंततोगत्वा जीवित प्राणियों का विकास हो सके, प्रकृति में असंभव है।

जीवात्मा

जीवात्मा के अस्तित्व का प्रमाण है 'मैं' की अनुभूति और जीव को होनेवाली सुख - दुःख की अनुभूति। क्या यह किसी रासायनिक परिवर्तन से सम्भव है?

ईश्वर

जड़ पदार्थों को संचालित करनेवाली , उनमें गति पैदा करनेवाली कोई शक्ति रहे बिना दुनिया के व्यापार चल ही नहीं सकते।

सृष्टि उत्पत्ति

ऊपर हमने कहा है कि प्रकृति से अपने आप सृष्टि उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सृष्टि को जीव नहीं बना सकते चूँकि वे अल्पज्ञ और अणुरूप हैं।

न इसे सर्वव्यापी ईश्वर गति दे सकता है । प्रकृति परमाणुओं को तो ईश्वर समान रूप से नित्य ही प्राप्त है । इसलिए नित्य एक प्रकार की गति हो सकती है । दो प्रकार की परस्पर विरोधी गति नहीं हो सकती। अर्थात् या तो सृष्टि बन ही जाएगी या बिगड़ जाएगी।

ऊपर कहे अनुसार चेतन ईश्वर की इच्छा का प्रभाव जड़ प्रकृति पर नहीं पड़ सकता । इस कारण वह भी सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकता।

फिर सृष्टि उत्पन्न हुई कैसी?

तीनों पदार्थों में एक भी ऐसा नहीं है कि जो अकेला सृष्टि की रचना कर सके। किन्तु तीनों पदार्थों के एक विशेष प्रकार के क्रम की कल्पना करने से प्रतीत होता है कि इन्हीं तीनों की संयुक्त सहयोग शक्ति से सृष्टि उत्पत्ति का आरम्भ हो सकता है। क्योंकि सृष्टि उत्पत्ति के लिए ईश्वर जैसा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, परिपूर्ण तत्त्व विद्यमान है ही। परमात्मा की इच्छाशक्ति से प्रभावित होनेवाली असंख्य चेतनशक्तियाँ भी जीव रूप में उसीमें पिरोई हुई हैं और उन शक्तियों के आघात-प्रतिघात से गति करनेवाले प्रकृति-परमाणु भी उपस्थित ही हैं। ऐसी दशा में सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले सामान को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं। प्रत्युत तीनों के एक विशिष्ट क्रम से ही काम चल सकता है।

आरंभ में ईश्वर ने जीवों में प्रेरणा उत्पन्न करके उनके मार्फत सारी प्रकृति में हलचल पैदा कर दी। ईश्वर ने पहले अपनी इच्छा शक्ति से चेतन जीवों को उद्बोधित किया और जीवों ने (मन ने) अपनी हलचल से समस्त प्रकृति के परमाणुओं में हलचल उत्पन्न कर दी। परिपूर्ण परमात्मा की इच्छाशक्ति का प्रभाव चेतन जीवों पर पड़ सकता है। जीवों की गति का परमाणुओं पर जैसे अपने मन का अपने भौतिक शरीर पर पड़ता है।

इस गति से प्रकृति के पांचों कर्म उत्पन्न होते हैं। पांचों कर्म भौतिक तत्वों के हैं। अग्नि का गुण ऊपर जाना, जल का नीचे जाना आदि। दोनों शक्तियाँ टकरा जाती हैं। इन दोनों विरुद्ध शक्तियों के टकरा जाने से एक विशाल ठेलपेल आरम्भ हो जाती है। परिणामतः सारा परमाणु संग्रह चक्राकार गति में घूम जाता है। इसी चक्राकार गति में घूमनेवाले आदिम प्रकृति पूंज को वेद में 'हिरण्यगर्भ' और लोक में 'ब्रह्मा' कहा गया है। (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे : ऋग्वेद) - अर्थात् सबसे पहले हिरण्यगर्भ नाम का महान चमकिला और बहुत बड़ा गोला उत्पन्न हुआ। उस गोले में सर्वलोक पितामह - ब्रह्मा उत्पन्न हुए। यही वर्तमान सृष्टि का मूल और बीज हैं। ब्रह्मा से विराट पुरुष अर्थात् सौर जगत और अंत में पृथ्वी उत्पन्न हुई। (अन्य भौतिक तत्वों के गुण हैं-पृथ्वी - आकर्षित करती है, हवा फैलती है और आकाश गमनागमन के लिए स्थान देता है।)

सृष्टि उत्पत्ति का कारण

सृष्टि उत्पत्ति का प्रधान कारण, जीवों के कर्म और ईश्वर का न्याय ही हैं। जीव अनंत काल से कर्म करते हुए चले आ रहे हैं और ईश्वर भी अनादि काल से उन्हें कर्मफल देता हुआ चला आ रहा है। इसीलिए प्रत्येक प्रलय के बाद नवीन सृष्टि होती है। जब सूर्य, चंद्र, पृथ्वी आदि की रचना हो जाती है तब पृथ्वी के अनुकूल हो जाने पर ईश्वर जीवों के शेष कर्मों के अनुसार उनको नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न करता है।

कर्मों के तीन वर्ग - १) सात्विक आचार , २) राजस आचार (अनाचार), ३) तामस आचार (अत्याचार)।

इसीके अनुसार तीन प्रकार के शरीर बनते हैं -

- १) ज्ञानयुक्त - मनुष्य शरीर -कर्म करने में स्वतंत्र।
- २) अज्ञानयुक्त -पशु शरीर -लेकिन कर्म करने में स्वतंत्र।
- ३) ज्ञान और कर्महीन अंधकारमय -वृक्ष शरीर।

जब पशुओं के भोग्य वृक्ष पहले उत्पन्न हो जाते हैं तब पशुओं की उत्पत्ति होती है और जब मनुष्यों के भोग्य वृक्ष और पशु उत्पन्न हो जाते हैं तब दोनों का उपभोग करनेवाला मनुष्य उत्पन्न होता है। सत्वगुणी मनुष्य खड़े शरीरवाला , रजोगुणी पशु आड़े शरीरवाला और तमोगुणी वृक्ष उलटे शरीरवाला।

अगर डार्विन के सिद्धांत के अनुसार माने तो मनुष्य एक कठपुतली बन कर रह जाएगा । लेकिन हम देखते हैं कि मनुष्य निर्णय लेने में और कर्म करने में स्वतंत्र हैं । कोई भी गतिविधि बिना उद्देश्य नहीं हो सकती। अतः इन सारी गतिविधियों का उद्देश्य हैं स्वतंत्र जीव को कर्मानुसार फल देना। इसलिए वह कर्म करने तक स्वतंत्र और फल पाने में परतंत्र हैं । जीव एक सीमा तक स्वतंत्र और एक सीमा तक परतंत्र हैं। विकासवाद के अनुसार तो वह जड़ प्रकृति का जड़ परिणाम हैं। अतः उसमें स्वतंत्रता की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए जीव की स्वतंत्रता तथा परतंत्रता की सीमा बाँधनेवाला 'कर्मफल का सिद्धांत' ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं।

क्या सृष्टि के छोटे-छोटे कण परमाणु,चेतन और ज्ञानवान हैं?

नहीं। यदि ये ज्ञानवान होते तो नियमों में बंधे हुए नहीं रहते । ज्ञानवान दूसरों के नियम से बंधा हुआ रह ही नहीं सकता। वह अपनी ज्ञान-स्वतंत्रता से निर्धारित नियमों में बाधा पहुंचाता है। (तो क्या मनुष्य जितना अधिक ज्ञानवान होगा उतना अधिक अराजकता का समर्थक होगा?)

ज्ञानवान तत्व जड़ के संयुक्त होने से नहीं बन सकता।

चूँकि प्रत्येक शरीर के अनुभव अलग-अलग हैं, प्रत्येक शरीर में जीवात्मा अलग-अलग है। नियम बिना नियामक के , नियामक बिना ज्ञान के और ज्ञान बिना ज्ञानी के नहीं ठहर सकता । इसे ही ईश्वर कहते हैं।

अतः संसार के तीन कारण स्पष्ट हैं और तीनों अनादि हैं।

सृष्टि का स्वरूप-

सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ नियमपूर्वक परिवर्तनशील है।

परिवर्तन-

परिवर्तन का नियम यह सृष्टि का स्वाभाविक गुण नहीं है। क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। ऐसा कहना कि परिवर्तन ही सृष्टि का स्वभाव है, गलत है। परिवर्तन का अर्थ है अस्थिरता। लेकिन स्वभाव में अस्थिरता नहीं होती । परिवर्तन अस्थिर गुण है-जो नैमित्तिक है-स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक गुण का अर्थ है -नित्य सम्बन्ध।

जितने भी तत्त्व स्वयंसिद्ध , कारणरूप और स्वयंभू होते हैं उन्हींके गुण-कर्म-स्वभाव भी निश्चित होते हैं और उन्हीं गुणों से जो कार्य बनते हैं वे नियमपूर्वक चलते हैं।

विशाल सृष्टि में जो कुछ हो रहा है वह नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है।

ईश्वर इस सृष्टि का नियमन ही इसलिए करता है कि सृष्टि नियमों की रक्षा हो । चूँकि तीनों अनादि कारणों में से प्रकृति और जीव इस अनंत सृष्टि का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए , इसे नियम में नहीं रख सकते क्योंकि दोनों अणु, परिच्छिन्न और एकदेशी हैं।

सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि: अनादि काल से यह चक्र चला आ रहा है। इसका आदि और अंत नहीं। जब सृष्टि का समय आता है तब उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म-प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है , उसका नाम 'महत्तत्त्व' है। जो इससे कुछ स्थूल होता है , उसका नाम अहंकार, अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच सूक्ष्म भूत, क्षोत्र , त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय ;हस्त, पाद, वाक, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवां-मन उत्पन्न होता है । उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूलवस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत , जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियां, वृक्ष आदि। उनसे अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर बनते हैं।

सृष्टि उत्पत्ति का समय

१,९७,२९,४०,०३० वर्ष पूर्व

मानव उत्पत्ति

१२,०५,३३,०३० --"-----

वेद लाखों वर्ष पुराने,

युगों का प्रारम्भ ग्रहों के तारतम्य से होता है । वैदिक विद्वानों के अनुसार कल्प का प्रारम्भ सूर्यादि समस्त ग्रह, सात ग्रहों की युति से होता है - वे एक सीध में होते हैं।

ज्योतिषी ग्रंथों के लिखने का समय २१,६५,००० वर्ष

रामचन्द्रजी को हुए १२,६९,००० वर्ष

ब्राह्मण ग्रंथों की उपलब्धता २२,००० वर्ष (वैदिक संपत्ति पृ १२४)

वैदिक सिद्धांत के अनुसार संसार के अन्य मनुष्य (आर्येतर) ईश्वरपुत्र इसलिए नहीं हैं कि वे ईश्वर की अमैथुनी सृष्टि द्वारा उत्पन्न नहीं हुए। वे आर्यों की पतीत शाखाओं से उत्पन्न हुए हैं। अमैथुनी सृष्टि द्वारा उत्पन्न तो केवल आर्य हैं इसलिए वे आर्यपुत्र कहलाते हैं । मनुष्य की उत्पत्ति, विकास का परिणाम नहीं है। मूल पुरुष कपितुल्य नहीं थे तो अत्यंत सभ्य , ज्ञानी और रूपवान आर्य थे।

आदि सृष्टि हिमालय पर ही हुई।

हिमालय की ऊंचाई ही इसके पुरातन होने की दलील है। हिमालय सबसे विशाल और उच्च है। इसलिए इसको बनानेवाली शक्ति भी समस्त प्रपात शक्तियों से प्रबल थी । इतनी बड़ी महाशक्ति संचित रूप से तभी मिल सकती है जब वह सर्वथा अक्षुण्ण रही हो और यह तो निर्विवाद है कि ऐसी शक्ति सृष्टि के आदि में ही हो सकती है। इससे यह अनुमान सरल हो जाता है कि पृथ्वी का सर्वोच्च हिमालय पर्वत ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ (वैदिक संस्कृति पृ २२६)

आदि मनुष्य ज्ञान और भाषा के साथ ही पैदा हुआ। भाषा ईश्वर प्रदत्त है, क्रमिक विकास का फल नहीं। (पृ २४४)

मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई या पृथ्वी की?

पृथ्वी आदि की। क्योंकि उसके बिना मनुष्य की स्थिति और पालन संभव नहीं था।

क्या सृष्टि के आदि में एक मनुष्य पैदा हुआ या अनेक?

अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे , उनका जन्म सृष्टि के आदि में ईश्वर देता है। (पृ १८४)

आदि सृष्टि में मनुष्य बाल्य, युवा या वृद्धावस्था में उत्पन्न हुए अथवा तीनों में?

युवावस्था में। क्योंकि बालक उत्पन्न होता तो उसके पालन हेतु अन्य मनुष्य आवश्यक होते। वृद्धावस्था में बनता तो मैथुनी सृष्टि नहीं होती। (पृ १८४)

आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती। क्योंकि जब स्त-पुरुषों के शरीर बनाकर , ईश्वर उनमें जीवों का संयोग करा देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चल पड़ती है।

अन्य दर्शनों में-

बौद्ध दर्शन के अनुसार 'प्रतीत्य समुत्पाद' ऐसा सिद्धांत है इसका सीधा अर्थ है, प्रत्येक उत्पत्ति के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है। साधारणतः इसे 'कारणता का सिद्धांत' कहा जाता है। संक्षेप में यही उनकी सृष्टि उत्पत्ति का सिद्धांत है।

जैन दर्शन: प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे ही गतिमय है | सृष्टि स्वचालित है | अतः इसकी रचना के लिए किसी स्रष्टा की आवश्यकता नहीं।

न्याय-वैशेषिक: भिन्न-भिन्न परमाणुओं से मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

सांख्य: प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है।

शंकराचार्य: ब्रह्म अपने 'अज्ञान' से (जिसे अविद्या या माया शक्ति भी कहा जाता है) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करता है।

आदिम से लेकर तो प्राचीन सभ्यताओं तक सृष्टि और मानव उत्पत्ति समबन्धित कहानियां उनके तथाकथित धार्मिक साहित्य में मिलती हैं। लेकिन उनमें लगभग सभी, मिथकों से अधिक कुछ नहीं है।

कुछ प्रश्न ?

1) वैदिक सिद्धांत (सृष्टि उत्पत्ति) के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति हिमालय में हुई। हिमालय यह सब से पुरातन स्थल है।

आज यह सर्वमान्य हो चुका है कि पृथ्वी पर पर्वत शृंखलाओं की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिमालय शृंखला यह सबसे अर्वाचीन है। आज भी उसकी ऊंचाई प्रति वर्ष ५ से. मी की दर से बढ़ रही है। हिमालय की उत्पत्ति सात करोड़ साल पहले हुई ऐसा माना जाता है | जबकि प्रत्यक्ष विंध्याचल उससे पुराना माना जाता है। (लगभग इक्किस करोड़ वर्ष)।

वैज्ञानिक संस्थापना के आधार होते हैं, मिले हुए भौतिक सबूत। उपरोक्त गणना का आधार क्या है?

2) स्वभाव का अर्थ है अपरिवर्तनीय। अतः सृष्टि में परिवर्तन यह स्वाभाविक नहीं है।

विज्ञान का आधार ही है परिवर्तित होती प्रकृति। अगर यह आधार ही अमान्य किया गया तो विज्ञान एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाएगा | तो क्या अबतक विज्ञान ने एकत्र किया ज्ञान आभासी है। उसने मनुष्य का जीवन सहनीय बनाया वह भी असत्य है ?

सारे अध्यात्म का आधार ही इस परिवर्तनशील जगत में स्थायित्व की खोज है। वह इस विचार को छोड़ नहीं सकता। तो ये दो विचार प्रवाह हमेशा समान्तर ही रहेंगे। उनमें संगलन कैसा संभव है ?

3) अगर आदि मानव ज्ञान और भाषा के साथ ही पैदा हुआ , भाषा ईश्वर प्रदत्त है, क्रमिक विकास का फल नहीं, तो फिर ईश्वर ने उसके साथ ही आदि लिपि क्यों नहीं दी? हजारों वर्षों तक वेद कंठस्थ करते रहने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी ?

4) इस सिद्धांत में एक स्तर पर कहा गया है कि सर्वज्ञ ईश्वर तो जड़ प्रकृति पर सीधा प्रभाव नहीं डाल सकता इसलिए वह मध्यस्थ के रूप में जीवात्मा को लेता है । अल्पज्ञ जीवात्मा मात्र प्रकृति पर प्रभाव डाल सकता है। यह विरोधाभासी मामला क्या है ?

5) सर्वव्यापी ईश्वर प्रकृति को गति नहीं दे सकता। प्रकृति परमाणुओं को तो ईश्वर, समान रूप से नित्य ही प्राप्त है इसलिए नित्य एक प्रकार की गति हो सकती है , दो प्रकार की परस्पर विरोधी नहीं हो सकती।

6) सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में पांचों कर्म -भौतिक तत्व -हिरण्यगर्भ -विराट पुरुष -सौर जगत -पृथ्वी आदि -आदि।

क्या ऊपर यह स्वीकार नहीं किया गया है कि परिवर्तन-विकास के लिए दो परस्पर विरोधी गतियां आवश्यक हैं, अर्थात् द्वंद्वात्मक शक्तियां। बाद में जो कहा गया है वह स्तरात्मक विकास नहीं है? फिर आपका आधुनिक द्वंद्ववाद की द्वंद्वात्मकता जो विकास की प्रेरक शक्ति बताई गई है , और विकासवाद को इतना मुलात्मक विरोध क्यों है?

7) अमैथुनिक सृष्टि द्वारा उत्पन्न केवल आर्य हैं। इसलिए केवल वे ही आर्यपुत्र हैं। आर्येतर , ईश्वर की अमैथुनिक सृष्टि द्वारा उत्पन्न नहीं हुए । इस कारण वे ईश्वरपुत्र नहीं हैं । वे आर्यों की पतित शाखाओं से हुए हैं । क्या यहाँ आर्योत्तरों को दुय्यम स्तर के मनुष्यों का दर्जा नहीं दिया गया है ?

8) इस सृष्टि उत्पत्ति सिद्धांत में यह गृहीत है कि जड़ प्रकृति के अस्तित्व और उसकी गतिविधियों के लिए उससे बाहर किसी चेतन तत्व का अस्तित्व (चाहे वह ईश्वर हो या आत्मा) अत्यावश्यक है।

विज्ञान में भी कुछ गृहीते मान ली जाती हैं और उनके आधार पर आगे बढ़ते हुए वैज्ञानिक सिद्धांत स्थापित हो जाते हैं। लेकिन इसी प्रक्रिया में जो गृहीते मान ली गयी थीं उनकी वस्तुनिष्ठ सत्यता भी स्थापित हो जाती है । लेकिन आध्यात्मिकता में उस प्रक्रिया के समान, ईश्वर और आत्मा का अस्तित्व अपने आप सिद्ध क्यों नहीं हुआ ?

9) अध्यात्म का दावा है कि जड़ भौतिक से चेतना या जीवन उत्पन्न हो ही नहीं सकता । दोनों एकदूसरे से पूरी तरह भिन्न तत्व हैं।

दक्षिण अमेरिका के चिली और पेरू देशों में 'एताकामा' नामक रेगिस्तान है। उसे पृथ्वी पर, पोलरेतर प्रदेशों में सबसे सुखी जगह माना जाता है । वहां दशकों में कभी तो हलकी-फुलकी वर्षा होती है। वहां का पर्यावरण मंगल ग्रह समान होने की बात मानी गई है । बर्लिन टेक्निकल यूनिवर्सिटी की वैज्ञानिकों की टीम ने २०१५-२०१७ के बीच वहां के पर्यावरण तथा वहां जीवन की संभावना विषयक अनुसन्धान किया। दल के नेता डीर्क-सुल्ज़-मकुच के अनुसार , उनका वहां ऐसे बक्टेरिया से सामना हुआ जो सैकड़ों ही नहीं तो हजारों वर्षों तक सुसावस्ता (**dormant**) अर्थात् निर्जीवस्था में पड़े रह सकते हैं। लेकिन मामूली वर्षा के संपर्क में आते ही उनमें जीवन प्रस्फुटित

होता है। (गल्फ न्यूज़ १ मार्च २०१८)। अर्थात् अन्य शब्दों में यह निर्जीव तत्व में उचित परिस्थिति प्राप्त होते ही सीधे जीवन प्रस्फुटित होने का मामला है।

१०) अगर वेद लाखों वर्ष पुराने हैं और मानव उत्पत्ति १२ करोड़ वर्ष पहले हुई है और वह भी ज्ञान के साथ तो फिर कुछ हजार साल पुराने पत्थरों के हथियार और उपकरण और उनमें भी क्रमिक सुधार होने के जो प्रत्यक्ष सबूत मिलते हैं, उनका क्या अर्थ है? करोड़ों साल पूर्व, ज्ञान के साथ उत्पन्न हुए मानव को ऐसे हथियार और उपकरण बनाने की क्या आवश्यकता पड़ी ?

बुद्ध

बुद्ध के समय समाज बड़ी उथल-पुथल की स्थिति से गुजर रहा था । जनजातियों की परिषदें, व्यवस्था चला रही थीं। इन्हीं में से राज्यसत्ताओं का उदय हुआ था। कुछ क्षेत्र में राजाओं का शासन था। लेकिन इसकी चारों ओर अभी भी बड़े क्षेत्र में जनजातियां या गणों का शासन था। ये जनजातियां भी विकास के विभिन्न स्तरों पर थीं । राजा लोग अपने राज्य विस्तार के लिए जनजातियों का बड़े पैमाने पर संहार कर रहे थे।

जनजातीय प्रशासन

जनजाति की प्रथम इकाई है कबीला । कई कबीलों से मिलकर एक जनजाति बनती है । जनजातियों में समाज व्यवस्था का या कहीं प्रशासन का सञ्चालन , सभी स्तरों पर, जनजातीय परिषदें करती हैं। प्रत्येक परिषद् को चुना जाता है। सभी सामाजिक निर्णय सार्वजनिक सभागृह में आयोजित होनेवाली सभा में लिए जाते थे। सभा में सभी छोटे-बड़े उपस्थित होते थे। अगर परिषद् में चुने गए व्यक्ति का व्यवहार ठीक नहीं रहा तो उसे हटा भी दिया जाता था । इन समाजों में हम जिसे 'शासन संस्था' कहते हैं ऐसी संस्था का निर्माण नहीं हुआ था।

जब कि सामंती अधिकार पैतृक होता है।

'ऋग्वेद' में युद्ध नायक या सेनानी के लिए सबसे सामान्य शब्द था राजा , लेकिन ऋग्वेद काल के राजा भी जनजातीय समाज के सरदारों की भांति साधारण लोगों द्वारा ही चुने जाते थे। लोगों द्वारा राजा के निर्वाचित होने की बात का स्पष्ट सन्दर्भ अथर्ववेद में मिलता है।

वंशानुगत राजा और जनजातीय संरचना परस्पर विरोधी हैं।

ऋग्वेद में मिले उल्लेख के अनुसार बहुत से राजा समिति में एकत्र हो गए , यह बात भी पैतृक राजसत्तावली बात को गलत सिद्ध करती है । लेकिन जनजातीय संगठनों के विलय के साथ ही यह परंपरा बन गई कि सरदार का चुनाव उसी परिवार से किया जाने लगा , जिस परिवार से पहले सरदार था। यही प्रथा आगे पैतृक उत्तराधिकार में बदल गई।

ईसा पूर्व छठीं सदी में मगध और कौशल जनपद , दो प्रतिद्वंदी राज्यों के रूप में विकसित हुए थे, वे जनजातीय संगठनों से ही। इनके चारों ओर भी जनजातीय जनपदें थीं।

एक मोरीय जनजाति थी । ऐसा अनुमान है कि इस नाम का सम्बन्ध मोर से है जो जनजाति के टोटमवादी उद्गम की ओर संकेत करता है । इसमें से, प्रारम्भिक शक्तिशाली राज्यों में

सबसे बड़ा मौर्य राज्य बना। ऐसा बताया जाता है, इन्होंने जिस नगर की स्थापना की उसमें घर, मोर की गर्दन की तरह नीले होते थे।

ऐसा कहा जाता है कि मौर्य मुलतः शाक्य जनजाति का एक कबीला था । शाक्य यह विकास के उच्च स्तर पर पहुंची एक जनजाति थी और गौतम बुद्ध इसी शाक्य जनजाति से थे । भले ही गौतम को शाक्य राज्य का युवराज कहा जाता हो लेकिन उस जनजाति में वास्तविक पैतृक राजवंश की कोई प्रथा नहीं थी । उनकी गणतांत्रिक सरकार थी और समय-समय पर नेता का चुनाव होता था।

राजा लोग अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए लोकतंत्र जैसी खतरनाक प्रथा को शुरू करने नहीं दे सकते थे । अतः भले ही मगध और कौशल एकदूसरे के प्रतिस्पर्धी रहे हों लेकिन जनजातियों का निर्दालन करने में एकदूसरे के सहयोगी थे । जनजातियों के हिंसात्मक विनाश के लिए बुद्ध ने अपने ही लोगों का, स्त्रियों, बच्चों का संहार होते देखा।

उधर राजाओं की स्थिति क्या थी ? बुद्ध के मित्र थे पसेनदि । उनका पुत्र विदुओभ, पिता के साथ चल-कपट करके कौशल का राजा बना । पसेनदि, बुद्ध के समय का महान राजा था । बुद्ध के अन्य मित्र राजा बिंबसार को उसीके पुत्र अजातसत्तु ने बंदी बनाया और कारागृह में भूखों मार दिया। अजातसत्तु को उसके पुत्र उदयभद्र ने मारा तो उदयभद्र को उसके पुत्र अनुरुद्धक ने । पुत्रों द्वारा हत्याओं की कड़ियाँ ऐसी ही आगे बढ़ती गईं । अनुरुद्धक को उसके पुत्र मुंड ने , तो मुंड को उसके अपने पुत्र नागदशक ने। नागदशक को फिर जनता ने ही हटा दिया और मंत्री सुसुनाग का राज्याभिषेक किया। उसने अठारह वर्ष राज्य किया । फिर उसका पुत्र 'कालाशोक' या काला अशोक राजा बना।

कौटिल्य ने कहा है कि राजा और युवराज के बीच इस प्रकार का तनाव निश्चित रूप से होता है। यह भी बताया गया है कि दोनों ने एकदूसरे के प्रति किस तरह सावधान रहना चाहिए।

बुद्ध ने देखा , यह सब अमर्याद लिप्सा के कारण हो रहा है । अतः बुद्ध की शांति की इच्छा करना स्वाभाविक था। गौतम को शाक्यभूमि के बाहर, गया में ज्ञानप्राप्ति हुई। उन्होंने प्रथम प्रवचन बनारस में दिया । उन्होंने मगध और कौशल में अगले पैंतालीस वर्षों तक पर्यटन किया और अपने उपदेशों का प्रचार किया। गणों के प्रदेश में उनकी यात्राएं कम ही हुईं । मल्ल लोगों के देश कुशीनारा में उन्होंने अपने अंतिम दिन बिताए।

बुद्ध के निर्वाण के बाद सौ-डेढ़ सौ वर्षों में इस देश की अर्थात् उत्तर भारत की जनपदें समाप्त हुईं। उसके स्थान पर भारत के इतिहास के सर्वप्रथम विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई । ब्राह्मण चाणक्य और राजन्य चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा पाटलिपुत्र में मगध साम्राज्य की स्थापना की गई।

वज्जि परिसंघ में लिच्छिवि जन अत्यंत प्रमुख जाती के थे । अजातसत्तु ने लिछवियों पर आक्रमण कर दिया। भयंकर युद्ध हुआ। वज्जिय उस समय, जीवित, स्वतंत्र जनजातियों में अंतिम प्रमुख जाती थी। वज्जिजनों के विनाश के साथ ही आद्य जनजातीय परंपरा का अंत हुआ।

उधर व्यापार और युद्ध से जनसामान्य का जीवन अत्यंत दयनीय हो गया था । सम्पत्ति बटोरने की लालसा की कोई सीमा नहीं थी । यह सारी स्थिति भौतिक संसार में हो रही उथल-पुथल के कारण थी और सामाजिक शोषण पर नियंत्रण रखने की कोई व्यवस्था नहीं थी।

बुद्ध और उनके समकालीन चिंतक-

जैसा की ऊपर बताया गया है ईसा पूर्व पांचवीं और छठीं शताब्दी में , असंतोष की लहर सारी गंगा घाटी में व्याप्त थी । बुद्ध की भांति ही ब्राह्मण धर्म प्रणाली से असंतुष्ट ऐसे बुद्ध के समकालीन छह उपदेशक माने जाते हैं । महावीर को छोड़कर बुद्ध के समय के अन्य ऋषि और चिंतक यथोचित चिंतन प्रस्तुत करने में विफल रहें । इसका कारण था , उस संक्रमण काल में परिवर्तन के जो वास्तविक कारण थे, उन्हें वे नहीं समझ पाएं। वे उस समय की स्थिति में सुधार तो चाहते थे। या कहिए कि स्थिति की व्यवस्थित व्याख्या होने का समय अभी नहीं आया था । इस कारण उनके विचार भौतिकवाद की ओर झुके हुए दिखते हैं लेकिन उनमें स्पष्टता नहीं मिलती। विचारों का स्वरूप निराशामय ही रहा।

मक्खलि गोसाल :इन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो संसार का सञ्चालन कोई बहुत बड़ी , प्रचंड, अथाह और अज्ञात शक्ति कर रही है , जिसे हम नहीं जानते । यह शक्ति है भाग्य । यही उसका नियति दर्शन था । आजीवक दर्शन का सार था भाग्य । गोसाल के अनुसार स्वतंत्र इच्छाशक्ति की बात करना साधारण अज्ञानी लोगों की भूल है । यह व्यक्ति अति संवेदनशील कवि, घुमन्तु भाट था। वह अपने अंतिम दिनों में अपना मानसिक संतुलन खो बैठा और पागलपन की स्थिति में उसकी मृत्यु हुई।

पूरन कस्सपःअकर्मण्यता का दर्शन- अच्छे-बुरे कर्मों का, कर्म करनेवालेपर कोई दोष नहीं आता।

अजित केशकंबलि : अच्छे-बुरे कर्मों का कोई परिणाम या फल नहीं होता । मृत्यु के बाद कुछ नहीं बचता। इहलोक-परलोक जैसी कोई बात नहीं है। मनुष्य चार तत्वों से बना है।

कच्चायन पकुधः सात बातें अपरिवर्तनीय हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सुख-दुःख और जीव।

संजय वेलट्ठिपुत्त :में यह नहीं कहता कि अमुक है और यह भी नहीं कहता कि अमुक नहीं है।

अक्रियावाद-अहेतूवाद: मानव प्रयासों की व्यर्थता की विचारधारा। बौद्ध और जैन ग्रंथों में इसे चलानेवाले का नाम पूरण दिया है। इस वाद के अनुसार किसी भी घटना की व्याख्या किसी तर्कसंगत कारण से नहीं की जा सकती और मानव प्रयास बेकार हैं।

पूरण, पकुध, अजित, संजय के समय के विषय में सम्भ्रम है। पकुध, अजित, संजय के व्यक्तिगत जीवन के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते। सिर्फ इतना पता चलता है कि ये लोग परिस्थिति के लिए कितने बौद्धिक पीड़ाग्रस्त थे। उस समय कितनी तो विचारधाराएं रही होगी। उनमें कुछ तार्किक थीं तो कुछ उटपटांग मालूम होती हैं। लेकिन उनका प्रयत्न वास्तवता को समझने का था।

छठा चिंतक था निगंठ नाथपुत्त (महावीर)। लेकिन इनकी उपलब्धि बुद्ध की तुलना में बहुत सीमित है।

बुद्ध

बुद्ध को एक समाज सुधारक माना जाता है। उन्होंने जातपात, कर्मकांड आदि के बंधनों को तोड़ा और वंचितों को अपने धर्मसंघ में स्थान दिया। उन्होंने लोगों से कहा कि वे उनके धर्मसंघ में शामिल हों और बड़ी संख्या में लोग आकृष्ट भी हुए। इन संघों में जनजातिवाली लोकतंत्र प्रणाली थी। बुद्ध अपने समय के गणों की इस प्रणाली को आदर्श मानते थे। बुद्ध ने अपने धार्मिक सम्प्रदाय के लिए 'संघ' शब्द का चयन किया। इसका अर्थ था जनजातीय समाज। अपने समकालीन चिंतकों और धार्मिक नेताओं में से केवल वे ही अपने समय के वंचित लोगों को स्वतंत्रता, समता और बंधुता का धर्म उपलब्ध करा सके। उस समय सामान्य जनों के लिए इन मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं था लेकिन इसके लिए भी कुछ अपवाद छोड़े गए।

विनय पिटक में स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी गई कि किसी भी भागे हुए दास को संघ में शरण न दी जाए। "हे भिक्षुओं! किसी भी दास को पबबज्जा नहीं मिलनी चाहिए"। वास्तव में मुक्ति की सबसे अधिक आवश्यकता इन्हें ही थी। यही नीति कर्जदार और राजसेवा में रत व्यक्ति के लिए भी थी।

बुद्ध के अनुयायियों में गणों के अधिपतियों से ज्यादा बड़े-बड़े व्यापारी, राजघराने और सरमायदार थे। अर्थात् इस सारे समृद्ध समाज ने अपने पांव पर कुल्हाड़ी मारकर तो बौद्ध धर्म को बड़ा सम्बल प्रदान नहीं किया होगा। वे इतने तो आश्चर्यचकित होंगे ही कि इस विचारधारा से उनके

अस्तित्व को कोई खतरा नहीं। अर्थात् इस धर्म ने उस सरंजामी समाज के मूलभूत खामियों पर चोट करने की कोशिश नहीं की। शासनसंस्था को एक राजधर्म की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति बौद्धधर्म ने की। वह दुनिया का प्रथम धर्मपीठ बना। वास्तव में वैदिक धर्म और बौद्धमत इनके बीच का संघर्ष यह ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के बीच का संघर्ष था। दोनों भी वर्ग शोषक वर्ग ही थे। बुद्ध के साथियों में उस समय के कुलीन और संपन्न परिवारों से बहुत सारे लोग थे। बौद्ध धर्म ने मगध साम्राज्य और मगध के व्यापार विस्तार में बड़ी सहायता भी की।

बुद्ध ने भिक्षुओं को यही निर्देश दिया था कि वे सांसारिक विषयों में न पड़े।

वे संघ के अंदर निजी संपत्ति के कड़े विरोधी थे। यह तर्कसंगत था। जिस दुःख से वे बचना चाहते थे उसका मूल तो संपत्ति के लालच में ही था। इसे वे अपने चारों ओर देख रहे थे। वे उस समय पुरे समाज को सुधारने में तो असमर्थ थे। लेकिन संघ के अंदर उनकी सत्ता सर्वोच्च थी।

बौद्ध संघों का संविधान वास्तव में अति लोकतान्त्रिक था। यह जनजातीय लोकतंत्रों का अनुकरण मात्र था। बुद्ध का जन्म इसी प्रणाली में हुआ था। प्रारंभिक जनजातीय समाज न केवल लोकतान्त्रिक था बल्कि साम्यवादी भी था। उसमें व्यक्तिगत संपत्ति जैसी कोई चीज नहीं थी।

समाज विकास के जो चार युग हुए हैं उनमें अगर हमने इतिहास की उलटी दिशा में यात्रा की तो ऐसा दिखेगा कि पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण सहजस्फूर्त प्रक्रिया नहीं थी तो वह पूर्ण चेतना और बोध के साथ हुआ संक्रमण दिखाई देगा। सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण के दरम्यान चेतनापूर्ण आन्दोलनों का परिमाण कम दिखाई देगा। तो आदिम साम्यवाद से प्राचीन समाज तक के विकास में यह चेतना और भी कम दिखाई देगी। यह बात तार्किक दृष्टि से भी ठीक लगती है। चेतनापूर्ण विकास की यात्रा में सर्वप्रथम तो परिस्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है परिणामों के लिए उत्तरदाई वस्तुनिष्ठ नियम और यह सब समाज विकास की लम्बी यात्रा के दरम्यान संभव हुआ। अतः जनजाति समाज से उभरती राज्यसत्ता के परिवर्तन के उस युग में यह अपेक्षा रखना अप्रस्तुत होगा। इस कारण उस युग का, उथलपुथल के वास्तव कारणों के आधार पर विश्लेषण संभव ही नहीं था।

ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी परेशानियां कम करने के लिए, स्थिति में परिवर्तन की इच्छा तो करेगा लेकिन वह परिवर्तन लाना उसके हाथ में नहीं होगा तो वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का माध्यम किन्हीं काल्पनिक संकल्पनाओं को बनाएगा। किसी समय प्रकृति के साथ अन्योन्यक्रिया करते समय जादू-टोने आदि का सहारा लेने के पीछे भी तो यही बात थी। कारण-

परिणाम के बीच वास्तव सम्बन्ध स्थापित न करने की स्थिति में दोनों के बीच भाग्य का सम्बन्ध घोषित करना आदि या मोटे तौर पर सारा अध्यात्म भी तो यही है।

बुद्ध अपने को मध्यम मार्गी कहते हैं। लेकिन उन्होंने स्वीकार की 'विज्ञान' की या विचार मूलभूत होने की कल्पना उन्हें आध्यात्मवादी ही ठहराती है। हम जो कुछ हैं वह अपने विचारों के कारण हैं। हमारा अस्तित्व हमारे विचारों के कारण है। ऐसा कहने का अर्थ तो वही होता है। वैसा भी भौतिकवाद को तो उनका खुला विरोध था ही। उनके लिए चार्वाक के विचारों का अध्ययन भी वर्जित था। बुद्ध धर्म के जो संशोधित ग्रन्थ आज उपलब्ध है, उनमें वास्तविक संशोधन किये जाने का काम बुद्ध के कई शताब्दियों बाद हुआ। आस्तिकता विरोधी विचार प्रारंभिक धार्मिक साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। ये सबसे पहले अथघोष के (ईसा प्रथम सदी) बुद्ध चरित में मिलते हैं। इससे पहले के ग्रंथों में हम देखते हैं कि ईश्वर और परलोक सम्बन्धी प्रश्नों पर बुद्ध ने मौन धारण कर रखा था। विद्वानों के अनुसार इसका कोई कारण समझ में नहीं आता।

दुनिया में सबसे पापपूर्ण और बुरी चीज अगर कोई होगी तो वह जन्म लेना | यह अध्यात्म का केंद्रीय सूत्र है। इसमें से छूटना याने मुक्ति अथवा मोक्ष। जन्म से छूटना याने जीवन से छूटना अर्थात् मृत्यु की अभिलाषा रखना। जन्म लेना या जन्म की इच्छा रखते हुए जन्म लेने से मनुष्य का कोई लेना-देना नहीं और मृत्यु की अभिलाषा रखना यह कोई सामान्य बात नहीं। तो उपरोक्त आध्यात्मिक बात में स्वाभाविक क्या है ?

और इसी सिद्धांत को बुद्ध ने भी मान्य किया | बनारस के अपने विख्यात प्रवचन में उन्होंने चार आर्य सत्य बताएं। उनके अनुसार जन्म दुःख है, वृद्धावस्था दुःख है, रुग्णावस्था दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रिय व्यक्ति के साथ मिलन दुःख है, प्रियजन से बिछोह दुःख है, अभीष्ट की प्राप्ति न होना दुःख है। संक्षेप में इस संसार में ये पांच प्रकार की अनुभूतियाँ दुःख हैं | यह अस्तित्व में आने की तृष्णा है जिसके कारण मनुष्य बार-बार जन्म लेता है। ---इच्छा की दमन से इस तृष्णा का अंत करना ----हे भुक्खुओं दुःख निरोध मार्ग के सम्बन्ध में यही परम सत्य है। यह अष्टसूत्री पुनीत पथ है। सम्यक दृष्टि -----आदि

बुद्ध समझ गए थे कि इस बिकट सामाजिक परिवर्तनों का औचित्य समझना उस युग के महान चिंतकों के समझ के बहार की बात है। यथार्थ से जुड़ने के स्थान पर वास्तव समस्या को एक काल्पनिक या आदर्श समस्या में रूपांतरित कर दो तो उससे सामान्य जन को कुछ तो मानसिक राहत दी जा सकती है। आज जो हो रहा है उसे सम्पूर्णतः रोकना असंभव है। एक ऐसा रूपांतरण जो प्रत्यक्ष जीवन को स्पर्श ही न करे | उस काल की जनसामान्य की दुर्दशा को तत्त्वमीमांसीय दुर्दशा में बदल दिया जाए | एक अनादि, काल्पनिक दुःख की कल्पना की जाए जिसके सामने सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होनेवाला वास्तविक दुःख पूर्णतया तुच्छ हो

जाएगा। इस सार्वभौम दुःख का कारण इस भौतिक जगत में न हो। ऐसे आदर्शीय या सार्वभौमिक दुःख के प्रति सांत्वना भी उसी स्तर पर दी जा सकती है , बिना किसी वस्तुनिष्ठ परिस्थिति में बदल हुए और फिर अपने दर्शन को परिपूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से उन्हें दुःख से मुक्ति का सन्देश तो देना ही होगा और वह मार्ग था बाह्य घटनाओं को आंतरिक दृष्टि से देखा जाए । इस प्रकार बुद्ध ने भौतिक दुःखों को एक शाश्वत दुःख में बदल दिया , शाश्वत दुःख का सार्वभौम सिद्धांत। उन्होंने अपने युग की सबसे बिकट समस्या को पूर्णतया मनोगत स्वरूप में बदल दिया , मनुष्य के तप्त हृदय को शाश्वत शांति दिलाने।

"इस प्रकार प्रारंभिक बौद्ध धर्म उस युग का सबसे परिपूर्ण भ्रम बन गया (लोकायत पृ .३९६)।

"एक विवेकहीन स्थिति के लिए उन्होंने विवेक का सृजन किया" (वही पृ३९४)।

यह वास्तविकता का स्थान ले सकता था। लेकिन दुःख जब स्वयं अस्तित्व से जुड़ा हुआ है तो फिर इससे छुटकारा पाने का मार्ग और कहाँ हो सकता है ? इसी कारण कुछ समय बाद वह भारत से ही लुप्त हो गया। उससे शुरू में समाज सुधार की जो उम्मीदें थीं उसके स्थान पर उसका एक धर्म के रूप में ही अस्तित्व बना रहा। उसका मूल आधार भाववाद ही रहा।

इतिहास के एक ऐसे दौर में जबकि मानव दुःखों के कारणों को बाह्य परिस्थितियों में समझने की सम्भावना नहीं थी और न ही इन दुःखों के किसी वास्तविक समाधान की कोई आशा दिखाई दे रही थी , बुद्ध ने एकमात्र सम्भाव्य समाधान का आश्रय लिया और वह समाधान था मन को पथभ्रष्ट करनेवाली प्रवृत्तियों का दमन करना । लेकिन बाह्य संसार में इसे लागू करना भी इतना आसान नहीं था। बुद्ध द्वारा स्थापित संघों या वर्गरहित बस्तियों में निश्चित ही संभव था।

बुद्ध समझ गए थे कि जगत की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई प्रश्न उठाने और यथार्थ से जूझने के स्थान पर किसी समुचित भ्रम का आश्रय लेने से लोगों के तप्त मन को शांति दिलाना आसान है। उन्होंने कहा कि अपने समकालीन उपदेशों के विपरीत मैं अपने अनुयायियों से यह कहना चाहता हूँ कि वे संसार के आदि और परलोक के विचारों से दूर रहें और केवल अपने आंतरिक स्थितियों में परिवर्तन लाने की विधियों की ओर ध्यान दें । इस मन को भ्रष्ट करनेवाली प्रवृत्तियाँ इसी जीवन में उत्पन्न होती हैं। बुद्ध के उपदेश का सारतत्त्व महाबग्न में इस प्रकार दिया है -

एक तरफ वैदिक कर्मकांड की ज्यादाती तो दूसरी ओर बला के आत्मक्लेश की महावीर ने पैदा की हुई परंपरा इनके बीच से बुद्ध को अपना रास्ता निकालना पड़ा । वास्तव में मानव मुक्ति के इतिहास में सबसे पहला व्यवस्थित प्रयास बुद्ध का ही था । उन्होंने अपने प्रयास की शुरुआत

प्रत्यक्ष-सिद्ध निश्चित अनुभवों को आधार बनाकर की । इसलिए उनको न किसी गूढ़वादी विचारों को ओढ़ने की आवश्यकता पड़ी न किसी चमत्कार की । वे मनुष्य की सर्वज्ञता की कल्पना के विरुद्ध थे। उन्होंने अपने जीवन में ईश्वरी साक्षात्कार का आभास भी पैदा नहीं किया और सर्वोच्च महत्व बुद्धि को ही दिया। बुद्ध ने स्वयं बुद्ध वचन के विषय में भी यही कहा कि, 'तुम मेरे वचनों को अपने अनुभवों की कसौटी पर कसकर स्वीकार करो । अपने बुद्धि का उपयोग करो।' उन्होंने मनुष्य जीवन से जुड़ी समस्याओं पर विचार किया और उनका समाधान ढूंढने का प्रयास किया । मनुष्य के आचरण को सर्वाधिक महत्व दिया।

बुद्ध ने एक तो धार्मिक कर्मकांड का जबरदस्त विरोध किया । कर्मकांडवादियों का कहना था कि कर्मकांड करने से आदमी के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । लेकिन बुद्ध के अनुसार यह असंभव है। धार्मिक विधि करने से अपने पापकर्मों से कोई नहीं छूट सकता । उसे फल इसी जन्म में मिलना है। प्रायश्चित्त भी उसे इसी जन्म में करना है।

बुद्ध ने आत्मा जैसी अभौतिक शाश्वत तत्व की धारणा को अमान्य किया । वैसे ही ग्रन्थ प्रामाण्य को अस्वीकार किया।

विज्ञान -

यह तो वास्तवता है कि एक ओर भौतिक तत्व है तो दूसरी ओर मानसिक क्रियाकलाप।

बौद्ध दर्शन में -

भौतिक अस्तित्व को 'रूप' कहा गया है।(material existance)

तो नाम, चित्त, मन, विज्ञान ये 'नाम' हैं।(consciousness)

विज्ञान यह चक्षु विज्ञान आदि छह रूपों में (ज्ञानेन्द्रिय+मन से सम्बंधित) है।

अब चक्षु(Eye)+रूप (Object of the eye sense)= भौतिक पदार्थ =नाम की उत्पत्ति

अर्थात् भौतिक पदार्थ से नाम की उत्पत्ति अर्थात् चित्त , मन की उत्पत्ति। यही बात आधुनिक भौतिकवाद कहता है।

लेकिन बौद्ध मत के अनुसार चक्षु विज्ञान की उत्पत्ति के लिए चक्षु+रूप+विज्ञान , तीनों का समन्वय होना आवश्यक है। अर्थात् रूप के संवेदन के लिए चक्षु और रूप के अतिरिक्त पहले से ही विज्ञान का होना आवश्यक है।

अब विज्ञान क्या है तो दीर्घ-निकाय के महानिदान सूत्र के अनुसार -

'नाम-रूप पच्यया विज्ञान'-अर्थात् नाम, रूप इन दोनों के होने से ही विज्ञान की उत्पत्ति है

नाम -रूप पच्यया फस्सो '-नाम +रूप के होने से स्पर्श की उत्पत्ति होती है।

अब प्रश्न है नाम-रूप की उत्पत्ति कैसे होती है तो इसी सूत्र के अनुसार -

'विज्ञान पच्यया नाम रूपम' अर्थात् विज्ञान के होने से नाम-रूपम की उत्पत्ति अर्थात् नाम - रूप ---विज्ञान उत्पत्ति -----उत्पत्ति नाम -रूप ---अर्थात् बचा तो नाम और रूप (भौतिकपदार्थ +मन) फिर बीच के 'विज्ञान' की आवश्यकता क्या है?

यह तो वही हुआ, वेद कहते हैं, इसलिए ईश्वर है और ईश्वर है इसलिए वेद सर्वोपरि है।

हेगेल भी कहता है कि विचार यह प्राथमिक है और भौतिकतत्त्व उसकी निष्पत्ति है।

माक्स के अनुसार भौतिक तत्त्व प्राथमिक है, विचार उसका अति विकसित रूप है।

अर्थात् बौद्ध दर्शन में भौतिक तत्त्व का आद्यत्व मानने के स्थान पर 'विज्ञान' या अनुभूति का स्वतंत्र आद्यत्व माना गया। इस अस्पष्टता के तथा विरोधाभास के कारण उनकी मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों में तीव्र मतभेद पैदा हुए। कई पंथ बने, जिनकी संख्या तीस तक पहुँच गई। भारत के भौतिकवादी, बुद्ध के कुछ ही समय पूर्व हो गए। उन्होंने कहा था कि उत्क्रांतिक्रम में निर्जीव वस्तुओं में से ही सजीव जगत पैदा हुआ है।

भौतिक तत्त्व : बुद्ध का गतिवाद

बुद्ध के अनुसार ब्रह्माण्ड में शाश्वत और स्थिर ऐसे किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है। हर चीज गति में है। यह गतिवाद है। हर चीज में परिवर्तन हो रहा है। तो प्राचीन आध्यात्मिक चिंतकों के अनुसार जो-जो शाश्वत, है न बदलनेवाला है केवल वही वास्तव है।

प्रतीत्य समुत्पाद-

फिर प्रश्न यह उठता है कि वस्तु के स्वरूप में कुछ समय तक समानता क्यों दिखती है ? इसका कारण है गठन में होनेवाली समानता। परिणाम यह हमेशा कारण सदृश्य होता है। उस कारण एक होने का आभास होता है। उदा. लगातार बदलनेवाली ज्योति। बुद्ध कहते हैं, 'अस्मिन् सति इदं भवति', यह होते समय ही उसका उद्भव होता है।

अभी-अभी जिसका अंत हुआ है वह कारण होता है और तुरंत जिसका उदय होता है वह परिणाम है। कारण होता है उस समय परिणाम का बिल्कुल अस्तित्व नहीं होता और जब परिणाम अस्तित्व में आता है उस समय कारण पूरी तरह नष्ट हुआ होता है । शाश्वत सारतत्त्व कुछ भी नहीं है। कारण और परिणाम इनका एकदूसरे के साथ पूरी तरह विच्छेद हुआ होता है । केवल क्रम होता है। अर्थात् वस्तु के रूप में कुछ नहीं है । केवल घटनाएं (धर्म) हैं। जगत यह वस्तुओं का नहीं तो घटनाओं से बना प्रवाह है । कारण भाव का नियम विशद करते हुए बुद्ध ने उसे अवलम्बित उद्भव (प्रतीत्य समुत्पाद), 'निर्मिति का अवलम्बित्व' इन शब्दों का प्रयोग किया है।

परिवर्तन का अपना विचार प्रस्तुत करते समय बुद्ध ने अग्नि तथा जलप्रवाह की उपमा का उपयोग किया है । यही जलप्रवाह की उपमा का उपयोग ग्रीक परिवर्तनवादी हेराक्लीटस ने किया है। उसके अनुसार भी जगत यह लगातार परिवर्तन लानेवाली प्रक्रिया ही है।

बौद्ध तत्त्व के अनुसार कारण यह परिणाम से बिल्कुल अलग होता है । अन्य शब्दों में या आधुनिक भाषा में परिणाम का उदय यह गुणात्मक बदल होता है और किसी भी वस्तु का जन्म या इन्हींके शब्दों में , 'धर्म' एक ही वस्तु में से नहीं होता । किसी भी परिणाम का केवल एक ही कारण नहीं होता। कई कारण, एक परिणाम को जन्म देते हैं और इस सिद्धंत को 'कारणों की समग्रता'(हेतु समग्रीवाद) कहते हैं । आवश्यक सभी कारण , उस परिमाण में आने से पूर्व गुणात्मक बदल नहीं हो सकता।

विरोध का नियम : बुद्ध के अनुसार कोई भी दो चीजें एक ही समय में सुसंवादी भी होती हैं और विसंवादी भी । उनमें साम्य या एकता भी होती हैं और विरोध भी ।(यही आधुनिक विरोध-विकासी द्वंद्ववाद है।)

कोई भी कारण शाश्वत या चिरंतन नहीं हो सकता । अगर ऐसा होता तो कारण या परिणाम ये संकल्पनाएं ही अस्तित्व में नहीं आतीं। कार्य या परिणाम यह कारण से भिन्न होगा। अतः कारण यह क्षणिक होता है। कारण-कार्य की अखंड श्रृंखला होती है।

विरोध विकासवाद कहता है कि पुराने में से ही नए की उत्पत्ति होती है। यह इस वाद का महत्वपूर्ण हिस्सा है। बुद्ध भी कहते हैं कि परिणाम या कार्य नूतन होता है।

प्रत्येक बात सापेक्ष होती है। (यही बात जैन दर्शन अलग शब्दों में कहता है)

बुद्ध ने पदार्थों की क्षणिकता से प्रभावित होकर सारी चीजों को , बातों को, पदार्थों को, शक्तियों, गतियों, प्रक्रियाओं में परिणत कर दिया।

प्रतीत्य-समुत्पाद यह आदि बौद्धों का कार्य-कारण सिद्धांत है । इसे प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम भी कह सकते हैं। प्रत्येक उत्पत्ति का कोई प्रत्यय या कारण है। जिसके होने से जो अन्य नई वस्तु होती है, तो वह पहली वस्तु, दूसरी वस्तु का प्रत्यय है। इस तरह प्रत्यय सामग्री से आने, उसके बिना नहीं, जो (धर्मों) पदार्थों का स्थिति में आना है वह प्रतीत्य-समुत्पाद है। अर्थात् उत्पत्ति न स्वतः होती है, न बिना हेतुओं के, बल्कि वह प्रत्ययों के आश्रय से ही या उनके साथ ही हो सकती है। यहां प्रत्यय और हेतु समानार्थक मालूम होते हैं लेकिन बुद्ध के लिए प्रत्यय का वही अर्थ नहीं है। बुद्ध का प्रत्यय ऐसा हेतु है जो किसी वस्तु या घटना के पहले क्षण लुप्त हो चुका है। अर्थात् इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति।

धम्मः बौद्ध धर्म में जो तत्व हैं वे केवल सत्ताहीन घटनाएं हैं, जिन्हें धम्मों के नाम से सम्बोधित किया गया है। ये भूत और चित के सूक्ष्म तत्व हैं। इन्हीं धर्मों के आघात-प्रतिघात से वह वस्तु संपन्न होती है जिसे हम जगत कहते हैं।

आत्मा और मनोभावः बुद्ध के अनुसार आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानसिक प्रवृत्तियों का पूंज है । मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं है । इसलिए आत्मा को नाम-रूपात्मक बताया गया है । इसमें भौतिक अवस्था 'रूप' के अंतर्गत हैं और मानसिक अवस्थाएं 'नाम' हैं। संज्ञा, वेदना और संस्कार, नाम के अंतर्गत हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पांच स्कन्ध कहे गए हैं । इन पांच स्कन्धों के आधार पर व्यक्तित्व की निर्मिति होती है। आत्मा को नित्य, एकरस मानने से उसके परिशुद्धि और मुक्ति के लिए आधार ही नहीं रहेगा।

कुछ अन्य विचार प्रवाहों में, रूप के सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकार को परमाणु कहा गया है जो अदृश्य होते हैं। वे भी नाशवान होते ही हैं । उनके एकत्रीकरण से सृष्टि अस्तित्व में आती हैं । लेकिन बुद्ध ऐसे तत्व का अस्तित्व नहीं मानते।

आधुनिक विज्ञान में रूसी तत्वज्ञ श्वेर्बाटस्की भी मानते हैं कि-

भौतिकतत्व में विद्यमान सारे मूलतत्व, जिनका जो कार्य जारी रहता है, उसीमें से उनका अस्तित्व व्यक्त होता है। इस कारण उन्हें जड़वस्तु (**substance**) कहने के स्थान पर 'कार्यशक्ति' (**energy**) कहना उचित होगा।

बुद्ध का मध्यम मार्ग :सब कुछ है और कुछ भी नहीं है, यह वास्तव सत्य है। वास्तवता दोनों के बीच है।(संयुक्त निकाय)

बुद्ध के चार सत्यः

- १) जगत में दुःख तथा वेदना सर्वत्र व्याप्त है। लेकिन उनके लिए कारण होते हैं।
- २) जन्म से लेकर तो मृत्यु तक मनुष्य तृष्णा से (जिवंत रहने की इच्छा से) अभिभूत रहता है।
- ३) उनमें से मुक्त होने का मार्ग भी उपलब्ध है।
- ४) अपनी तृष्णा पूरी तरह नष्ट करना, यही दुःख निर्मूलन का मार्ग है।

दुःख निर्मूलन के आठ पवित्र मार्ग हैं । यह बौद्ध नीतिमत्ता की संहिता है । उचित श्रद्धा, उचित निश्चय, उचित भाषण, उचित कर्म, उचित जीवन, उचित प्रयत्न, उचित विचार और उचित आत्मनिर्भर एकाग्रता या आत्मसंयम।

बुद्ध कहते हैं :अपने स्वयं के अःतकरण में विद्यमान पाप ढूंढें। अपनेसे बाहर उस पाप को ढूंढने का यत्न मत करें। अपनी वासनाओं का त्याग करें।

पुनर्जन्म:नित्य आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में आवागमन के रूप में , पुनर्जन्म को तो बुद्ध ने इंकार किया । लेकिन जैसे इस 'शरीर' में जीवन विच्छिन्न प्रवाह के रूप में एक तरह की एकता स्थापित किए हुए है , उसी तरह वह जन्मांतर में जारी रहेगा । बुद्धि को सर्वोच्च महत्त्व देने के बाद भी वह बुद्ध की क्या विवशता थी कि बुद्ध ने पुनर्जन्म को माना जिसका अस्तित्व कभी सिद्ध नहीं हो सकता था और जिसका अस्तित्व सिद्ध नहीं है उसे बुद्ध कैसे माने ? हाँ उसके लिए शब्दछल हो सकता है।

प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादश अंग हैं ।जिसमें एक , दूसरे के कारण उत्पन्न होता है ।इसे भवचक्र कहा जाता है ।इस भवचक्र के रुक जाने से सम्पूर्ण दुःख स्कंध रुक जाता है ।इन द्वादश अंग में,प्रथम है अविद्या ।अविद्या और संस्कार हमारे पूर्वजन्म की वे रचनात्मक कर्मशक्तियाँ हैं ,कम्मभाव हैं, जो संकलित होकर हमारे वर्तमान जन्म (उत्पत्ति भव)को निश्चित करती हैं।

वास्तव में नित्य आत्मा को नकारने के बाद पुनर्जन्म की कल्पना के लिए आधार ही नहीं रहता।

आधुनिक विरोधविकास कहता है कि विशिष्ट जीवन नष्ट होने पर वंश के रूप में आम जीवनप्रवाह अखंड रूप से शुरू ही रहता है। किसी व्यक्ति ने या पीढ़ी ने किए हुए गलत कामों के परिणामों से अगली कुछ सीखती है । एक व्यक्ति ने या पीढ़ी ने दिया हुआ योगदान नष्ट नहीं होता। उसके साथ मानवता आगे बढ़ती रहती है । वह चिरंतन मानवी प्रक्रिया का एक अविभाज्य घटक बन जाता है।

लेकिन बुद्ध ने कहा , जिस तरह मनुष्य के जीवन में आम ढंग का सातत्य रहता है उसी तरह मानवी अनुभूति का एक प्रवाह शुरू रहता है । एक दिया बुझता है लेकिन उससे पहले उसने दूसरे को प्रज्वलित किया हुआ रहता है । उसी तरह एक मनुष्य मरता है लेकिन उसी प्रक्रियात्मक अनुभूति ने दूसरे शरीर में प्रवेश किया रहता है । इस तरह बुद्ध ने आत्मा की जगह कर्म और अनुभूति के जन्मांतर के प्रवाह को सामने लाकर पिछले दरवाजे से पुनर्जन्म की कल्पना को अपने धर्म में प्रवेश दिया । उनके अनुसार जीवनप्रवाह को इस शरीरप्रवाह तक ही सीमित माना तो जीवन और उसकी विचित्रताएं , कार्यकारण नियम के अनुसार उत्पन्न हुईं , यह सिद्ध होने के स्थान पर वे आकस्मिक घटनाएं सिद्ध होगीं।

निर्वाणः बुद्ध के दर्शन का अंतिम अंग है , निर्वाण। निर्वाण का अर्थ है बुझना । दीप या अग्नि जलते-जलते बुझ जाता है। विच्छिन्न प्रवाह के स्वरूप में उत्पन्न प्रतीत्य समुत्पाद नाम-रूप अर्थात् उनके अनुसार जीवनप्रवाह को इस शरीरप्रवाह तक ही सीमित माना तो जीवन और उसकी विचित्रताएं , कार्यकारण नियम के अनुसार उत्पन्न हुईं , यह सिद्ध होने के स्थान पर वे आकस्मिक घटनाएं सिद्ध होगीं । विज्ञान वा चेतना तथा भौतिक तत्त्व इनका तृष्णा के मेल के साथ संयोग होकर जो जीवन , प्रवाह के रूप में प्रवाहित हो रहा है , उस प्रवाह का आत्यंतिक विच्छेद याने निर्वाण। आत्मसंयम के अत्युच्च स्तर पर पहुंचने से समाधि लगती है। यही बुद्ध का निर्वाण है। यह समाधि इसी जीवन में लग सकती है , ऐसा बुद्ध कहते हैं । लेकिन यह निर्वाण अभावात्मक वस्तु है या भावात्मक ? 'निर्वाण' रहास होकर शून्य हो जाना नहीं है , किन्तु यह प्रवाह का निषेध है। क्या यह मन की एक चिरंतन स्थिर अवस्था है ? लेकिन बुद्ध के पहले के गतिवादी दर्शन की दृष्टि से यह निर्वाण की कल्पना एकदम ही विरोधी है , 'प्रतीत्य समुत्पाद और अखंड परिवर्तन का सिद्धांत' इनके लिए'।

आधुनिक विचार यही है कि 'स्थिति' तथा 'गति' एकदूसरे के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी रहती हैं।

इसी विरोधाभास के कारण ही इस दर्शन में इसका उत्तर नहीं मिलता कि निर्वाणप्राप्त पुरुष का मृत्यु के बाद क्या होता है।

नए-नए, दीक्षा लेनेवाले, भिक्षु कई तरह के प्रश्न बार-बार पूछ कर बुद्ध को हैरान करते थे। इनमें से कई प्रश्नों के, बुद्ध उत्तर ही नहीं देते थे। एक बार 'गच्छ गोत्थ' नाम के भिक्षु ने बुद्ध से मृत्योत्तर जीवन के बारे में बार-बार पूछा । अंत में बुद्ध ने कहाँ "हे , मालुक्या पुत्र! जो अभी तक ज्ञात नहीं है, उसे वैसा ही अज्ञात रहने दे और ज्ञात हुआ है उसे वैसा व्यक्त स्वरूप में रहने दे। "(मध्यम निकाय)"

बुद्ध की अव्याकृत बातें -

बुद्ध ने अव्याकृत अर्थात् अकथनीय क्या है , इसका स्पष्ट खुलासा किया है । उनके दस अकथनीय बातों की सूची , लोक अर्थात् जगत , जीव, शरीर के भेदाभेद और निर्वाण के बाद की स्थिति इनके विषय में है। १) क्या,लोक (जगत)नित्य है? २) क्या लोक अनित्य है ? ३) क्या लोक अन्त्यवान अर्थात् क्या उसे अंत है ? ४) क्या लोक अनंत है ? ५) जीव और शरीर क्या एक है? ६) जीव अलग और शरीर अलग है क्या ? ७) मृत्यु के उपरांत जीव तथागत अर्थात् मुक्त होते हैं क्या? ८) मृत्यु के बाद तथागत नहीं होते क्या ? ९) मृत्युनंतर तथागत होते भी हैं या नहीं भी होते हैं क्या? १०) मृत्यु के बाद तथागत न होते हैं न होते नहीं क्या?

उन्होंने कहा, मैंने इन्हें अकथनीय इसलिए कहा कि वे न भिक्षु-चर्या के लिए उपयोगी, न विवेक-वैराग्य, निरोध-शांति, परमज्ञान निर्माण के लिए उपयोगी हैं।

बुद्ध का उपदेश साहित्य-

पाली भाषा में संकलित बुद्ध के उपदेशों के तीन संग्रह मिलते हैं । विनय, सुत्त और अभिधम्म। इन्हें पिटक कहा जाता है। इन ग्रंथों की रचना २४१ ई.पू. हो चुकी थी। विनय पिटक एक आचार ग्रन्थ है । बौद्ध भिक्षुओं की दिनचर्या के अनुशासनात्मक वचनों का संकलन । दीर्घ-निकाय में बुद्धकालीन दार्शनिक मतों का वर्णन किया गया है । सुत्त पिटक बुद्ध के उपदेश हैं । पिटक का अर्थ है पेटिका। एक पिटक में कई ग्रन्थ हैं। अभिधम्म सबसे बाद का ग्रन्थ है।

बौद्ध दर्शन में मतान्तर -

बौद्ध दर्शन में एक और आधार पर विभाजन हुआ।

मनुष्य ने एकांत में रहते हुए कितना भी चित्त को स्थिर करना और समाज में रहते हुए, प्रत्यक्ष व्यवहार में अपने सामाजिक कर्तव्य पुरे करते हुए उसके मन को समाधान प्राप्त होना, इनमें महत् अंतर है। शायद दूसरा समाधान अधिक मूल्यवान है । मन की 'सुखदुःखे समे कृत्वा' ऐसी चिरंतन अपरिवर्तनीय अवस्था होगी तो ही मन:शांति प्राप्त हो सकती है , ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। सर्वप्रथम तो ऐसी चिरंतन अवस्था प्राप्त होना असंभव है । मनुष्य और समाज एकदूसरे से जुड़े हैं। फिर प्रश्न सामने आता है कि मनुष्य वैयक्तिक मुक्ति को, मोक्ष को या निर्वाण को अधिक महत्व दे , या सम्पूर्ण मानव जाति के मुक्ति को । बुद्ध ने अपने जीवन दरम्यान यह संतुलन संभाला था। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद (४८३ ई.पू.)उनके अनुयायियों में मतभेद हुए।

वैयक्तिक मुक्ति को प्राधान्य देनेवाले

बुद्ध का सन्देश अधिकतम समाज तक

पहुंचाने को महत्त्व देनेवाले

हीनयान (प्राचीन रूप)

महायाण

जल्दी ही राजा अजातशत्रु के आश्रय के नीचे राजगृह में बौद्ध भिक्षुओं का सम्मलेन हुआ।

इसके बाद ईसा पू. ३०० में वैशाली में दूसरा अधिवेशन हुआ। इसमें धार्मिक विधि पालन के आधार पर दो गट हुए। थेरवादी और महासांघिक।

बादमें सम्राट अशोक की कारकीर्द के दरम्यान (ईसा पू. २५०)में तीसरा अधिवेशन हुआ जो निष्फल रहा। तदनन्तर कनिष्क के शासन के दरम्यान कश्मीर में चतुर्थ सम्मलेन हुआ। इसमें औपचारिक रूप से दो पंथ हो गए -हीनयान और महायान।

महायान का संस्थापक अश्वघोष है। बुद्ध ने 'शास्वत आत्मा' का अस्तित्व अमान्य किया था और 'प्रतीत्य समुत्पाद' या नवनिर्मिति का अवलम्बित्व का पुरस्कार किया था। उसके स्थान पर अश्वघोष ने बुद्ध के विरोधविकास की नींव ही उखाड़ दी और चिरंतन तत्त्व को ले आए।

हीनयान: इसका प्रचार दक्षिण भारत में हुआ तथा श्रीलंका, म्यांमार, थाईलैंड आदि में। इसका प्रमुख ग्रन्थ है पाली त्रिपिटक।

महायान: अधिक अनुयायी तिब्बत, चीन, जापान में हैं। दार्शनिक विवेचन संस्कृत में है। पूजा और कर्मकांड का अति रूप तिब्बत में देखने को मिलता है।

आज विश्व में अनुमानतः ५० करोड़ बौद्ध धर्मानुयायी हैं। ग्रंथों का अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में अधिक हुआ है। बुद्ध के उपदेश 'मागधी' भाषा में हैं जिसे बाद में पाली कहा गया।

दार्शनिक शाखाएं: वैभाषिक, सौत्रान्तिक, शून्यवाद, विज्ञानवाद।

मार्क्स ने कहा कि लोगों के वास्तविक सुख के लिए यह आवश्यक है कि सुख का भ्रम पैदा करनेवाले धर्म को समाप्त किया जाए। स्थिति के भ्रम को छोड़ने का अर्थ है उस परिस्थिति को त्यागने की मांग करना, जिसे भ्रम की आवश्यकता है। इसलिए धर्म की आलोचना करने का मूल लक्ष्य है, दुःख और पीड़ा को स्वीकार करने की उस भावना की आलोचना करना, जिसे धर्म के प्रभामंडल से सजा दिया गया है।

सभी आध्यात्मिक मतों में मनुष्य के दुःखों का अंतिम कारण अविद्या बताई गई है । इस अविद्या का कोई रूप नहीं है , लेकिन वह मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में एक महादैत्य बनकर बैठ गई है।

बुद्ध के उपदेश का सारतत्त्व 'महावग्ग' में इस प्रकार दिया गया है -

अविद्या ~संस्कार ~चेतना ~नामरूप ~छह क्षेत्र (छह ज्ञानेन्द्रियों के) ~स्पर्श ~संज्ञा ~तृष्णा (इच्छा) ~अनुराग ~अस्तित्व ~जन्म ~वृद्धावस्था और मृत्यु , वेदना, संताप, दुःख, खिन्नता। यही समस्त दुःख समुदाय की उत्पत्ति है।

अविद्या के विनाश से उलट चक्र विनाश (अर्थात् कामलिप्सा के पूर्ण परित्याग से) संस्कारों का विनाश ~चेतना विनष्ट ~नामरूप का अंत ~छह क्षेत्रों का अंत ~स्पर्श समाप्त ~संज्ञा शून्य ~तृष्णा का अंत ~अनुसक्ति नहीं रहती ~अस्तित्व का विनाश ~जन्म नहीं होता ~वृद्धावस्था, मृत्यु, वेदना, दुःख, खिन्नता, निराशा नष्ट। सारे दुःख समुदाय का इस तरह अंत।

बुद्ध के विचारों में करुणा अधिक थी, विद्रोह नगण्य था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जिस निरीश्वरवाद का उन्होंने प्रतिपादन किया था उसीका प्रभाव मिटाने के लिए स्वयं उन्हें ही ईश्वर बना दिया गया और उनकी पूजा आरम्भ हो गई।

उलटा विद्रोही चार्वाकों के बारे में तो यह संभव नहीं था अतः उन्हें राक्षस घोषित कर दिया गया।

भाववाद का उदय

बौद्ध पंथ

बौद्ध धर्म में जो पंथ निर्माण हुए उनमें महत्वपूर्ण चार हैं । इनमें दो अपनेआप को वास्तववादी कहलाते हैं। अर्थात् अन्य दो कल्पनावादी या अध्यात्मवादी हैं।

वास्तववादी : १)वैभाषिक २)सौत्रान्तिक : दोनों पंथ हीनयानी हैं।

कल्पनावादी : १)माध्यमिक २)योगाचार :विज्ञानवादी (आत्मनिष्ठ) :महायानी

शून्यवादी

वैभाषिक/सर्वास्तिवाद

भौतिक तत्त्व तथा गति इनको अलग करना संभव नहीं , विज्ञान का यह अधुनातम सिद्धांत है। गतिवादी बौद्ध दर्शन के पंथों में, इससे सबसे करीब वैभाषिक है।

बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद- ये स्वीकार करते हैं कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । इसलिए इस विचारधारा के अनुसार जगत के समस्त बाह्य-आंतरिक , भूत और भौतिक, चित्त और चैतिक पदार्थ वास्तविक हैं। उनकी सत्ता पर किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता । सब प्रकार के पदार्थों की सत्ता स्वीकार करने के कारण इस सम्प्रदाय का प्राचीन नाम सर्वास्तिवादी था।

कनिष्क के शासनकाल में बौद्धों की चतुर्थ सभा के समय इस विचारधारा के मूल ग्रन्थ 'ज्ञान प्रस्थान शास्त्र' पर 'विभाषा' नाम की एक विशाल टीका की रचना की गई थी। इस ग्रन्थ को प्राप्त विशाल मान्यता के कारण इस संप्रदाय को 'वैभाषिक' कहा गया।

- वैभाषिकों ने प्रत्यक्ष के द्वारा बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को तीनों कालों में स्वीकार किया है। अनुमान द्वारा पदार्थों के अनुभव को असिद्ध माना है । निर्विकल्प ज्ञान ही प्रमाण है । इस पंथ में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है । हमें ज्ञान प्राप्त होता है वह इन्द्रियों के माध्यम से। व्यवहार ही ज्ञान-स्त्रोत है । बुद्धा के अनुसार भी जो अर्थपूर्ण क्रिया करने में समर्थ है, वही वास्तव है।

सौत्रान्तिक

इनका कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।लेकिन बौद्धेतर ग्रंथों में इसका विवेचन मिलता है।

सूत्रों के प्रति आस्थाशील होने के कारण ही शायद इसे सौत्रान्तिक कहा गया है। व्हेनसांग ने कुमारलात को इस संप्रदाय का संस्थापक माना है।

इसके अनुसार मानसिक तथा बाह्य दोनों पदार्थ सत है । यद्यपि बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है । सौत्रान्तिकों ने सर्वास्तिवादियों के इस सिद्धांत का खंडन किया था कि प्रत्येक वस्तु तीनों कालों में उपस्थित रहती है । अर्थात् जिसकी सत्ता है , वह क्षणिक है , ऐसा कहते हुए क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया था।

आगे इस संप्रदाय ने यह बताया कि सभी पदार्थों का अपना-अपना लक्षण होता है । लेकिन स्वलक्षण की इस मान्यता ने यह भी विचार उत्पन्न कर दिया कि वस्तु के बाह्य रूप में प्रकट होने की यह प्रक्रिया ही एक भ्रमजन्य प्रक्रिया है । स्वभावतः की इस प्रवृत्ति ने बौद्धों के स्वतः अप्रमाण्यवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया , जिसके अनुसार ज्ञान को ही स्वभावतः अप्रमाणिक बता दिया गया।(चट्टोपाध्याय)

आगे शून्यवादियों तथा विज्ञानवादियों ने चरमकोटी का भाववादी रूप निर्माण किया तथा मायावाद निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की।

शून्यवाद

कुमारजीव द्वारा ४०५ ईसवी में चीनी भाषा में अनुवादित नागार्जुन की जीवनी में उसे दक्षिणात्य ब्राह्मण बताया गया । उसका केंद्र था आंध्र में श्री पर्वत (नागार्जुन कौंडा , गुंटूर)। नागार्जुन का जीवनकाल ४८२-२८२ ईस्वीसन पूर्व के दरम्यान का बताया जाता है । (वाटर्स आन श्वाच्वंग :पृष्ठ२०१)। वे वेदों के प्रकांड विद्वान् थे। उन्होंने तंत्रों एवं चिकित्साशास्त्र के ग्रंथों की रचना की। उन्होंने पांच ग्रन्थ लिखें जिनमें ' माध्यमिक कारिका ' सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

नागार्जुन ने ही शून्यवाद को दार्शनिक आधार प्रदान किया । इसे माध्यमिक वाद भी कहते हैं। चूँकि इसमें दो सीमांतों 'शाश्वतवाद' तथा 'उच्छेदवाद' का खंडन किया गया है, अर्थात् एकांतिक सत तथा एकान्तिक असत का खंडन।

अर्थात् यह सत और असत का मध्य बिंदु है । शून्य को मध्य बिंदु मानते हुए चंद्रकीर्ति का कथन है कि वस्तुओं के दो ही रूप हो सकते हैं-भाव तथा अभाव । जो वस्तु सदा वर्तमान रहती है वह भावरूप है । जो सदा विद्यमान नहीं रहती वह अभावरूप है । वस्तु का न भाव है न अभाव इसलिए वह शून्य है।

नागार्जुन माध्यमिक सूत्र में कहते हैं, "नवनिर्मिति का अवलम्बित्व" इस सिद्धांत को ही मैंने शून्यवाद नाम दिया है। प्रत्येक वस्तु का मूल यह किसी अन्य परिस्थिति पर ही अवलम्बित होता है। जिसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय हो, उसे परमार्थ सत्ता नहीं मान सकते।

- शून्यवाद में समस्त जागतिक सत्ता को ही अस्वीकार करते हुए केवल मात्र शून्य को ही 'परमार्थ' कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन एक नितांत 'अद्वैतवादि' दर्शन में रूपांतरित हो गया। इसे 'शून्याद्वैत' की संज्ञा भी दी गई है।

कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व के लिए आत्मनिर्भर नहीं है। अर्थात् सब वस्तुएं सापेक्ष हैं। यह एक तरह का सापेक्षवाद ही है। आज सापेक्षवाद का वैज्ञानिक जगत में बड़ा महत्व है। लेकिन सापेक्षवाद जब वास्तवता का भान छोड़कर कल्पना में विचरण करने लगता है तो जगत को ही मिथ्या कहने लगता है। सापेक्षता यह वास्तवता है या वास्तवता सापेक्ष होती है यह मान्य न करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। दोनों में कोई विरोध नहीं है।

नागार्जुन ने गति की व्याख्या के माध्यम से भी शून्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध गतिवाद में अब गति का ही निषेध हो गया। गति का निषेध इस आधार पर प्रस्तुत किया गया कि कोई भी वस्तु एक ही समय में दो स्थानों पर नहीं हो सकती। 'क' से 'ख' तक चलने का अर्थ है वह एक काल में दोनों स्थानों पर विद्यमान है। जो साधारणतया असंभव है। अतः सभी अयथार्थ हैं। जो प्रत्यक्ष हो रहा है उसे अमान्य कर आप किसी कल्पना की दुनिया में गोते लगा रहे हैं। वास्तवता से आपका नाता टूटता जा रहा है।

ऊपर से यह भी कहा जाता है कि शून्य से अभिप्राय 'शुद्ध अभाव' से नहीं है। जब तुम किसी 'वास्तवता' को या 'भाव' मानते हो तब 'अभाव' के मानने का प्रश्न खड़ा होता है। आप तो शुरुआत ही कर रहे हैं, किसी भाव को न मानने से।

दो सत्य

माध्यमिक मत में दो सत्यों के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है -

- १) सांवृतिक सत्य : संवृति शब्द का पर्याय है अविद्या। संवृति से उत्पन्न सत्य को सांवृतिक सत्य कहा जा सकता है। 'अविद्या' से अभिप्राय उस शक्ति से है जो सत्य को आवृत्त किए हैं। डॉ. राधाकृष्णन महोदय ने भी कहा है कि 'संवृति' मनुष्य की तार्किक शक्ति की उपज है। यह विश्व का कारण है और प्रतीति भी। इसका यौगिक अर्थ है आवरण या पड़दा जो सत्य को छिपाये रखता है। सांवृतिक सत्य के दो प्रकार हैं -

अ) लोक संवृति: सांसारिक पदार्थों को सामान्य जन सत्य समझता है इसे 'लोक संवृति' कहा जायेगा। इसके विपरीत इन्द्रिय दोष के कारण मिथ्या प्रतीति को 'अलोक संवृति' कहा गया है जैसे रस्सी में सांप की प्रतीति। रस्सी में रस्सी के रूप में मिथ्याभास लोक संवृति है। सांवृतिक सत्य में लोकसंवृति जागतिक दृष्टिकोण से सत्य है और अलोकसंवृति मिथ्या परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से दोनों असत्य हैं।

संवृति का अर्थ है बुद्धि। अतः बुद्धि के द्वारा जिस-जिस तथ्य का ग्रहण होता है वह समस्त व्यावहारिक सत्य है। परमार्थ सत्य बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। माध्यमिक कारिका में परमार्थ को अनिर्वचनीय बताया गया है।

शून्यवाद में पारमार्थिक सत्य के ग्रहण के लिए व्यावहारिक सांवृतिक सत्य को आवश्यक बताया गया है।

विज्ञानवाद

बौद्ध दर्शन परंपरा में यह शुद्ध-प्रत्ययवाद आचार्य मैत्रेयनाथ द्वारा प्रतिष्ठापित बताया गया है। किन्तु विज्ञानवाद के दार्शनिक स्वरूप को दृढ़ करने में उनके शिष्य असंग का योगदान उल्लेखनीय है। उनका समय चौथी शताब्दी है। बादमें जिनका योगदान है उनमें असंग के अनुज वसुबन्धु, वसुबन्धु के पट्टशिष्य स्थिरमति, उनके एक अन्य शिष्य दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि हैं।

विज्ञानवाद अपने नाम की अपेक्षा 'योगाचार दर्शन' नाम से अधिक प्रसिद्ध है और योगाचार शब्द असंग के ग्रन्थ 'योगाचार भूमि' से लिया गया है। यह असंग का विशाल ग्रन्थ है।

'महायान सूत्रांकारा' में असंग ने महायान सूत्रों का सार संकलित किया है | यह विज्ञानवाद का नितांत मौलिक ग्रन्थ है।

बौद्ध विज्ञानवादियों का प्रस्थानबिंदु था कि स्वसंवेदना को ज्ञान के एक सार्थक स्रोत के रूप में अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। इसने यह माना कि हर प्रकार का अस्तित्व अनिवार्यतः मानसिक है और हमारे विचारों की तदनुरूप बाह्य वास्तविकता की परिकल्पना में पुष्टि नहीं होती। इस प्रकार इनके लिए बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं था।

लंकावतार सूत्र में बाह्य पदार्थों की प्रतीति को माया के समान बताते हुए एकमात्र चित्त को ही सत्य कहा गया है। यहाँ विज्ञान के लिए 'चित्त' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। चित्त को छोड़कर कोई भी पदार्थ सत नहीं है। इस प्रकार बाह्य दृश्यमान जगत का कोई अस्तित्व नहीं है। चित्त एकाकार है परन्तु वही इस जगत में विचित्र रूपों में दिखाई देता है।

चित्त, मन, विज्ञान तथा विज्ञप्ति पर्यायवाची शब्द हैं । चित्त के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है। मन, अनुभूति यह निरपेक्ष सत्य। इसीको आलय विज्ञान कहा जाता है। जो जानता है उसे विज्ञान कहते हैं। आलय स्थान का पर्यायवाची है । आचार्य वसुबन्धु ने 'आलय विज्ञान' की वृत्ति जल के ओघ के समान बताई है।

- आलय विज्ञान के बिना संसार की प्रवृत्ति या निवृत्ति संभव नहीं है । संसार की प्रवृत्ति का अर्थ है, अन्य जन्मान्तरीय सशरीरों में प्रतिसंधि का होना । निवृत्ति का अर्थ है सोपाधिशेष निर्वाण धातु।

संसार के कारण, कर्म और क्लेश हैं। उनमें क्लेश प्रधान है। क्लेश के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव में ले जाने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। पुनर्जन्म को लाने में कर्म को समर्थ होने पर भी क्लेश के आधिपत्य से ही पुनर्जन्म होता है, अन्यथा नहीं। अतः क्लेश ही संसार की प्रवृत्ति में प्रधान होने के कारण मूल है। क्लेश बीजों के नाश हुए बिना संसार से निवृत्ति नहीं हो सकती। जो क्लेशोपक्लेश, चित्त के ही परिणाम विशेष से यथाशक्ति वासनावृत्ति का लाभ होने पर प्रवृत्त होता है।

यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि बौद्धों का वैभाषिक सम्प्रदाय रूप , चित्त, चैत, चित्त, विप्रयुक्त तथा असंस्कृत धर्मों को वास्तविक मानता था।

सौत्रान्तिकों ने रूप चित्त और चैत को स्वीकार किया था । लेकिन बाह्य जगत की सत्ता को ही मूलतत्त्व मानते थे।

योगाचारियों के लिए विज्ञान ही एकमात्र वास्तविकता थी।

वसुबन्धु ने विशान्तिका में रूप-धर्म का सर्वथा निषेध कर दिया। फलतः

त्रिंशिका में केवल चित्त-चैत धर्मों को ही वास्तविक माना गया।

दो सत्ता - माध्यमिकों ने अपने सर्वशून्यत्व में स्पष्ट दृश्यमान जगत का समाधान दो सत्तों की अवधारणा के अंतर्गत किया था । विज्ञानवादी भी चित्त को , ज्ञान को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए व्यावहारिक क्रियाकलापों को पारमार्थिक सत्ता के रूप में परिनिष्पन्न सत्ता के अतिरिक्त परतंत्र सत्ता एवं परिकल्पित सत्ता को स्वीकार करने के लिए विवश हुए हैं।

बाह्य जगत के मिथ्यात्व की धारणाएं , अपने अंतर्विरोधों से राहत पाने के लिए अनेक सत्तों की परिकल्पनाओं को स्वीकार करने के लिए विवश हुईं।

जब कुछ अमूर्त और अस्तित्व न होनेवाली संकल्पनाएं चिंतन में अपनी जगह बनाई हुई होती हैं और आगे उस चिंतन का विस्तार अगली पीढ़ियों द्वारा किया जाता है तो परिणाम क्या होता है यह हमने ऊपर देखा। एक, समाज सुधार के लिए शुरू हुआ चिंतन उस मुकाम पर पहुंचा कि उसने अपने ही अस्तित्व को मिथ्या घोषित कर दिया।

जब बौद्ध चिंतन ने अध्यात्म की राह पकड़ी तो जिन शोषण मूलक स्थितियों के विरोध में गौतम बुद्ध खड़े हुए थे, उन्हीं जैसी परजीवी सुविधाओं में फसकर अंततः बौद्ध मत, उपनिषदों की रहस्य मूलक, दुरुह आत्मनिष्ठ, प्रतिक्रियावादी अद्वैत का समर्थक बन गया। बुद्ध के छह सौ वर्षों के पश्चात महायान पंथ में उसी धारा को जन्म लेते हुए देखना पड़ा। बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का रूपांतर बोधिसत्व की कल्पना में करते हुए, धर्मकाया के रूप में बुद्ध, महायानी ईश्वर के सिंहासन पर आरूढ़ हो गए। महायानी पंथ में मूर्तिपूजा शुरू हो गई। बुद्ध की मूर्तियों की, चैत्य और स्तूपों की स्थापना होने लगी। बुद्ध धर्म एक कर्मकांडी धर्म बन गया। उसके एक सिरे का रूप तिब्बत में देखने को मिलता है।

बुद्ध ने भौतिक तत्व से मन या अनुभूति की उत्पत्ति न मानते हुए उसका स्वतंत्र अस्तित्व माना है। इस दृष्टि से बुद्ध स्पष्ट तौर पर अध्यात्मवादी थे, भौतिकवादी नहीं। वैदिक परंपरा के आत्मा और पुनर्जन्म के स्थान पर यहाँ आलय विज्ञान हो गया। फर्क इतनाही, वह निश्छल न होते हुए क्षणिक विज्ञान की धारा के रूप में है। लेकिन इन दो संकल्पनाओं ने मानव जाति के इतिहास में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को न्यायोचित ठहराया, यह बात साफ दिखती है। तुम्हारे दुःख के लिए, पूर्व जन्म के कर्म उत्तरदाई हैं, इस दुनिया की व्यवस्था नहीं। इस कल्पना का उपयोग शोषक वर्ग ने अपने स्वार्थ के लिए किया। उन्हें इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि ये संकल्पनाएं वैदिक परंपरा से आई हैं या बौद्धिक परम्पराओं से। इसी कारण बौद्ध धर्म को बड़े पैमाने पर राजाश्रय मिला।

गौड़पादाचार्य

गौड़पाद की रचना है 'माण्डूक्य-कारिका'। इसका आधार माण्डूक्योपनिषद है, जो आकार में अत्यंत छोटा है। लेकिन माण्डूक्य-कारिका मायावाद का सबसे प्रमुख ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से पहले, उपनिषदों पर कोई अद्वैतवादी टीका उपलब्ध नहीं है। गौड़पाद के ऐतिहासिक समय को अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है।

दृष्टव्य है कि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम आचार्य बादरायण का कहीं उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः गौड़पाद और शंकर से पूर्व ब्रह्मसूत्र पर एक भी अद्वैतवादी टीका उपलब्ध नहीं है।

डॉ. राधाकृष्णन स्वीकार करते हैं कि भाषा और विचार की दृष्टि से गौड़पाद की कारिका तथा माध्यमिक ग्रंथों में अद्भुत समानता पाई जाती है और उनमें प्रयुक्त सिद्धांत भी इसमें मिलते हैं।

गौड़पाद की कारिकाओं में दो मुख्य सिद्धांतों का विवेचन मिलता है -

१) वैतव्य=जगत का मिथ्यात्व (बौद्ध-विज्ञानवादी)। चित्त, मनस या विज्ञान अंतिम सत्य और बाह्य जगत मन की प्रतीति है। गौड़पाद ने इसकी पुष्टि की है और इसे 'ज्ञान' कहा है।

२) अजातवाद=कोई उत्पत्ति नहीं है। (बौद्ध-माध्यमिक) गौड़पाद का अजातवाद सीधे बौद्धों से लिया गया है (-भट्टाचार्य विधुशेखर - **The Aagam Shastra of Gaudpad**)। गौड़पाद के बाद ही अजातवाद को, जो बौद्ध भाववादी दार्शनिकों का सिद्धांत था, अद्वैतवादियों ने अपने दर्शन का अंग बना लिया।

ये दोनों उपनिषद के सिद्धांत नहीं हैं।

उपनिषदों की आत्मा या ब्रह्म नित्य तथा शाश्वत है, जबकि बौद्धों का चित्त क्षणिक है।

योगाचारियों का आलय विज्ञान यह निरपेक्ष चेतना है, इसके विपरीत प्रवृत्त्य विज्ञान ही परिवर्तनशील वैयक्तिक चेतना है।

विज्ञानवादियों के लिए केवल विचार ही सत्य है। माधवन के अनुसार विज्ञानवाद का चित्त एकमात्र यथार्थता नहीं है। यह एक संज्ञानात्मक श्रृंखला है और ऐसी विज्ञान श्रृंखलाएं अनेक हैं। अतः योगाचारी बौद्धों का सिद्धांत भाववादी होते हुए भी बहुत्ववादी है।

अद्वैतवादियों के लिए अपरिवर्तनीय, अनश्वर, शाश्वत चेतना ही अंतिम सत्य है। अद्वैत वेदांत में आत्मा अंतिम यथार्थता है, जिसके साथ माया सम्बद्ध है।

पूर्णकाम भगवन को सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है। यह तो उसका स्वाभाव ही है। यह सारे प्रपंच, प्रचीति माया के ही कारण हैं। माया न सत है, न असत है, न सदसत है। वस्तुतः स्वरूप विस्मृति ही माया है। उसी प्रकार माया मोहित जीव को ही भेद प्रपंच की भ्रान्ति हो रही है। माया का पड़दा हटते ही एकमात्र, अखंड अद्वैत वस्तु ही शेष रह जाती है। इस भ्रान्ति का आधार भी परब्रह्म ही है चूंकि कोई भ्रान्ति भी आधारहीन नहीं हो सकती। एक अन्य स्थल पर उपरोक्त उपनिषद में, माया के कारण ही ईश्वर के नाना रूप बताए गए हैं।

गौड़पाद ने अनेक श्रुतिवाक्यों का उदाहरण देकर परमात्मा की उत्पत्ति भी माया से ही मानी है। (गौड़पात कारिका ३.२४)। वास्तव में पारमार्थिक रूप से माया का भी अस्तित्व नहीं

रहता। शंकर ने कहा है कि माया अविद्यमान वस्तु का ही नाम है। वह अव्याकृत परम तत्त्व, इस माया रूपतत्त्व से अथवा स्वाभाव से संयुक्त होकर ईश्वर कहलाता है।

जगत के पदार्थ जो नित्यप्रति जन्म ले रहे हैं और विनाश को प्राप्त हो रहे हैं, उन्हें किसी ऐसी युक्ति से जिसका सम्बन्ध हमारे दैनिक ज्ञान से हो, सिद्ध करना संभव नहीं है। इस प्रयोजन के लिए उन्होंने एक अनिर्वचनीय, अव्याख्येय तत्त्व खोज की। इसपर समस्त द्वैताभासव मिथ्या प्रचीति की जिम्मेदारी डाल दी गई। इस तत्त्व को वेदांती अद्वैतवादियों ने माया कहा। जिस प्रकार गौड़पाद भारतीय प्रत्ययवाद के इतिहास में प्रथम वेदांती अद्वैतवादी है वैसे ही वे प्रथम मायावादी आचार्य भी हैं।

वैभाषिक-सत्कार्यवादी: यह नानात्मक जगत वस्तुतः सत्य है । इसकी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव हमें अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रतिक्षण होता है।

विज्ञानवादी -जगत तो माया -मरीचिका है।

सांख्य -इसके कार्यकारणवाद को सत्कार्यवाद कहते हैं । उत्पत्ति से पूर्व कार्य , कारण में अव्यक्त रूप में अवश्य उपस्थित रहता है।

न्याय -असत्कार्यवाद: यह कारण में कार्य को उपस्थित नहीं मानता।

फिर दो सत्य: गौड़पाद ने भी दो सत्यों को स्वीकार किया है: व्यावहारिक और पारमार्थिक। शंकर ने भी इसे गौड़पाद से ही लिया है।

शंकराचार्य

आचार्य गौड़पाद के परम शिष्य आदि शंकराचार्य , वेदांत परम्परा के सर्वाधिक प्रसिद्ध अद्वैतवादी हैं। इनका समय ईस्वी ७८८ माना गया है । बत्तीस वर्ष के अल्प जीवनकाल में ही उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' इनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

'ब्रह्मसूत्र,' वेदांत परंपरा' का प्रमुख ग्रंथ है। इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के चार भाग हैं। इसे बादरायण ऋषि द्वारा रचित माना गया है । उपनिषदों को ही वेदांत की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । यह साढ़े पांच सौ सूत्रों का अत्यंत स्वल्प ग्रन्थ है , जो कालांतर में समस्त वेदांत सिद्धांतों का आकरग्रंथ प्रमाणित हुआ । प्रत्येक सूत्र दो या तीन शब्दों से बने हैं अतः स्पष्ट अर्थ नहीं देते। स्वाभाविक तौर पर इसपर इतनी सारी टीकाएँ लिखी गईं।

१) शारीरिक भाष्य लिखते हुए शंकर ने अद्वैतवाद की स्थापना की।

२)भाष्कर भाष्य -----भाष्कर ने भेदाभेद अद्वैतवाद की स्थापना की। (ईस्वी. १०००)

३)श्री भाष्य -----रामानुज ने विशिष्टाद्वैत -----(ईस्वी११४०)

४)पूर्णप्रध्वनभाष्य ----मध्वाचार्य ने द्वैतवाद ----(ईस्वी 1238)

५)वेदांत पारिजात भाष्य----निम्बार्क ने द्वैताद्वैत ----(ईस्वी १२५०)

६)शैव भाष्य ----श्रीकंठ ने शैव विशिष्टाद्वैत ----(ईस्वी १२७०)

७)श्रीकर भाष्य ----श्रीपति ने वीर शैव विशिष्टाद्वैत ----(ईस्वी १४००)

८)अणु भाष्य ----वल्लभ ने शुद्धाद्वैत ----(ईस्वी १४७९-१५४४)

९)विज्ञानमृत भाष्य ----विज्ञानभिक्षु ने अविभागाद्वैत ----(ईस्वी १६००)

१०)गोविंदभाष्य -----बलदेव ने अचिन्त्य भेदाभेद -----(ईस्वी १७२५)

बापरे बाप, इतने सारे अद्वैतवाद। लेकिन इनमें शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क और वल्लभाचार्य ये महत्त्व के हैं।

कई विद्वानों के अनुसार शंकराचार्य के कई सिद्धांतों की पुष्टि सूत्रों से नहीं की जा सकती। कार्यकारण के सम्बन्ध में सूत्रकार परिणामवाद के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, विवर्तवाद के नहीं।

बौद्ध प्रत्ययवादी ---गौड़पाद का मायावाद -----शंकराचार्य भी इन प्रभावों से मुक्त नहीं।

शंकराचार्य: अद्वैतवाद:परमार्थ सत्ता रूप ब्रह्म का अस्तित्व | ब्रह्म सबका आत्मा | दृश्यमानजगत का मिथ्यात्व।

वेदांत:विवर्तवाद: कार्यो के रूप में परिवर्तन काल्पनिक है, मिथ्याभास है, माया है।

वेदान्तियों ने उपादान कारण से विषम कार्य की सत्ता को विवर्त कहा है। इस परिभाषा के अनुसार परमार्थ सत्य ब्रह्म से, मिथ्या जगत की सत्ता विषम होने के कारण, जगत ब्रह्म का विवर्त है। यह वेदान्तियों की जगत के अस्तित्व के प्रति व्याख्या है। जगत कार्यरूप है। ब्रह्म कारण रूप है। परमार्थ रूप से, कारण से कार्य की अभिन्नता है। सत्ता एक ही है। अभाव से कुछ उत्पन्न नहीं होता।

परिवर्तन के मानसिक आरोपण को 'अध्यास' कहा गया है। इसे ही दूसरे 'भ्रम' कहते हैं। किसी वस्तु में, उससे भिन्न वस्तु का आरोप करना अध्यास है। यह अध्यास कैसे होता है और

होता ही क्यों है ?-इसका शून्यवाद के पास भी कोई उत्तर नहीं है । तो वेदान्तियों ने 'मायावाद' सामने रखा।

ज्ञेय रूप विषयों की सत्ता केवल व्यवहार में है।

अध्यास अज्ञान मूलक होता है। अज्ञान को ही अविद्या कहा है। शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया को पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया है। अज्ञान असीम और असंसारी आत्मा को आच्छादित कर देता है। ऐसा माया के आवरण शक्ति का सामर्थ्य है। इस प्रकार एक ओर माया की आवरण शक्ति, ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का तिरोधान करती है तो दूसरी ओर इसकी 'विक्षेप' शक्ति, उसमें अयथार्थक रूप जगत की प्रतीति का प्रकटीकरण करती है। यह विक्षेप शक्ति ही सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक, जगत की सृष्टि करती है। माया को अविद्या के रूप में परमात्मा की अव्यक्त बीज शक्ति कहा गया है। उस माया रूप शक्ति का ही नाम अव्यक्त है।

शंकराचार्य के अनुसार वेद (श्रुति) और धर्मशास्त्र (स्मृतियाँ) अंतिम सत्य है । वे घोषणा करते हैं कि जो वस्तु, शास्त्र का विषय हो, उसके सम्बन्ध में तर्क उठाना ठीक नहीं। शंकराचार्य ने शास्त्र-प्रमाण को अंतिम मानते हुए तर्क को भ्रान्तिपूर्ण कहा है (केन भाष्य)। श्रुति सम्मत तर्क ही मान्य है। (ब्रह्मसूत्र :शंकर भाष्य:२.१.६)। तार्किकों को दया का पात्र कहा है। (बृहद उपनिषद, शंकर भाष्य)

उपनिषदों ने यह सिद्धांत बताया कि परिवर्तनशील जगत का यथार्थ तत्त्व ब्रह्म है। परन्तु यह जगत सर्वथा असत्य और भ्रममात्र है ऐसा सिद्धांत स्पष्ट रूप से, उपनिषदों में नहीं है। इस सिद्धांत का प्रवर्तक शंकराचार्य को ही माना जाता है। शंकर और उनके पूर्व गौड़पाद ने माण्डूक्य उपनिषद कारिकाओं की व्याख्या में जगत के असत्य और भ्रम होने का प्रतिपादन किया। मायावाद, उपनिषदों में कोई महत्व नहीं पाता। बल्कि इसे बौद्ध मत से लिया गया है। विज्ञानभिक्षु आदि आचार्यों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है।

शंकराचार्य ने जगत की प्रतीतियों को भ्रमजन्य अर्थात् अज्ञान द्वारा उत्पन्न मानकर अपने विवर्तवाद की स्थापना की। यहाँ अज्ञान के दो कार्यों की कल्पना की गई। अज्ञान में चीजों को छुपा लेने की शक्ति ही नहीं होती बल्कि इसमें मिथ्या का आभास करवा देने की शक्ति भी होती है। इन्हें पारिभाषिक शब्दावली में, आवरण और विक्षेप शक्तियाँ कहा गया। इस अज्ञान को माया, अविद्या आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हुए, अनिर्वचनीय कहा गया है।

- शंकराचार्य सम्भवतः अनुभव कर रहे थे कि उनके व्यावहारिक प्रत्यक्ष अनुभवों के मिथ्यात्व का दर्शन, शुद्ध तर्क पर बिखर जायेगा - अतः यहाँ भी दो तरह के सत्य हैं।

माया का मायाजाल

गौड़पाद ने-जैसा कि पहले बताया गया है -

१)परमात्मा की उत्पत्ति भी माया से ही मानी है।

२)पारमार्थिक रूप से माया का भी अस्तित्व नहीं रहता।

अब आदि शंकराचार्य -

माया अविद्यमान वस्तु का ही नाम है।

अव्याकृत परम तत्त्व, इस माया रूपी तत्त्व अथवा स्वभाव से संयुक्त होकर ईश्वर कहलाता है।

विवर्त -उपादान कारण (ब्रह्म) से विषम, कार्य की सत्ता (जगत)को विवर्त कहा है।

कार्यों के रूप में परिवर्तन काल्पनिक है, मिथ्या है, भास है, माया है।

अध्यास -किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु का आरोप करना अध्यास (भ्रम) है। यह अज्ञान मूलक है। अज्ञान को ही अविद्या कहा गया है। अविद्या की पर्यायवाची है माया।

माया की-आवरण शक्ति का सामर्थ्य -अ) ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का तिरोधान करती है ।
आ) चीजों को छुपाने की शक्ति इसमें है।

माया की- विक्षेप शक्ति का सामर्थ्य -अ) उसके यथार्थ रूप जगत की प्रतीति का प्रकटीकरण करती है आ) इसमें मिथ्या आभास करवा देने की शक्ति है । इ) जगत की सृष्टि करती है।

माया अविद्या के रूप में परमात्मा की अव्यक्त बीज शक्ति है।

उस माया रूप, शक्ति का नाम अव्यक्त है।

ब्रह्म और उसका स्वाभाविक परिणाम माया है।

माया अनादि है। चूँकि वह अनादि है, ईश्वर की शक्ति है। प्रलय के पश्चात् भी वह बीज रूप में ईश्वर में विद्यमान रहती है। वह ईश्वर पर निर्भर है। वह ईश्वर से भिन्न नहीं है।

माया, सांख्य की प्रकृति के समान जड़ और अचेतन है । वह ब्रह्म के स्वभाव के विपरीत और स्वभाव से भिन्न है।

माया भाव रूप तो है, लेकिन यथार्थ नहीं है।

उसीसे जगत की सृष्टि होती है।

ज्ञान होने पर वह दूर हो जाती है । ब्रह्म भाव होने पर मायारूपी नाम-रूपात्मक जगत का भी अस्तित्व नहीं रहता।

पारमार्थिक स्तर पर एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है । माया व्यावहारिक जगत में उसी ब्रह्म का विवर्त है।

माया अनिर्वचनीय है। वह सत है क्योंकि ईश्वर के समान अनादि है और जगत की सृष्टि करती है। वह असत है क्योंकि ईश्वर से अलग उसकी कोई सत्ता नहीं है। वह ईश्वर की शक्ति है।

यह अध्यास रूप है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प का मिथ्यारोप किया जाता है उसी प्रकार मायावश जीव एक निर्गुण ब्रह्म को नाना रूपात्मक जगत के रूप में देखता है।

माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है। लेकिन जिस प्रकार जादूगर पर उसके अपने जादू का असर नहीं होता वैसे ही ब्रह्म पर माया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

शंकराचार्य ने-माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, अध्यारोप, अनिर्वचनीय, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, अक्षर, बीजशक्ति, मूल-प्रकृति इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। एक जगह उन्होंने अविद्या को भी अनादि कहा है। लेकिन शंकर के बाद कुछ आचार्यों ने अविद्या और माया में भेद किया है । उनके अनुसार अविद्या निषेधात्मक और जीवजगत है तो माया स्वीकारात्मक और विभु है।

शंकराचार्य के अनुसार -विषय

१)प्रातिभासिक -वे विषय जो स्वप्न अथवा भ्रम आदि में क्षण के लिए प्रकट होते हैं , लेकिन जागृतावस्था आदि से बाधित हो जाते हैं।

२)व्यावहारिक -जगत के समस्त व्यवहार जो स्वाभाविक, जागृत अवस्था में प्रकट होते हैं लेकिन तार्किक दृष्टि से बाधित होने की सम्भावना के कारण सत्य नहीं कहे जा सकते।

३)पारमार्थिक शुद्ध सत्ता।

इसके अतिरिक्त भी पदार्थ है जैसे वन्ध्या का पुत्र आदि।

हम एक तिलस्मी उपन्यास पढ़ते हैं जिसका जीवन से तिनके इतना भी सम्बन्ध नहीं होता। केवल मन बहलाने पढ़ते हैं। वेदांती दर्शन के उपरोक्त सार का स्वरूप इससे क्या अलग है ? इसमें आप किस चीज की किस चीज के साथ संगती ढूँढ़ेंगे और उस आधार पर जीवन जी पाएंगे? फिर भी यह दुनिया का सर्वोच्च ज्ञान है!

जिसमें आप जी रहे हैं उस जगत को ही पूरी तरह मिथ्या घोषित कर देने के बाद , उससे बड़ी भाववादी कल्पना क्या की जा सकती है। काल्पनिक, शाब्दिक कसरतें, टीकाएँ आगे भी लिखीं जायेंगीं। लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में ऐसी विद्वत्ता की उपयोगिता?

माया की पुरातन संकल्पना -

निघण्टु के अनुसार -१) प्रज्ञा शब्द के लिए एक अन्य शब्द था माया | २) प्रज्ञा का सामान्य अर्थ है -बुद्धि, ज्ञान। ३) प्रज्ञा के लिए एक और पर्यायवाची था 'धी'। लेकिन 'धी' का अर्थ -क्रिया या कर्म।

स्पष्ट है प्रारंभिक ऋषियों के लिए ऐसी कोई प्रज्ञा नहीं थी जो कर्म से जुड़ी न हो | जो थी वह व्यावहारिक क्रियाओं और गतिविधियों से जुड़ी प्रज्ञा।

कर्म के लिए एक और पर्याय है 'ऋत'। इसी शब्द का अर्थ प्रज्ञा भी था। कर्म और प्रज्ञा दोनों का समानार्थक शब्द -'शची'। तो साफ है माया का मूल अर्थ अगर प्रज्ञा था तो यह कर्म से पृथक् प्रज्ञा नहीं थी।

सायण ने भी माया का अर्थ प्रज्ञा ही लगाया है।

यह शब्द 'माम्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। माम् का अर्थ है मापना। इसके साथ 'या' प्रत्यय लगाने पर अर्थ हो जाता है , जिससे वस्तुओं को निश्चित आकार मिलता है | (मियन्ते परिच्छिद्यन्ते आनय पदार्थाः) | इस प्रकार प्रज्ञा तथा कर्म को संयुक्त होने की इस आदिम अवधारणा के कारण इस बात की पूरी सम्भावना है कि माया मुलतः चमत्कार का अर्थ रखती थी।

मैक्डॉनल, "अंग्रेजी" भाषा में माया का लगभग पूर्णतया समानांतर शब्द है 'क्राफ्ट', जिसका प्राचीन काल में एक अर्थ था , अज्ञात शक्ति, जादू और कौशल, कला और दूसरा अर्थ था छलयुक्त कौशल, मक्कारी। माया का शुभ अर्थ मुख्यतः वरुण और मित्र से जुड़ा हुआ है तो अशुभ अर्थ है दानव या राक्षस।

इस सारी चर्चा से यह आभास मिलता है कि मुलतः माया की अवधारणा , बाद के काल के इसके घृणित पक्ष अर्थात भ्रम या अविद्या से कितनी अलग थी | वस्तुतः प्रारंभिक वैदिक ऋषियों को अविद्या शब्द का ज्ञान ही नहीं था। यह शब्द ऋग्वेद में है ही नहीं। साफ है कि इसका कारण यही रहा कि ये ऋषि एक ऐसे समाज में रहते थे जिसमें कर्म या कार्य करने के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ था | इसीलिए प्रज्ञा-कर्म का पुरातन विचार 'ऋग्वेद' में इतना महत्वपूर्ण है।

वैदिक ऋषियों की पौराणिक कल्पनाओं में वरुण का पतन , प्राचीन सामूहिक जीवन के विघटन का प्रतीक था और इससे उन्हें न केवल ऋत के विलुप्त होने बल्कि माया के सम्बंध में प्राचीन विचार के स्पष्ट ह्रास का आभास हुआ जबकि माया को वे पुरातन प्रज्ञा तथा कर्म का मिश्रण मानते थे।

ब्रह्म

निघण्टु के अनुसार ब्रह्म , अन्न या संपत्ति का पर्यायवाची है | ब्रह्म शब्द 'बृह' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसके साथ 'मनिन' प्रत्यय लगाने से इसका अर्थ होता है 'अभिवृद्धि करना'। इस कारण ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ है वह जिसकी वृद्धि सभी पशु करते हैं , जिसका सदा भक्षण होने के बाद भी जिसमें कोई कमी नहीं आती , जो स्वाभाव से ही बढ़ता रहता है , क्योंकि उसमें सारे संसार का पोषण करने का गुण है या जिसके द्वारा सभी प्राणियों में वृद्धि होती है | (तैत्तरीय उपनिषद: ११.२.२)

तैत्तरीय का यह अंश आरंभिक वैदिक काल के आदिम भौतिकवादी मत के अवशेष की ओर इंगित करता है। उस काल के मत के अनुसार अन्न ही मूलभूत सत्य था | यह ऐसा युग था जब अन्न को ही संपत्ति समझा जाता था।

तैत्तरीय उपनिषद भी किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं था। स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ में विभिन्न विचार संग्रहित हैं। इनमें कुछ तो आरम्भिक काल के हैं और कुछ बाद के भाववादी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हैं। तैत्तरीय उपनिषद ही एकमात्र उपनिषद है जिसमें ऋत का उल्लेख हुआ है।

वेदांत

दर्शन शास्त्र की परंपरा में वेदांत को उत्तर-मीमांसा कहा जाता है।

वेदांत के आधारभूत ग्रन्थ तीन हैं -उपनिषदें , ब्रह्मसूत्र और गीता। शंकराचार्य ने तीनों पर अपने भाष्य लिखे हैं।

वेदांत का विकास -

१) प्राचीन युग (वेद-उपनिषदें)

२) मध्य युग (ब्रह्मसूत्र)

३) अंतिम युग (सभी भाष्यकार)

- जब जीव, आत्मा, ईश्वर आदि के अस्तित्व पर विश्वास किया जाता है , वह व्यावहारिक दृष्टिकोण से है। शंकराचार्य के अनुसार यह दृष्टिकोण निम्न कोटि का है। इसे वे भ्रम या माया कहते हैं। साधारण जन 'ब्रह्म' का ज्ञान पारमार्थिक दृष्टिकोण से प्राप्त नहीं कर सकते, चूंकि वे अविद्या से ग्रस्त होते हैं। जिस दिन उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जायेगा , उस दिन वे समझ जायेंगे की ब्रह्म ही सत्य है और जगत असत्य।
- सगुण ब्रह्म का ही नाम ईश्वर है। लेकिन अज्ञानी लोग ही उसे इस रूप में देखते हैं। उपनिषदों में सगुण को 'अपरब्रह्म' तथा निर्गुण को 'परब्रह्म' कहा है। शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण की उपासना नहीं की जा सकती। अतः धर्म का केवल व्यावहारिक महत्व है।

ब्रह्म क्या है?

इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे होनेवाला ब्रह्म फिर भी अज्ञेय नहीं है। न वह शून्य है।

कर्म के प्रकार- संचित, प्रारब्ध, संचयीमान।

जब पारमार्थिक दृष्टि से जगत, तुम, मैं, मिथ्या ही हैं, तो समस्त प्रमाण भी मिथ्या ही होंगे।

इतना सब कहने के बाद फिर उन्होंने कुछ सीमा तक वैदिक कर्मकांडों को भी स्वीकृति दी। ज्ञान को अधिक महत्व दिया और ज्ञान के लिए आवश्यक है, वेदों का अध्ययन। यह सदाचार में सहायक होता है।

अंत में मुक्ति क्या है?

क्या जीव की मुक्ति का मतलब जीव का विनाश है? विभिन्न आत्माएं, ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म हो जाती हैं। अविद्या की निवृत्ति ही ब्रह्म प्राप्ति है, आसक्ति से छुटकारा।

विवर्तवाद- प्रतिबिंबवाद (फिर एक और वाद) - अवच्छेदवाद

शंकराचार्य ने चार धर्मों में चार मठों की स्थापना भारत की चार दिशाओं में की-१) मैसूर (शृंगेरी); २) गोवर्धन मठ (जगन्नाथपुरी); ३) शारदा मठ (द्वारका) तथा ४) ज्योतिर्मठ (बद्रीनाथ)

रामानुज का विशिष्टाद्वैत

रामानुज के अनुसार जीव और ईश्वर एक नहीं हो सकते | दोनों में अद्वैत अवश्य है लेकिन विशिष्ट प्रकार का। इसी कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

रामानुज संसार को मिथ्या नहीं मानते।

बंधनों से मुक्त होने का साधन रामानुज के अनुसार भक्ति है | ऐसा ज्ञान जिसे पाकर सब वस्तुओं से विरक्ति हो जाती है उसे भक्ति कहा जाता है अर्थात् पूर्ण समर्पण।

रामानुज वैष्णव धर्म के अनुयाई थे।

आत्मा का ब्रह्म के साथ एकाकार होने का अर्थ है आत्मा, ब्रह्म सदृश्य हो जाती है।

भाववाद

भाववाद प्रकृति के अस्तित्व को न माननेवाला एक नकारात्मक सिद्धांत है।

इतनाही नहीं तो इसमें यह निश्चित सिद्धांत है कि आत्मा या चेतना ही परम सत्य है और मानव मष्तिष्क ही वास्तवता का सञ्चालन करता है।

मार्क्स के अनुसार भाववादी दृष्टिकोण समाज विकास की प्रक्रिया का परिणाम था।

श्रम में एक प्रकार की वस्तुनिष्ठ बाध्यता होती है | श्रम द्वारा प्रकृतिदत्त वस्तुओं को अपने लिए उपयोगी बनाया जाता है | मनुष्य जब बाह्य जगत की वस्तुओं पर कार्य करता है तो वह उनकी सत्यता को समझने लगता है। या अन्य शब्दों में श्रमरत मनुष्य की चेतना इस जगत के ठोस भौतिक पदार्थों पर केंद्रित रहती है और वह काल्पनिक विचारों में नहीं उलझती | जब सामाजिक विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप श्रम को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगता है , इसे पतन और हीनता का परिचायक समझा जाने लगता है तो मानव चेतना अर्थात् शासक वर्ग की चेतना अपने आप को श्रम-प्रक्रिया की जिम्मेदारी से अलग कर लेती है , अपने आप को श्रम द्वारा अपने लिए ठोस भौतिक आवश्यकताएं जुटाने के उत्तरदायित्व से दूर कर लेती है | यह दायित्व किसी न किसी आधार पर दूसरे पर थोप दिया जाता है और यहीं दूसरे के शोषण का आरम्भ हो जाता है। इस दृष्टिकोण की विशिष्टता यह नहीं है कि इसमें शारीरिक श्रम की भूमिका समाप्त हो जाती है बल्कि उसे सामाजिक यथार्थता में जानबूझकर गौण बना दिया जाता है यहाँ तक कि इस शारीरिक श्रम का स्तर इतना गिरा दिया जाता है , उसके प्रति ऐसा घृणा भाव पैदा कर दिया जाता है कि वह सामाजिक दृष्टिकोण की स्थापना में किसी प्रकार की भूमिका निभाने का दावा न कर सके | यह भाववादी दृष्टिकोण है | जब चेतना के स्थान पर ईश्वर , आत्मा आदि

शब्दों का प्रयोग होने लगता है , काल्पनिक संकल्पनाओं का गठन आरम्भ होता है तो यह अध्यात्मवाद कहलाता है और यह इस रूप में अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता प्रदर्शित करता है।

श्रम प्रक्रिया पूरी तरह प्रकृतिदत्त वस्तुओं पर निर्भर है तो मानव चेतना स्वयं को उससे मुक्त किये बिना भाववादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो ही नहीं सकती चूँकि भाववाद की पहली शर्त यही है कि प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व को नकार दिया जाए।

श्रम प्रक्रिया मूल रूप से प्रकृति और मानव देह के बीच की प्रतिक्रिया है । भौतिक विश्व, प्रकृति की वास्तवता , तब तक मानव चेतना पर अपनी छाप बनाए रखती है जब तक मनुष्य श्रमसाध्य कार्यों में रत रहता है। श्रम एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों की भूमिकाएं होती हैं । श्रम-प्रक्रिया की भूमिका पर मार्क्स ने बहुत गहन चिंतन और विश्लेषण किया हैं और यह दिखाया है कि किस तरह यह प्रक्रिया भौतिक जगत या प्रकृति की भौतिक यथार्थता को स्वीकार करने पर निर्भर करती है। (लोकायत पृष्ठ ५३०)

जादूटोना - तंत्रवाद

आज भी हम देखते हैं कि जिस भी कार्य में अनिश्चितता की स्थिति अधिक होती है , वहां मनुष्य का झुकाव अतार्किक विधि-विधानों को अपनाने की ओर अधिक होता है।

मनुष्य जाति का एक जगह स्थाई होना जब शुरू हुआ तो उसने जीवनयापन के लिए कृषि को अपनाना शुरू किया।

बोइयोतिया में डायोनिसस सम्प्रदाय को कृषि की खोज और आरम्भ करनेवाला माना गया है।

उसी तरह यह भी स्थापित हो गया है कि कृषि की खोज स्त्रियों ने की है। उन्होंने ही खेती की तकनीक भी विकसित की।

सभी आदिम जनों का यह विश्वास रहा है कि किसी अन्य कार्य की अपेक्षा कृषि कार्य , चमत्कारिक शक्ति और विधि पर अधिक निर्भर करता है और मनुष्य के कर्तृत्व और श्रम पर कम।

उस समय कृषि की तकनीक बिल्कुल ही निचले स्तर की थी जिस कारण अच्छी फसल होने की संभावना बहुत अनिश्चित होती थी। काफी कुछ प्रकृति की मर्जी पर निर्भर होता था । स्वाभाविक तौर पर कृषि कार्य में दूरदर्शिता, धैर्य और विश्वास इनकी आवश्यकता होती थी।

उनकी ये सारी मनोवैज्ञानिक जरूरतें पूरी होती थीं जादू-टोने से । वास्तविक विधि को एक भ्रामक विधि का मनोवैज्ञानिक सहारा चाहिए था।

वैसे जादू टोने का आधार अज्ञान ही है।

एक अच्छी फसल की मूल आवश्यकता होती है वर्षा । कृषि की सफलता से सम्बद्ध कोई भी अनुष्ठान इतने अधिक महत्व का नहीं है जितना कि वर्षा को नियंत्रित करने के उद्देश्य से किया जानेवाला अनुष्ठान। इन अनुष्ठानों को आमतौर पर स्त्रियों का विशेष कार्य समझा जाता था और वे ही इसे क्रियान्वित करती थीं । दुनिया के कई देशों में पुजारिनियों का बड़ा महत्व और सम्मान था । उदा. पूरातन सम्प्रदायों में जो डायोनिसस धर्म से जुड़ गए थे । यही स्थिति बेबीलोनिया, असीरिया, मिश्र आदि देशों में भी थी । बाद में पुरुषप्रधान परिवार के उदय के साथ

यह कार्य पुरुष पुजारियों को हस्तांतरित हो गया। लेकिन मूल प्रथा के लक्षण फिर भी निम्न रूपों में बने रहें।

सीरिया की देवी ईस्टर के पेसिनिस के पुजारी गेली और कुरेटिस के हिमायती पुजारी एफिसियन आर्टेमिस तथा अन्य देवियों के पुजारियों को अपना पुरुषत्व समाप्त करना पड़ता था । बाद के ऐतिहासिक काल में सिबिल के पुजारी हिजडे होते थे जिन्हें 'गैलोई' कहा जाता था। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ईसा पूर्व तीसरी सदी के आसपास सिकंदर से सम्बंधित साहित्य में मिलता है । लेकिन बाद में इसे प्रतीकात्मक रूप मिल गया और पुजारी केवल स्त्री वेश धारण करने लगे।

यह सारा विधि-विधान इस समझ पर भी आधारित था कि -

बवेरिया और ऑस्ट्रियन किसान मानते थे कि गर्भवती स्त्री में उत्पादकता का प्रसार करने का चमत्कारिक गुण होता है। यदि किसी वृक्ष का पहला फल किसी गर्भवती को खाने को दिया जाए तो आनेवाले मौसम में वह वृक्ष भरपूर फल देगा । इससे उल्टा बगांडा जाति के लोगों में विश्वास है कि एक बाँझ स्त्री अपने पति के खेत को भी अनुत्पादक बना देगी । इसलिए ऐसी स्त्री को आमतौर पर तलाक दिया जाता था । दूर की बात क्यों अंडमान के निवासियों की धारणा थी कि यदि गर्भवती स्त्री बीज डाले तो वह अच्छी तरह फलेगा-फुलेगा।

यौन सम्भोग और गर्भ धारणा के बीच के सम्बन्ध को समझने , मनुष्य जाति को कई युग लगे। प्रत्यक्ष पिछली सदी तक कुछ ऑस्ट्रियन और अमेरिकन आदिवासी इस बात से अनजान थे। उन्हें समझाने में ख्रिश्चन पादरियों को बड़ी कठिनाइयां हुईं । होटेनटाट कबीले में यह विश्वास था कि जबतक स्त्री नग्न होकर वर्षा में नहीं भीगती तबतक वह गर्भवती नहीं हो सकती, आदि। इतिहास बताता है कि ऐसी धारणाएं सारे विश्व में फैली थीं । आज भी हम श्रीफल को उर्वरता का प्रतीक मानते हैं और सन्तानोत्सुक स्त्री को प्रसाद रूप में उसे दिया जाता है । तो उपरोक्त दो धारणाओं में कहा अंतर है?

एक ओर तो स्त्री की प्रजनन क्रिया को प्रकृति की उत्पादकता में वृद्धि करनेवाली क्रिया समझा जाता था तो दूसरी ओर प्रकृति की उर्वरता को मानव की विशेषतः स्त्री की प्रजनन क्षमता में सहायक।

सूखे की स्थिति में वर्षा के लिए आज भी कई तरह के अनुष्ठान किए जाते हैं । दुनिया के कई हिस्सों में ये अनुष्ठान स्त्रियों द्वारा नग्नावस्था में किए जाते थे । ऐसे अनुष्ठान अधिकतर पिछड़े वर्ग की स्त्रियां करती थीं। इसके पीछे की सोच यह थी कि स्त्री का प्रजनन अंग इस प्रकार प्रदर्शित करने से प्रकृति की उर्वरता में वृद्धि होगी । ऐसे उदहारण कांगो आदि की जनजातियां , बरोंगा स्त्रियां आदि में मिलते हैं।

ऐसी सोच पर आधारित अनुष्ठान ही जादू-टोना अस्तित्व में आने का आधार है।

जब जादू-टोने का काम स्त्रियों के हाथों से पुरुषों के हाथों में आया तो मानव प्रजनन शक्ति को पुरुष के लिंग में केंद्रित समझा गया । आगे लिंग के प्रतीकों और उस आकार की प्रतिमाओं को धार्मिक कार्यों में व्यापक रूप से प्रयोग में लाया जाने लगा।

जो कुछ भी मानव शरीर में है, वही ब्रह्माण्ड में है -

सभी चिंतन धाराएं इस या उस रूप में इसे स्वीकार करती हैं । तो ब्रह्माण्ड का जन्म और शिशु की उत्पत्ति में समानता देखी गई और फिर देखते-देखते इस दृष्टि ने एक सिद्धांत का रूप ले लिया। कृषि सम्बंधित जादू-टोने में निहित विश्वास ने एक विस्तृत रूप ले लिया।

विश्वोत्पत्ति का सिद्धांत-

यह सिद्धांत दुनिया में सार्वत्रिक पाया जाता है । थॉमसन के अनुसार , "इस प्रकार के सभी विश्वोत्पत्ति सिद्धांत जो प्रत्यक्षतः अत्यंत पुरातन काल से हैं, 'आनुवंशिक' कहलाते हैं।"

ये सारे इसी विश्वास पर आधारित हैं कि विश्व , वामोद्भव है अर्थात् स्त्री से उत्पन्न है और पुरुष के साथ स्त्री के संयोग से उपजा है । इसका केंद्रबिंदु है -विश्व की उत्पत्ति काम से हुई है। भौतिक विश्व का सृजन यौनीय प्रजनन क्रिया द्वारा हुआ है । हिन्दू, माओरी तथा ताओवादियों के अलग-अलग सिद्धांतों में मैथुन से ही सृष्टि की उत्पत्ति होने की बात बताई गई है।

आदिम कृषि सम्बन्धी जादू-टोने की विशेष क्रियाएं थीं । वे तांत्रिक क्रियाओं का मूलभूत आधार बन गईं और तंत्रवाद का उदय हुआ।

तंत्रवाद का विकृत स्वरूप-

आधुनिक मानदंडों की दृष्टि से देखें तो संभवतः और कोई बात तंत्रवाद के यौन सिद्धांतों तथा क्रियाओं से अधिक विकृत, अश्लील और घृणित नहीं होगी। चिंतको के अनुसार इस कारण या तो तंत्रवाद को पूरी तरह निंदनीय बता दिया गया या इसकी अश्लीलता पर परदा डालने के लिए इसे रहस्यात्मक आध्यात्मिकता में लपेट दिया गया जिसने धर्म का एक रूप ले लिया।

लेकिन इस तरह की असंस्कृत विचित्रताओं के होते हुए भी उसका भारत के समाज पर और पर्याय से भारतीय संस्कृति पर जबरदस्त प्रभाव रहा है।

तंत्रवाद में सबसे अधिक बल उन अनुष्ठानों पर दिया जाता है जो स्त्री योनि पर केंद्रित हैं। इसके लिए सामान्य शब्द है 'भग'। लेकिन तंत्रवाद की शब्दावली में इसे बहुधा 'लता' कहा जाता

है। भग पर केंद्रित धार्मिक क्रियाओं को 'भगयज्ञ' कहा जाता है जिसका शब्दिक अर्थ है स्त्री के गुप्तांग का अनुष्ठान या 'लता साधना'। तांत्रिक यंत्रों में भी अर्थात् इसके प्रतीकात्मक रेखाचित्रों में भी, स्त्री के गुप्तांगों पर ही जोर दिया जाता है। तंत्रवाद में पद्म या कमल को भग या योनि का प्रतीक माना जाता है।

(हमने तंत्रवाद का स्रोत कृषि कार्यो से जुड़े जादू-टोने में होने की बात पीछे कही है । एक विश्वव्यापी नियम है कि जादूगरनियाँ अपने मन्त्रों को प्रभावशाली बनाने के लिए निर्वसना होकर क्रियाएं करती थीं। इसके उदाहरण ग्रीस, इटली आदि जगह मिलते हैं।)

यंत्र -

ये एक प्रकार के रेखाचित्र हैं। वे स्त्री योनि के प्रतीक हैं। भंडारकर जी की एक टिपण्णी श्रीचक्र और श्रीयंत्र के सम्बन्ध में मिलती है -

"इसमें स्त्री योनि के चित्र की पूजा की जाती है। यह चित्र एक अन्य चित्र के बीचोबीच बना होता है और एक दूसरे चित्र में इस प्रकार के नौ योनियों के रेखाचित्र होते हैं । ये सारे मिलकर 'श्रीचक्र' बनता है।

तंत्रवाद में भिन्न-भिन्न नामोंवाले कई यंत्र हैं । इनमें से 'श्रीचक्र' एक है । लेकिन इन सबमें मूलभूत विशेषता एक ही है । इसमें योनि को या तो पद्म के चित्र से या फिर एक त्रिकोण के रेखाचित्र से प्रस्तुत किया जाता है। आमतौर पर दोनों चित्र होते हैं। अधिकांश यंत्रों में हमें एक लता का चित्र भी दिखाई देता है जो केंद्र में योनि के प्रतीकात्मक चित्र के चारों ओर लिपटी होती है। इसे कल्पलतिका (इच्छा पूर्ति करनेवाली लता) कहा जाता है।

तांत्रिकों की पांच क्रियाओं को पंच मकार या पाँच 'म' कहा जाता है क्योंकि इनके नाम 'म' से शुरू होते हैं। ये हैं - मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा, मत्स। इनमें पहले तीन नाम सर्वाधिक महत्त्व के हैं।

तंत्रवाद का अर्थ -

तन धातु में स्रत प्रत्यय लगने से 'तंत्र' शब्द बना है। तन धातु का मूल अर्थ है प्रजनन।

तंत्र -

मन्त्र, तंत्र और यंत्र ये भारतीय संस्कृति की एक साधना पद्धति के तीन स्तर हैं।

मन्त्र ये आराध्य देव की स्तुति और अपनी कामना प्रकट करने का माध्यम है। प्रत्येक देवी-देवता का मन्त्र अलग-अलग होता है। लोगों का विश्वास है कि मन्त्र का जाप करने से कामना पूरी होती है। इसके विधि-विधान में सात्विकता अधिक होती है। अतः प्राणिमात्र के कल्याण की कामना की जाती है। किसीके अकल्याण की कामना करना इसमें निषिद्ध है।

तंत्र-यह मन्त्र की तुलना में अधिक सांसारिक है। इसकी साधना जीवन के तीनों पक्षों-सात्विक, राजसी, तामसिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए की जाती है। उसके अनुसार इसके विधि-विधान में अनेक प्रकार की वस्तुएं, कई प्रकार के सामाजिक दृष्टि से निषिद्ध व्यवहार तथा घृणास्पद आचरण, कुत्सित, बीभत्स, हिंसक, अपराधिक प्रयोग किए जाते हैं।

सात्विक तंत्र: मानव मात्र की भलाई के लिए है।

राजसी तंत्र: सत्ता, अधिकार, उचित मार्ग से धन की प्राप्ति, पसंद की स्त्री की प्राप्ति आदि के लिए किया जाता है।

तामसिक तंत्र: शत्रु की मृत्यु, हिंसात्मक इच्छाओं की पूर्ति, किसी अन्य के शरीर एवं धन को हानि, किसी का वंशनाश आदि के लिए इसे किया जाता है। इसमें हिंसक बलि, कुत्सित तथा समाज वर्जित व्यवहार, मांस, मदिरा, मैथुन तथा कई प्रकार की घृणात्मक चीजों का सेवन आदि का अंतर्भाव रहता है।

तंत्रों की सफलता-असफलता का कोई निश्चित मापदंड नहीं होता। तंत्र साधना से संयोगवश कोई घटना हो जाए तो उसे तंत्र से जोड़ दिया जाता है और एक चमत्कार के रूप में प्रचारित किया जाता है। लेकिन असफलता का सारा दोष विधि-विधान में हुई गड़बड़ी पर डाल दिया जाता है। लेकिन इसका विधि-विधान ही इतना पेचीदा होता है कि उसे पूर्णतः पूरा करना आमतौर पर किसी साधक के लिए संभव नहीं होता।

#वैसे तो तंत्र की साधना में मन को एकाग्र करने का ही उद्देश्य रहता है। इसी कारण घुनसान स्थान, स्मशान, रात्रि का तृतीय पहर आदि का महत्त्व होता है।

लेकिन तांत्रिक सामान्य मनुष्य की मानसिक कमजोरी का फायदा उठाते हैं और इसके विषय में तरह-तरह के अंधविश्वास समाज में फैलाते हैं। वास्तव में जीवन में सफलताएं अपने आत्मविश्वास, प्रयत्नों और कभी-कभी संयोग से मिलती हैं, किसी मन्त्र-तंत्र से नहीं।

तंत्रवाद का उद्भव

जहातक तंत्रवाद के उद्भव का प्रश्न है , विद्वानों का ऐसा मानना है कि भारत के इतिहास में अत्यंत प्राचीन काल से एक ऐसी अंतर्धारा प्रवाहमान थी जो धार्मिक इतिहास के लिए तो सामानांतर थी लेकिन किसी भी गूढ़ तत्व मीमांसीय चिंतन से मुक्त थी । उनके अनुसार यह वेदों से भी पुरानी हो सकती है । साथ-साथ रहस्यमय यौगिक क्रियाओं की भी एक अंतर्धारा प्राचीन काल से थी।

जैसा कि कहा गया है , आदिम कृषि सम्बन्धी जादू-टोने की विशेष क्रियाएं थीं । वे उपरोक्त अंतर्धारा के साथ जुड़कर तांत्रिक क्रियाओं का मूलभूत आधार बनीं तो दूसरी ओर वैदिक दिशा में भी उनका सम्बन्ध बन गया । प्रारंभिक वैदिक जनों की पशुपालन अर्थव्यवस्था , प्रारंभिक कृषि व्यवस्था की तुलना में चमत्कार , जादूटोना क्रियाएं इनपर उतनी निर्भर नहीं थी , चूँकि इसमें अनिश्चितता का अंश तुलनात्मक दृष्टि से कम था । इस कारण मैक्डोनल के अनुसार जादूटोना विषयक ऋचाएं ऋग्वेद के बाद के चरणों में पायी जाती हैं । आमतौर पर यही माना जाता है कि इसमें देवताओं को प्रसन्न करने की प्रार्थनाएं हैं । मैक्डोनल के अनुसार ऋग्वेद १०२८ ऋचाओं में से केवल १२ ऋचाओं का सम्बन्ध जादूटोने से है । जादूटोने का तत्व बाद की कृतियों (जैसे यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ) में उत्तरोत्तर बढ़ता गया । यज्ञ का उद्देश्य देवताओं को प्रसन्न करना था तो जादूटोने का उद्देश्य परिस्थितियों का नियंत्रण करना होता था जो मानसिक आत्म सांत्वना की दृष्टि से अधिक व्यावहारिक था । ऋग्वेद में यज्ञ से सम्बंधित किसी जादूटोने की क्रियाओं के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती । लेकिन यज्ञ सम्बन्धी सारे कर्मकांडों में यह विचार जरूर अंतर्भूत हुआ दिखता है कि यज्ञ करने से मनुष्य देवताओं को वश में करता है और उनके हस्तक्षेप के बिना भी परिस्थितियों और घटनाओं पर सीधा प्रभाव डाल सकता है । उधर अथर्ववेद की मुख्य विषयवस्तु जादूटोना ही है । यजुर्वेद का स्थान बीच का है । अर्थात् ऋग्वेद के बाद के यज्ञ साहित्य में इन पुराने यज्ञ कर्मों को जादूटोने का रूप दे दिया गया और ऋचाओं को मांत्रिक क्रियाओं का।

इसी कारण मनु के भाष्यकार कुल्लूक भट्ट के अनुसार श्रुतियाँ दो प्रकार की हैं - वैदिक और तांत्रिक।

जब उपरोक्त रहस्यमय क्रियाएं शैव और शाक्त मत के धार्मिक चिंतन के साथ सम्बद्ध हुई तो शैव और शाक्त तंत्रवाद बन गया । जब यह बौद्ध विचारों के साथ जुड़ गई तो बौद्ध तंत्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ । ये जब बंगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के साथ जुड़ीं तो इन्हीं रहस्यमय क्रियाओं ने गूढ़ वैष्णव संप्रदाय का रूप ले लिया जैसे 'वैष्णव सहजिया' संप्रदाय। उन विश्वास और

आस्थाओं ने अधिकतर धर्म का रूप ले लिया | मूल तंत्रवाद पर आध्यात्मिक विचारों की परतें चढ़ा दी गईं तो हिन्दू तंत्रवाद बना।

कुछ अन्य विशेष बातें -

पंचतत्त्वों, आकाश, सुमन और कुल स्त्री की पूजा करों, ऐसा वामाचार कहता है। शब्द है - वाम + आचार (स्त्री/काम + क्रिया या धार्मिक क्रिया -अर्थात् स्त्री या काम के अनुष्ठान।)

वास्तव में वामाचार बहुतसी तांत्रिक क्रियाओं का एक रूप मात्र है | हम वामाचार और तंत्रवाद को पूरी तरह एक नहीं मान सकते | तंत्रवाद का वामाचार, एक और विद्या दक्षिणाचार के एकदम प्रतिकूल है | कोई व्यक्ति दक्षिणाचारी तांत्रिक होते हुए भी वैदिक रास्ते का पथिक हो सकता है। दक्षिणाचार का आविर्भाव काफी बाद में हुआ। यह मत वेदांत या योग के अधिक निकट है।

मातृसत्तात्मक दक्षिण भारत अगर छोड़ दिया जाए तो बृहत्तर बंगाल ही ऐसा क्षेत्र है जहाँ तंत्रवाद सशक्त रूप से अस्तित्व में है।

लाल रंग: मासिक धर्मस्राव-

अरस्तु से लेकर तो अन्य प्राचीन तथा मध्ययुगीन प्रकृतिवादियों का विश्वास था कि स्त्री के मासिक धर्म का स्राव बंद होने के पश्चात गर्भाशय में जो रक्त बचता है उससे भ्रूण बनता है | अर्थात् यह जीवन उत्पन्न करनेवाला रक्त है | लाल रंग नवजीवन का प्रतीक है | यदि तंत्रवाद को उत्पादकता और प्रजनन क्रियाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित जादूटोने का परिणाम माना जाए तो तंत्रवाद में मासिक धर्म में होनेवाले रक्तस्राव को विशेष महत्व दिया जाना स्वाभाविक है। इस रक्त के लिए तंत्रवादियों का विशेष शब्द है 'कुसुम या पुष्प'। जैसे फल के पूर्व पुष्प वैसे गर्भ के पहले मासिक धर्म। इसलिए मासिक धर्म के रक्त को कुसुम या पुष्प कहते हैं।

मद्य -

मद्य भी रक्त जैसा ही है | इसे भी जीवनदायक वस्तु के रूप में समझा जा सकता है | इस कारण मद्य को भी मृत्यु पर विजय और जन्म को प्रोत्साहन देनेवाला माना जाता था | रोग से बचने या खेतों की उर्वरता बढ़ाने के लिए मद्य से धार्मिक क्रिया किए जाने के उदहारण मिलते हैं | कई जातियों में मृत्यु के समय किए जानेवाले, विवाह के समय के संस्कारों में मद्य का उपयोग होता था।

कुछ विद्वानों का तर्क है कि तंत्रवाद में मांस और मद्य का धार्मिक क्रियाओं में उपयोग किए जाने पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती , चूँकि यह स्वयं वैदिक रूढ़ियों से अलग नहीं है । वैदिक जनों द्वारा आमतौर पर प्रयोग में ली जानेवाली मदिरा को 'सोम' कहते हैं। सोम एक वैदिक देवता भी था। उसपर केंद्रित एक प्रमुख अनुष्ठान सोमयज्ञ कहलाता था। वैदिक साहित्य में इसे एक ऐसा साधन माना जाता था, जिसके द्वारा व्यक्ति मृत्यु पर विजय पाकर अमर हो सकता था।

इससे अधिक महत्वपूर्ण मादक पेय था 'सुरा'। यह सोम से अधिक मादक था और वैदिक साहित्य के अनुसार 'सुरा' उत्पादकता बढ़ाने से सम्बद्ध जादूटोने की धार्मिक क्रियाओं में काम आती थी। बाद में इस सुरा शब्द का उपयोग सामान्य मदिरायुक्त पेय के लिए होने लगा।

बौद्ध तंत्रवाद का प्रमुख केंद्र असम था । तंत्रवाद को महायान बौद्ध मत की एक शाखा बताया जाता है । बौद्ध मत अंतिमतः भाववादी दर्शन ही है । लेकिन संयमशील है । मूल बौद्ध धर्मग्रंथों में मद्य और मांस की निंदा की गई है लेकिन उनकी बौद्ध तंत्रवाद में महिमा बताई गई है। बौद्ध तंत्रों में हमें वैसा ही वर्णन मिलता है जैसा हिन्दू तंत्रों में है । एल.डी.लावाले पॉसिन के अनुसार बौद्ध तंत्रवाद, बौद्ध नाम के आवरण में लगभग बौद्ध-हिन्दू धर्म या शैव मत ही है। लेकिन जहातक बौद्ध मतों की पार्श्वभूमि है यह चिंतन का अति पतनशील रूप तो है ही। इतिहास से ऐसा लगता है कि समय के साथ समाज में विद्यमान अंधविश्वास बौद्ध मतों में घुस गए।

बौद्ध तंत्रवाद की चर्चा करते हुए एल.डि.लावाले ने कहा है कि 'वज्र' (इसका दूसरा नाम मणि है) पुरुष लिंग का श्लील या रहस्यमय नाम है।

शाक्त मत के अनुसार ईश्वर एक स्त्री रूप में है।

अब हम देखेंगे कि तंत्रवाद के मूल सार तत्त्व अर्थात् स्त्री-पुरुष सम्भोग के अनुष्ठान पर बाह्य विचारधाराएं थोपने के कितने प्रयत्न हुए । कल्पना सम्भोग की ही लेकिन बौद्ध तंत्रों में वह प्रजा और उपाय के बीच, हिन्दू तंत्रों में या तो शिव और शक्ति के बीच या हर-गौरी के बीच , वैष्णव सहजिया संप्रदाय में कृष्ण और राधा या रस और रति के बीच हो गई । एक अन्य प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनमें हिन्दू और बौद्ध मतों का प्रभाव होते हुए भी रसायन विद्या का आश्रय लिया गया है। इन ग्रंथों में संयोग की कल्पना पारे और अभ्रक के बीच की गई है।

असली तंत्रवाद मुख्यतः गुप्त क्रियाओं से बना है। और जो तांत्रिक ये क्रियाएं करते हैं वे उन्हें ऐसे व्यक्ति को सरलता से नहीं बताएँगे जिसने दीक्षा नहीं ली है।

संक्षेप में तंत्रवाद -

यह मानव देह को एक सूक्ष्म विश्व मानता है।

तंत्रवाद में स्त्री तत्वों को बहुत प्रधानता दी गई है और स्त्री को काफी सम्मान दिया गया है । प्रकृति की उत्पादन क्रिया, मानव प्रजनन क्रियाओं, विशेष कर स्त्री की प्रजनन क्रिया से न केवल जुड़ी है बल्कि उसपर अत्यधिक निर्भर है।

तंत्रवाद का मूल इसी प्राचीन विश्वास में है।

निम्न जातियों और व्यवसायों के साथ तंत्रवाद का सम्बन्ध रहा है । तंत्रवाद में चांडाली , डोम्बी, सवरी आदि नामों को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है । ये सभी स्त्री नाम हैं । वे कुछ निम्न जातियों की देवियां हैं जो अति गर्हित व्यवसायों में लगी होती थीं।

स्वाभाविक है कि तंत्रवाद के विभिन्न मत जातपात के विरोधी हैं । उनमें लिंगभेद भी नहीं है। वे रूढ़िवाद से मुक्त हैं , पूर्वाग्रह से मुक्त हैं। यहां तक कि उन्होंने विवाह संस्था का भी विरोध किया है। सहजिया लोगों ने धर्म के औपचारिक नियमों और विधान की कड़ी आलोचना की है।

तंत्रवाद के कुछ भौतिक और ठोस अवशेष सिंधु सभ्यता के उत्खनन में भी पाए गए हैं।

ज्योतिष्यशास्त्र

ज्योतिष्यशास्त्र की मूल मान्यताएं हैं -१) पृथ्वी चपटी है। २) पृथ्वी सृष्टि का केंद्र है। ३) निरीक्षक पृथ्वी पर ही कहीं खड़ा होकर आकाश का निरीक्षण करेगा । ४) आकाश के बारह भाग अर्थात् बारह राशियां काल्पनिक और निरीक्षक सापेक्ष हैं।

अब यह सिद्ध हो चुका है कि मान्यताएं १) और २) शतप्रतिशत गलत हैं। तो फिर उन्हींपर आधारित इस शास्त्र की वैधता कहाँ बनी रहेगी। दूसरी बात, आज की वैज्ञानिक प्रगति के स्तर के अनुसार अगर किसी बच्चे का जन्म अंतरिक्षयान में हुआ तो उसकी कुंडली बन ही नहीं सकेगी।

सात ग्रह, एक तारा, एक उपग्रह, दो काल्पनिक बिंदु (राहु, केतु) और बारह हिस्सों में विभाजित राशियां, क्रांतिवृत्त के बाजू के संकरी पट्टी में सत्ताईस तारका समूह (नक्षत्र) इतनी ही रचना पत्रिका में होती है। ब्रह्माण्ड के अन्य करोड़ों पिंडों का उससे कोई लेना देना नहीं।

संस्कृत भाषा के अभ्यासक डॉ.कन्हन राजा का निःसंदिग्ध ढंग से कथन है कि ईसा पू.४००साल, अलेक्झांडर के आक्रमण के बाद, फलज्योतिष्य की कल्पना भारत में आई। यह संकल्पना भारतीय नहीं है। बारह राशियों की संकल्पना मुलतः बेबीलोनियन है।

राहु-केतु ये काल्पनिक कक्षाओं के छेदन बिंदु हैं।

वक्री मंगल, गुरु का कन्या राशि में प्रवेश, ग्रहों की युति ये सब पृथ्वी से दिखाई देने वाले दृष्टिभ्रम हैं।

फलज्योतिष्य यह विज्ञान होने का दावा किया जाता है। किसी भी विज्ञान का आधार कुछ मूलभूत और सार्वत्रिक सिद्धांत होते हैं। इस शास्त्र के ठोस मूलभूत और सार्वत्रिक सिद्धांत नहीं मिलते।

गुरु, शनि आदि सारे ग्रह खनिज, पाषाण, वायु इनसे बने बेजान ग्रह हैं। आठ करोड़ कि.मी. दूरी से मंगल, पत्रिका में आकर ज्योतिषी माननेवाली लड़की की शादी के रास्ते का रोड़ा कैसे बन सकता है? त्रैसठ करोड़ कि.मी.पर स्थित अचेतन गुरु भारत के छात्रों की पढ़ाई में विघ्न कैसा डालता होगा? और १४५ करोड़ किमी दूरी का तथा तीस सालों में एक सूर्य प्रदक्षिणा करनेवाला शनि भारत के ही कुछ व्यक्तियों की गर्दन पर सवार होकर साढ़े-सात वर्षों तक हंगामा क्यों और कैसा करता होगा? ---डॉ.नरेंद्र दाभोलकर

इसका कोई सबूत कहीं भी नहीं है कि इतनी दूरी के ग्रह-तारों का परिणाम मनुष्य जीवन पर होता है। यह पूरी तरह कल्पना पर आधारित निरर्थक अध्याय है।

पृथ्वी यह एक ग्रह है यह तो ज्योतिषियों को शुरू में पता ही नहीं था।

किसी कार्य का मुहूर्त यह कल्पना भी निरर्थक है। क्या मुहूर्त देखकर किए हुए सभी कार्य सफल होते ही हैं?

त्रिकालज्ञ ऋषियों ने दुनिया के सारे मनुष्यों के भविष्य, उस व्यक्ति के तथा उसके मां-बाप के नामों के साथ भविष्य नाड़ी (भृगुसंहिता आदि) ग्रंथों में लिखकर रखे हैं , यह कल्पना ही तर्कविसंगत ही नहीं तो हास्यास्पद भी है । (आज आबादी सात अरब से ऊपर है और प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है)

आपको अचम्भा होगा , जाति व्यवस्था के दानव ने ग्रहों को भी नहीं छोड़ा । चंद्र-माली (बागवान), मंगल-सुनार, बुध-वाणी (व्यापारी), गुरु-ब्राह्मण, राहु-केतु - शूद्र (मातंग) , शनि-तेली आदि।

भारतीय ज्योतिष्य की सबसे प्राचीन उपलब्ध पुस्तक है 'वेदांत ज्योतिष्य' जो महात्मा लगध (ईसा पू. ६००) द्वारा रचित बताई जाती है । लेकिन इसमें राशियों , ग्रहों तथा तारों पर आधारित भविष्य कथनों तथा कुंडलियों का कोई जिक्र नहीं है ऐसा विद्वानों का मत है।

आर्यभट-प्रथम (जन्म ४७ ईस): इनका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है 'आर्यभटीय' जिसमें १२१ श्लोक हैं। उसे पाटलिपुत्र में लिखा गया है । इसमें पहली बार भू भ्रमण (अक्षभ्रमण)सिद्धांत का प्रतिपादन है। लेकिन इसमें फलित ज्योतिष का उल्लेख नहीं है । ज्योतिषियों ने भी इसे अपनाया नहीं है।

उसी तरह खगोलशास्त्र के अधुनातन अन्वेषणों के अनुसार सूर्यमाला में विद्यमान ग्रहों की संख्या और इस शास्त्र में गृहीत ली गई संख्या इनमें कहीं तालमेल नहीं है।

इसी कारण विज्ञान में नोबेल पुरस्कार प्राप्त बीस वैज्ञानिकों के साथ अन्य प्रमुख वैज्ञानिकों ने ज्योतिष्य को शुद्ध अवैज्ञानिक और मनुष्य को भटकानेवाला बताया है । फल ज्योतिष्य यह विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, ऐसा एक प्रस्ताव १९७४ में ही दुनिया के १९२ वैज्ञानिकों ने वैश्विक विज्ञान परिषद् में सम्मत किया था। इस प्रस्ताव के अनुसार यह विषय समाज को कर्तृत्व के स्थान पर मानसिक पंगुत्व की ओर ले जानेवाला है।

फिर भी इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय ने इस विषय को अकादमिक वैधता प्रदान करने का प्रयत्न किया था।

आधुनिक युग में भी , भारत में उपलब्ध ज्ञान के साथ बेमेल विश्वास गहराई तक जड़ जमाए हैं कि ग्रह-तारों के प्रभाव के अनुसार मनुष्य का जीवन चलता है । लोग अपनी परेशानियों का समाधान ग्रह-तारों में ढूंढते हैं। यह उनके लिए तर्क का नहीं आस्था का मामला होता है , जो हिन्दू जीवन पद्धति का एक अभिन्न अंग बन गया है।

कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं -

शक्तिशाली दूरबीन से अत्यंत सुन्दर दृश्य उपस्थित करनेवाले मंगल और शनि को अमंगल घोषित करने का अधिकार, ज्योतिषियों को किसने दिया?

मुहूर्त देखकर लड़ाई करनेवाली पेशवाई को हार का सामना करना पड़ा । जबकि ऐसी बातों पर विश्वास न रखने वाले अंग्रेजों ने दुनिया पर राज्य किया।

भारत और पाकिस्तान ने एक ही समय में जन्म लिया लेकिन दोनों की स्थितियों में अंतर हमारी नजरों के सामने है।

किसी हवाई जहाज की दुर्घटना में सैकड़ों लोग मारे जाते हैं , क्या सभी एक ही समय जन्म लिए हुए होते हैं?

एक पत्रकार ने एक मजेदार किस्सा सुनाया: अनगिनत सही भविष्यवाणियों का दावा करनेवाले चेन्नई के ज्योतिषी द्वारा वार्ताहर को साक्षात्कार देने के बाद वह बच्चों जैसी मासूमियत से वार्ताहर से पूछता है , "आपकी पत्रिका में यह साक्षात्कार कब छपेगा ?" वार्ताहर भी उसी मासूमियत से उत्तर देता है , "ज्योतिषी होने के नाते यह तो आप ही बेहतर बता सकते हैं ।" (आउटलुक :नवम्बर २००४)

पश्चिम में ज्योतिष्य को धर्म के एक अंग के रूप में वैधता नहीं मिली।

ईसाई पश्चिम और मुस्लिम दुनिया की अपेक्षा भारत में भविष्य कथन का काम कहीं अधिक दमदार उद्योग के रूप में उभर रहा है । वह अब टेलीमार्केटिंग का रूप ले चुका है और भविष्यवक्ता अब महंगे ज्योतिषीय उपचारों के विक्रेता बन गए हैं । इसके माध्यम से अपार धन कमा रहे हैं।

बिना ज्योतिषी की सलाह के राजनितिक दिग्गजों का काम नहीं चलता । जबकि इसी क्षेत्र की निम्न भविष्यवाणियां असत्य सिद्ध हुई हैं -

तेरा मई २००४ को चौदहवीं लोकसभा के चुनाव परिणाम आने के बाद तेरह अक्षरों वाला 'राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन' दोबारा केंद्र में सत्तारूढ़ होगा और दस अक्षरों वाले अटलजी एक बार

फिर देश के तेरहवें प्रधानमंत्री बनेंगे। ----यह कार्य अंतरिक्ष में स्थापित 'म' अक्षर, ३, १०, १३ शक्ति ध्रुवों के रचे विधान से सम्पादित होगा।

फरवरी २००६ के पहले बाजपेई जी की मौजूदा पद से जाने की कोई सम्भावना नहीं है।

ग्रहों का गणित बाजपेई जी के पक्ष में है।

आदि -आदि

अब प्रथम **upa** सरकार के विषय में (इंडिया टुडे, ५ सितम्बर २००७)-

क्या **upa** सरकार गिरेगी? हाँ

कब तक? सितम्बर से दिसंबर २००७ के बीच।-----श्री --- (व्यक्तिगत टिपण्णी नहीं करना है इसलिए नाम नहीं दे रहा हूँ)

क्या सरकार गिरेगी?-हाँ

कब तक ----अगले साल मार्च-अप्रैल में -----श्री -----

जुलाई १९८० के 'ज्योतिषी मार्तण्ड' के मुखपृष्ठ पर बड़े अक्षरों में , चार पृष्ठों में संजय गाँधी की, जन्मकुंडली का अध्ययन करते हुए लिखा है -

"श्री संजय गाँधी को अपने पूर्वजों का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त है।-----कुंडली में दीर्घ आयु के प्रमाण मिलते हैं।-----२८ जुलाई ८० से महत्वपूर्ण पद की प्राप्ति होगी।"

इतिहास सबके सामने है।

@ अब दुनिया के जाने-माने भविष्यवेत्ता जिनकी वैश्विक स्तर की भविष्यवाणियाँ सही साबित नहीं हुईं।

१) इजरायल के प्रो. हरार: यूरोप और अफ्रिका के सुपरिचित भविष्यवेत्ता। दावा किया जाता है कि इनकी अधिकतर भविष्यवाणियाँ सही साबित हुई हैं। -लेकिन निम्न भविष्य कथन -

a) १९८३ तक तिब्बत पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो जाएगा।

b) साल १९८० तक सारे संसार की स्थिति विश्वयुद्ध के समान हो जाएगी और यह विश्वयुद्ध १९८२ के पहले प्रारम्भ हो जाएगा।

2) डॉ ज्यूलबर्न: विश्वविख्यात भविष्यवेत्ता -

अ) १९८५ तक भारत चीन द्वारा दबाई गई भूमि को उसके पंजे से बलपूर्वक छुड़ा लेगा और तिब्बत को भी स्वतंत्र करा देगा।

आ) पाकिस्तान वर्ष १९८१ तक एक छोटे टापू के समान रह जाएगा | इसका कुछ भाग अफगानिस्तान ले लेगा। बलूचिस्तान में स्वतंत्र राज्य की स्थापना हो जाएगी।

3) जैन सर्वज: इन्हें भविष्यवक्ता बनने की प्रेरणा एक भारतीय भविष्यवेत्ता से मिली और दावा किया जाता है कि इनकी प्रथम , द्वितीय विश्व युद्ध की अमेरिका , जापान आदि से सम्बंधित भविष्यवाणियां सही साबित हुईं । लेकिन उनके अनुसार- १९८० के बाद सारे विश्व को प्रभावित करनेवाला एक ऐसा भूकंप आएगा जिसके फलस्वरूप पूरा जापान समुद्र में समा जाएगा।

१९८४ के आसपास विश्वयुद्ध निश्चित है।

4) फ्रांस के नास्त्रेदम: (लगभग ४५० वर्ष पूर्व जन्मे)-- दुनिया में शायद ही कोई होगा जो इनका नाम नहीं जानता। लेकिन -

१) तीसरा विश्वयुद्ध १९८२ के आसपास और एशिया की धरती पर ही होगा।

२) वर्ष १९९५ में बृहस्पति ग्रह से कुछ प्राणी धरती पर आएंगे।

5) योगी आनन्दाचार्य: ये नॉर्वे के प्रसिद्ध ज्योतिषी हैं। बताया जाता है कि ये अपनी सिद्धि के माध्यम से भविष्यवाणियां करते हैं जो आगामी जीवन में प्रायः सही होती देखी गईं । लेकिन -वर्ष १९९५ तक विश्व की शक्तिशाली देशों में भारत का स्थान छठा होगा | लेकिन अंतिम दशक की स्थिति तो निश्चित ऐसी नहीं थी।

6) कीरो: इन्होंने ज्योतिष्य पर कई किताबें लिखीं । -"सदी के अंत में पैलेस्टाइन की जमीं पर महायुद्ध होगा जो कि विश्व का अंतिम महायुद्ध होगा।"

प्रयोग

पश्चिम में पहली बार २००० व्यक्तियों को लेकर ४५ साल तक एक शोध चलता रहा और इसे करनेवाले थे कनाडा में मनोविज्ञान के प्रोफेसर इवान केली और कभी ऑस्ट्रेलिया में ज्योतिषी रहे डॉ. जोफ्रे डीन। इस अध्ययन में ज्योतिषविद्या के विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय स्वरूप राशिफल पर आधारित (१२ राशियां) भविष्यवाणियां अंतर्भूत थीं। इसके निष्कर्ष निकले -

१) फलित ज्योतिष मात्र अनुमान है। इसे अनुमान लगाने की चतुराई बताया गया है।

२) यह उन दावों का खंडन करता है कि मानव की प्रवृत्तियां और स्वभाव प्राकृतिक नहीं बल्कि उसके जन्म के समय सूर्य , चन्द्रमा और ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति पर निर्भर करती है । क्या जन्म समय एक जैसा होने पर एक ही तरह की प्रवृत्तियां उभरती हैं?

३) अध्ययन का उद्देश्य यह भी था कि जन्म का समय क्या भावी स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

डीन और केली ने इनके व्यवसाय चिंता-दुश्चिंता के स्तर , आक्रमकता, सामाजिकता, सामान्य जानकारी के स्तर के अलावा खेल , कला, गणित और पठन-पाठन की क्षमताएं जैसी १०० विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जिनके विषय में ज्योतिषियों का दावा है कि जिन्हें किसी की जन्मपत्री के आधार पर जाना जा सकता है या राशियों के आधार पर बताया जा सकता है।

लेकिन अध्ययनकर्ताओं को एक ही समय जन्मे इन बच्चों में कोई समानता नहीं मिली।

इसी तरह ज्योतिषियों से हर व्यक्ति के स्वभाव के अनुरूप जन्मकुंडली बनवाई गई ताकि विपरीत तरीके से जाँच की जा सके। लेकिन वे मिल नहीं पाई। (इंडिया टुडे: २७ -१० २००३)

(लन्दन में १९५८ में इस अध्ययन को शुरू किया गया । इसमें मीन राशि के २००० शिशुओं को चिकित्सीय अध्ययन के लिए चुना गया था । यह ज्योतिष्यशास्त्र में किया गया सबसे बड़ा अध्ययन था।)

यह कहा जाता है कि यदि वर और वधु की कुंडलियां आपस में मेल न खाती हों ता उन्हें शादी नहीं करनी चाहिए । मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी के एक स्नातक बरनी सिल्वरमैन ने अपनी **Ph.D.** शोध के लिए यही विषय चुना था । उसने ३४५६ दम्पतियों के साथ यह परीक्षण किया। इनमें २९७८ दंपति ऐसे थे जो सफल वैवाहिक जीवन बिता रहे थे (गट अ)। ४७८ असफल जोड़े थे (गट ब)। सब की कुंडलियां बनाई गईं और दो ज्योतिषियों को दी गईं । उनसे कहा गया कि वे आपसी विचार-विमर्श से तय कर लें कि हर दंपति की कुंडलियां मेल खा रही या नहीं । उन्हें यह नहीं बताया गया था कि कौनसी कुंडली किस गट के दंपति की है । पूर्व निर्धारित मापदंडों के आधार पर उन्होंने कुंडलियों का वर्गीकरण किया जिसकी तुलना सांख्यिकीय विधि से , वास्तविक परिस्थिति से की गई । लेकिन किए गए वर्गीकरण और वास्तविक वर्गीकरण में कोई उल्लेखनीय समानता नहीं थी।

ऐसा ही एक परीक्षण पूना में भी किया गया था । इसमें जानकारी एकत्र करने का काम सतारा के अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति के कार्यकर्ताओं ने किया था । परीक्षण के लिए १०० मेधावी

छात्रों (गट अ) और १०० बौद्धिक रूप से पिछड़े (गट ब) छात्रों के जन्म से सम्बंधित विवरण एकत्र किए गए। इन विवरणों के आधार पर इन छात्रों की जन्म कुंडलियां बनाई गईं। दोनों समूहों की कुंडलियों को बेतरतीब ढंग से आपस में मिला दिया गया ताकि यह पता न चले कि कौनसी कुंडली किस समूह के छात्र की है।

इसके बाद ज्योतिषियों को कुंडलियों के आधार पर भविष्यवाणी करने के लिए आमंत्रित किया गया। कुल ५१ ज्योतिषियों ने इसमें हिस्सा लिया । प्रत्येक ज्योतिषी को ४० कुंडलियां बेतरतीब ढंग से दी गईं और यह पहचानने के लिए कहा गया कि कौनसी कुंडली किस ग्रुप की है। प्रत्यक्ष में २७ ज्योतिषियों ने जबाब भेजे । परीक्षण का परिणाम यह मिला कि सिक्का उछालकर चीत या पट की भविष्यवाणी करने पर सही उत्तर आने की जो संभावना होती है, उतनी भी नहीं थी। (परोपकारी अजमेर सितम्बर २००९ द्वितीय)

अतिजीवन

प्रागैतिहासिक मानव सम्बन्धी खोजों से ज्ञात हुआ है कि आज से लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व नियंडरथल - मानव के मस्तिष्क में मानव के किसी अविनाशी तत्त्व के विषय में कुछ अस्पष्ट से विचार अवश्य थे, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी बने ही नहीं रहे तो उनका विस्तार होता रहा। इसी कारण मृतक को, आदरपूर्वक, खाने-पीने की अनेक वस्तुओं के साथ दफनाया जाता था।

मानव इतिहास के प्रारम्भ से लेकर तो आज तक सारे विश्व में ऐसे अनुभवों के किस्से बड़ी मात्रा में मिलते हैं , जिसके अनुसार मृत्यु के बाद भी , संभवतः अन्य प्राणी भी किसी न किसी रूप में लौट कर इस लोक के प्राणियों को प्रभावित कर सकते हैं। इन कथित लौटनेवाली मृत आत्माओं को "भूत, प्रेत" या "रूह" आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। उनके स्वरूप के विषय में, विवरणों में विविधता देखी जाती है। 'तीव्र शीत लहर' की अनुभूति से लेकर तो कथित मृतात्मा द्वारा एक सम्पूर्ण सशरीरी प्राणी के समान सभी मानवीय क्रियाओं को कर सकने की क्षमता के प्रदर्शन तक।

कथित इन तत्वों को अभौतिक , और भौतिक नियमों से मुक्त माना जाता है। इनके विषय में निम्न अनुभव प्राप्त होने का वर्णन मिलता है।

- इनके आर-पार देखा जा सकता है अर्थात् ये पारदर्शी होते हैं।
- इनकी कोई छाया नहीं पड़ती, न दर्पण में प्रतिबिम्ब उभरता है।
- कैमरे के लेंस पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
- प्रायः किसी भी दर्शक की उपस्थिति से अप्रभावित रहते हुए ये अपने ही कार्यों में पूरी तरह निमग्न दिखाई देते हैं।
- कभी ये अचानक दिखाई देते हैं और पल भर में लुप्त भी होते हैं तो कभी धीरे-धीरे लुप्त होते हैं।
- इनके लिए भौतिक अवरोधों का कोई अस्तित्व नहीं होता । जैसे वे बंद दरवाजों से गुजर जाते हैं।
- वे न किसी से अपने आप बात करते हैं, न सम्बोधित करने पर कोई प्रतिक्रिया देते हैं।
- अर्थात् अपने अस्तित्व के आभास के अतिरिक्त न तो ये किसी को प्रभावित करते हैं और न ही किसी से प्रभावित होते हैं।

भूत

पिछली शताब्दी में एक पुस्तक तैयार की गयी थी "स्पेक्ट्रोपिका"। शायद उसकी केवल एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी में उपलब्ध है। इसमें भूतों के बड़े - बड़े और अलग-अलग आकृतियों वाले चित्र बनाये गए थे।

इन चित्रों को कुछ क्षण एकटक देखने के बाद - फिर अपनी दृष्टि को किसी एक रंग की सतह, कहीं आकाश पर केंद्रित करने पर आपको वहां भूत नज़र आएगा। आकृति, पुस्तक वाली होगी लेकिन रंग भिन्न प्रकार के होंगे। होता इस प्रकार है - मान लीजिये आपने जो भूत का चित्र देखा था उसमें, उसके चेहरे का रंग लाल, वस्त्रों का रंग भूरा और हाथ में पकड़े हुए डंडे का रंग बैंगनी था। जब आप इसे आकाश में देखेंगे तो आपको चेहरे का रंग हरा, वस्त्रों का बैंगनी और डंडे का कुछ और दिखाई देगा। ऐसा इस कारण हुआ है कि कुछ क्षण लगातार देखने से, आँख की पुतली सीधे दिखाई देनेवाले रंगों के प्रति थकान अनुभव करने लगती है। सफ़ेद रंग कई रंगों से मिलकर बना है। जब आँख इनमें से एक के प्रति थक जाती है तो वह पूर्ववत आकार में उस रंग का पूरक रंग देखने लगती है। उदाहरण में ऐसा ही हुआ है। (परामनोविज्ञान पृष्ठ १४३)

- डॉ. ओकीफ के अनुसार 'आँख की पुतली' को बेहद कोने में पंहुचाकर अगर हम आखरी छोर से कोई हलचल देखें तो वह बहुत साफ नहीं दिखती | बारीकियां भी नज़र नहीं आती। केवल काला और सफ़ेद ही दिखता है। अर्थात रॉड कोशिकाएं रंग नहीं देख पा रहीं हैं। हो सकता है ऐसी परिस्थितियों में हमारा मस्तिष्क सूचना के अभाव को भरने की कोशिश कर रहा हों | दिमाग उस सूचना को किसी तार्किक जानकारी में बदलने की कोशिश करता है। हमें ऐसा लगने लगता है, जैसा हमने कुछ विचित्र देखा है। शायद कोई भूत है। ऐसा भलेही कुछ पलों के लिए होता हों | लेकिन इसके बाद डर के लक्षण उभरने लगते हैं। वैज्ञानिक इसके लिए मस्तिष्क में मौजूद न्यूरोट्रांसमीटरों को उत्तरदाई मानते हैं। कुछ लोगों के मस्तिष्क में डोपामिन का स्त्राव होना शुरू हो जाता है, तो उन्हें मजा आने लगता है, जबकि बाकी लोग बुरी तरह डरे हुए रहते हैं।

बचपन में आये बुरे अनुभवों का भी डर से सीधा संबंध है | अक्सर भूतिया कहानियां सुननेवालों या हॉरर फिल्म देखनेवालों के जेहन में ऐसी यादें बस जाती हैं और जब कभी असाधारण घटना घटती है तो ये स्मृतियाँ उछलने लगती हैं।

लेकिन क्या भूत होते हैं ? ऐसी घटनाओं के सन्दर्भ में ओकीफ कहते हैं कि मस्तिष्क की कुछ विलक्षण शक्तियां अब भी मनुष्य के लिए अज्ञात हैं | इसके जवाब में ओकीफ कहते हैं कि कल्पना और भूतों पर विश्वास या विचित्र परिस्थितियां, इनके संयोग से ऐसा आभास होता है

जैसे हमारे अलावा भी कोई है, जबकि कोई और होता ही नहीं। असामान्य परिस्थितियों में हमारी आँखें अलग ढंग से व्यवहार करती हैं।

- यही नहीं, आँखों ने न देखी बात की , और कई कारणों से, अनुभूति अनुभव की जा सकती है। इनमें एक कारण हो सकता है सम्मोहन और सुझावशक्ति। सम्मोहन के प्रभाव में व्यक्ति को कमरे में उपस्थित मनुष्य दिखाई ही न दे , और वहां जो उपस्थित ही न हों, वह दिखाई दे। मनुष्य आत्मसम्मोहित भी हो सकता है। अन्य रूप में भी प्रभावशाली मनोवैज्ञानिक सुझाव, परिवर्तन ला सकते हैं। सुझाव के प्रभाव या सम्मोहित होने के लिए मनुष्य का तन्द्रा की अवस्था में होना आवश्यक नहीं होता।

सामान्यतः आँख की रेटिना से दृश्य स्पंदन 'औप्टिकल नर्वज' द्वारा मस्तिष्क की ओर जाते हैं। विपरीत दिशा में जाने से रोकने के लिए स्नायुओं में जगह-जगह पर कुछ अंतराल से एक प्रकार के 'वोल्वज' बने रहते हैं। इन्हें 'साइनैप्स' कहा जाता है। सामान्यतः बाह्य जगत से प्राप्त संवेदन ही रेटिना से इन स्नायुओं से गुजरते हुए मस्तिष्क तक पहुंचते हैं और हमें बाह्य जगत की दृश्य अनुभूति होती है। लेकिन कुछ असामान्य स्थितियों में , जैसे नशिली पदार्थों का प्रभाव , स्नायु के वाल्व निष्क्रिय हो जाते हैं । परिणामतः स्पंदन रेटिना से मस्तिष्क की ओर ही नहीं जाते वरन मस्तिष्क से रेटिना की ओर भी आ सकते हैं । इस तरह मस्तिष्क में जमा स्मृति चित्रों के स्पंदन जब रेटिना पर पहुंचते हैं तो वे पुनः वहाँ से , जैसा सामान्य तौर पर हुआ ही करता है, मस्तिष्क को भेज दिए जाते हैं। परिणामस्वरूप मनुष्य को लगता है, वह बाह्य जगत से अनुभूति प्राप्त कर रहा है जबकि वास्तव में उसे अपनेही मानसिक चित्र की अनुभूति हुई होती है। इस प्रकार के अनुभवों को ' विभ्रम' कहा जाता है। मानसिक अस्वस्थता, नशीले पदार्थ, अतिक्षुधा आदि अवस्थाओं में ऐसा हो सकता है।

विभ्रम में व्यक्ति को इन्द्रिय प्रत्यक्षण (सेंसोरी पेरसेप्शन) जैसे दृश्य , श्रवण आदि का अनुभव हुआ करता है, जब की वास्तव में उस अनुभव के अनुरूप व्यक्ति को बाह्य जगत से कोई इन्द्रिय उत्तेजन नहीं मिला है। अन्वेषकों द्वारा प्रश्न किया गया कि , क्या कभी आपको, जब आप पूरी तरह जाग्रत थे, किसी जीवित प्राणी या किसी वस्तु के दिखने, स्पर्श करने या सुनाई देने का कोई ऐसा अनुभव हुआ है जो कि , जहा तक आप खोज सकते थे , किसी बाह्य भौतिक कारण से न हुआ हो? कोई १७००० व्यक्तियों में से १५३१६ के उत्तर 'नहीं' थे तो १६८४ के हाँ अर्थात विभ्रम होने का प्रतिशत १० था।

- कभी-कभी हम जो प्रत्यक्ष देख रहे है वह भी किसी कारण 'भ्रम' हो सकता है। किसी आकृति के दिखने या बोलने आदि के अनुभव को संयोग से होनेवाली विभ्रान्ति के रूप में समझा जा सकता है।

- अन्वेषकों की यह भी धारणा है कि अचेतन मन ने अपना ज्ञान चेतस को देने के प्रयास में 'विभ्रान्ति' उत्पन्न हो सकती है।
- यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर हम अनेक प्रकार के मानसिक चित्र अपने मानस पटल पर देख लेते हैं।
- विभ्रम में एक पहलू स्मृति का भी हो सकता है। हम प्रायः घटनाओं की स्मृति उस रूप में रखते हैं जिस रूप में हम उन्हें देखना चाहते हैं, न कि उस रूप में जिनमें वे वास्तव में घटित हुई हैं। घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण और बाद में उनकी स्मृति बनने की प्रक्रिया को व्यक्ति के पूर्वाग्रह, आकांक्षाएं, सोचने-विचारने की आदतें आदि अनेक बातें प्रभावित करती हैं। यहाँ भी देखा गया है कि जितना अधिक समय बीतता जाता है उतनी ही घटना की स्मृति विरूप होती चली जाती है।

हमारा मूल प्रश्न था मृत्यु के बाद मानव व्यक्तित्व का कोई अंश शेष रहा जाता है या नहीं? लेकिन इसका कोई भी तार्किक या वैज्ञानिक सबूत आज तक नहीं मिला है।

देहातीत अनुभव या दिव्य देह प्रक्षेपण

डॉ. रोबर्ट कृकाल द्वारा लिखित पुस्तक '**The Study And Practise Projection**' में ऐसे १५० अनुभवों का विवरण है, जिसमें अनुभवकर्ताओं ने स्वयं को, देह से अलग होकर; लेटे, बैठे या इधर-उधर घूमते देखा था। सिल्वान मल्डून ने देहातीत अनुभवों का अपनी पुस्तक '**The Projection of Astral Body**' में विस्तृत विवरण दिया है। ओलिवर फॉक्स ने अपनी पुस्तक में एक और विधि का विवरण दिया है। यह एक कठिन विधि है। इसके अनुसार व्यक्ति को स्वयं अपने प्रयासों से अपने आप को तन्द्रा में लाना होता है। अर्थात् वह एक ऐसी अवस्था में आने का प्रयास करे, जब उसका शरीर निद्रा में हो और मन जागृत। लेकिन यह देहातीत अनुभव प्राप्त करने की क्षमता विकसित करने में जो खतरें बताये हैं, उनमें कुछ समय के लिए मानसिक असंतुलन हो जाना भी एक खतरा है।

कुछ विवरणों में यह भी उल्लेख है कि यह अनुभव प्राप्त करने में प्राप्तकर्ताओं ने बड़े कष्ट झेले हैं। कष्ट अर्थात् शारीरिक या मानसिक पीड़ा। अर्थात् आप अपने आप को जबरदस्ती अप्राकृतिक अवस्था में लाने का प्रयत्न कर रहे हो। यह आपके जीवन का हिस्सा नहीं हो सकता और न किसी अलौकिक शक्ति द्वारा आप को आदेश। अर्थात् इसका सारा सम्बन्ध अंततः मानसिक स्थिति से ही जा मिलता है। इसी तरह यह भी संभव है कि कभी-कभी अनुभवकर्ता जब यह कहता है कि उसने किसी व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर को देखा, उसका यह अनुभव मात्र तीव्र कल्पना या विभ्रम ही रहा हो।

मनोमिती (psychometry)

ऐसा दावा है कि ऐसी शक्ति होती है , जिसके द्वारा वे किसी वस्तु को स्पर्श करके अथवा मात्र उसपर ध्यान केंद्रित करके ही , उस वस्तु के संपर्क में रहे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के बारे में कई प्रकार की सूचनाएं प्रेषित कर सकते हैं । इस तरह, वस्तु के संपर्कसूत्र का आधार लेकर एक व्यक्ति का मन अन्य व्यक्ति के बारे में बोध प्राप्त कर लेता है । इस घटना को 'मनोमिती' कहा गया है। इस क्षमता को यह नाम डा. बुधानन ने १८५४ में दिया था। इसका शाब्दिक अर्थ होता है 'मन का मापन'। उनका यह भी कहना था कि ग्राही , मानसिक अवस्थाओं की ही नहीं वरन भौतिक घटनाओं की भी जानकारी प्राप्त कर सकता है।

छठी इन्द्रिय

डॉ. पीर्स होबे (मेलबोर्न स्कूल ऑफ साइकोलॉजी साइंसेज के प्रमुख शोधकर्ता) के अनुसार आम धारणा है कि मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर हुए बिना अपने दिमाग से ही बदलावों को अनुभव कर सकता है। इस क्षमता को आमतौर पर छठी इन्द्रिय कहा जाता है । शोध के दौरान उन्होंने पाया कि यह क्षमता अतिरिक्त संवेदी अनुभूति के कारण नहीं आयी थी । अर्थात् आधुनिक शोधकर्ताओं ने परम्परागत अर्थवाले '6th sense'को नकार दिया है।

दूर परिवहन (teletransportation)

हजारों मील दूर की वस्तु कुछ ही क्षणों में अपने पास बुला लेना या ले आना। अब इसपर क्या टिपणी की जाये?

अगर यह वास्तवता है तो दुनिया में इतनी भारी परिवहन व्यवस्था की क्या आवश्यकता है?

मस्तिष्क और मनोदशाएं

हमारे मस्तिष्क के पेशियों के बीच की जगहों में भिन्न-भिन्न जैव रासायनिक संप्रेरक (न्यूरोट्रांसमिटर) होते हैं। उनके बीच विद्युत् तरंगों का आदान-प्रदान होता है । इनके माध्यम से सन्देश वहन का काम होता है । मस्तिष्क में पहुंची सूचनाएं वहाँ दर्ज होती हैं, कंप्यूटर की हार्ड डिस्क की तरह । संप्रेरकों का सहभाग भावना , विचार, व्यवहार भिन्न-भिन्न संवेदनाएं , उनका नियंत्रण, बौद्धिक और स्मरण विषयक गतिविधियों में भी होता है । जब कोई नई सूचना दिमाग तक पहुँचती है, तो दिमाग की भौतिक अवस्था में भी परिवर्तन होता है । 'न्यूरोप्लास्टिसिटी' की प्रक्रिया नए ज्ञान को पुरानी दर्ज सूचना के साथ जोड़ती है। लेकिन इन संप्रेरकों का परिमाणात्मक स्तर कम ज्यादा होने से कई मनोविकार भी होते हैं। हमारे दिमाग में ही स्वायत्त और परास्वायत्त

(sympathetic-parasympathetic) चेता संस्थाएं होती हैं। उनके उद्दीपन के स्तर के अनुसार विकार उभरते हैं।

सेरोटोनिन, नोरएपिनेफ्रीन, डोपामाइन आदि के असंतुलन के कारण भिन्न मानसिक स्थितियां देखी जा सकती हैं। वैज्ञानिकों ने अलग-अलग गतिविधियों से सम्बंधित, मस्तिष्क में कई क्षेत्र ढूंढ लिए हैं। लेकिन यह सारा खेल मस्तिष्क के भौतिक स्तर पर ही होता है।

मनुष्य की मानसिक स्थिति पर अन्य घटकों के साथ सामाजिक परिवेश का भी परिणाम होता है। इसे बायो-सायकोसोशल मॉडल या मनोजैविक सामाजिक प्रारूप कहा जाता है।

भूतावेश

किसी भी जीवित व्यक्ति के व्यक्तित्व में अल्प या दीर्घ समय के लिए किसी मृत व्यक्ति के न्यूनाधिक समावेश को प्रेताधिकार या भूतावेश कहा जाता है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण है व्यक्तित्व परिवर्तन। लेकिन अब तक तो मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व परिवर्तन के अनेकों प्रकरणों को लगभग निर्णीत रूप से अचेतन के मनोविज्ञान द्वारा सुलझाने में सफलता प्राप्त की है। एक ही शरीर में दो व्यक्तित्व। भूतावेश में यह माना जाता है कि हावी होनेवाला व्यक्तित्व किसी बाह्य व्यक्ति से सम्बंधित है। लेकिन मनोविज्ञान इन्हें एक ही व्यक्तित्व के दो विभाजित अंश मानता है। मनोविज्ञान में पहले व्यक्तित्व को 'प्राथमिक व्यक्तित्व' तो दूसरे को 'द्वैतिक व्यक्तित्व' कहा गया है। सामान्यतः ये दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हुआ करते हैं।

भूतावेश की समस्या यह मूलतः मनोवैज्ञानिक समस्या होती है। अधिकतर यह देखा गया है कि भूतावेश से बाधित व्यक्तियों में, आदमियों की तुलना में स्त्रियों की संख्या अधिक होती है। दूसरी बात ये महिलाएँ अधिकतर अशिक्षित होती हैं। किसी पी.एच.डी. उपाधि से विभूषित महिला के शरीर में देवी माँ आने का समाचार नहीं मिलता। इसका कारण होती है महिलाओं की सामाजिक-पारिवारिक स्थिति। महिलाओं की सहज प्रवृत्त भावनाओं को दमित स्थिति से गुजरना पड़ता है। उनकी दमित इच्छाएँ या कुंठाएँ ही भूत के रूप में साकार होती हैं।

मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों से पता चला है कि घोर मानसिक संघर्ष या तनाव से ग्रस्त व्यक्ति अनेक बार एक काल्पनिक संसार के ताने-बाने बुनने लगता है। स्वयं रचित इस काल्पनिक संसार को वह एक यथार्थ मानने लगता है। इससे एक तो उसे मानसिक तनाव से मुक्ति मिल जाती है और उस पर हो रहे ज्यादातियों से भी वह मुक्त हो जाता है। दूसरे वह अनेक लोगों के आकर्षण का केंद्र बन जाता है। कई बार ऐसा देखा गया है कि इस अवस्था में व्यक्ति ऐसे-ऐसे कार्य कर जाता है जो वह सामान्य स्थिति में कदापि नहीं कर सकता था।

निस्संदेह भूत-प्रेत सम्बन्धी अनेक विवरण, विभ्रम , मनघडंत किस्से, असावधानीपूर्ण अवलोकन आदि का ही परिणाम होते हैं।

माध्यम और आत्माओं से सन्देश

विश्वभर में, आदिमकाल से, प्रेतात्माओं के साथ संपर्क करनेवालों के किस्से तथा उनसे सम्बंधित अनेक विवरण उपलब्ध हैं । लेकिन इनकी सत्यता-असत्यता सैकड़ों वर्ष पूर्व भी अनिर्णीत थी और आज भी स्थिति कमोवेश वही हैं।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जॉन डेविड कॉक्स की दो पुत्रियों द्वारा मृत आत्माओं से सन्देश-प्राप्ति के किस्सों का बहुत प्रचार हुआ । दोनों बहनें 'कॉक्स सिस्टर्स' के नाम से विख्यात हुईं। बड़ी संख्या में लोगों को प्रेतात्माओं के साथ किसी माध्यम के द्वारा वार्तालाप करने की बात पर आस्था होने लगी।

इसके आगे १८५७ में एम.रावेले व्यक्ति ने 'एलेन कार्डेक' इस नकली नाम से 'द बुक ऑफ़ द स्पिरिट' प्रकाशित की और दावा किया कि यह प्रेतात्माओं द्वारा लिखी गयी है। इस पुस्तक का विश्व की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। आगे प्रेतात्माओं के अस्तित्व, उनसे वार्तालाप करने की सम्भावना आदि आस्थाओं के आधार पर अनेक नैतिक मान्यताओं और आचारों का प्रतिपादन करते हुए एक नए आंदोलन 'प्राैतिकवाद' (spiritualism) का प्रादुर्भाव हुआ और अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी।

शोधकर्ताओं ने अति जीवन के साक्ष्य हेतु माध्यमों द्वारा कथित मृत आत्माओं से प्राप्त संदेशों का गंभीरता से अध्ययन किया है। दुनिया में सदियों से माध्यमों के बारे में यह मान्यता है कि उनमें कुछ अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्तियां होती हैं । परामनोवैज्ञानिकों ने पहला काम यह किया कि इन्हें प्राकृतिक घटनाओं के समरूप रखकर ही इनका वैज्ञानिक विधि से अध्ययन शुरू किया। चेतना की तीन अवस्थाओं से लगभग हम सभी परिचित हैं - जागृत , स्वप्न तथा गहन निद्रा अवस्थाएं। लेकिन कुछ अवस्थाएं और भी हैं जिनमें चेतना , सामान्य जागृत स्तर से पृथक् हो जाती है । इन्हें सम्मिलित रूप में 'तन्द्रा अवस्थाएं' कहा जाता है । इनमें से कुछ सम्मोहन विधि से , कुछ विशेष औषधियों द्वारा तो कुछ योग की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न की जा सकती हैं। माध्यम स्वेच्छा से इन स्थितिओं में आ-जा सकता है। संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि माध्यम में ऐसी क्षमता होती है कि वह अपने अचेतन मन के स्तर पर प्राप्त ज्ञान का बाह्यकरण करके उसे प्रस्तुत कर सकता है।

लेकिन इन गतिविधियों के लिए माध्यम निश्चित और बड़ा मुआवजा वसूल करते हैं । निश्चित ही ऐसे माध्यम प्रामाणिक नहीं होते और मात्र धोखाधड़ी के आधार पर भावुक , दुखी और

सहज विश्वासी लोगों से ठगी करते रहते हैं । ऐसे लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करनेवाले माध्यम, सूचनाएं प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के हथकंडे अपनाया करते हैं जो शुद्ध भौतिक जगत से सम्बद्ध होते हैं , किसी अप्राकृतिक शक्ति से नहीं । इस स्थिति में विश्वास करनेवालों के लिए यह एक आस्था की बात हो जाती है , वैज्ञानिक सत्य की नहीं। वास्तव में मृतात्माओं द्वारा ही सूचना प्रेषित की जाती है इसका पूर्णन्तः संतोषजनक उत्तर आज तक नहीं मिल पाया है।

पुनर्जन्म

वेबर, मैक्डोनाल्ड व विंटरनिट्ज आदि का मत है कि जन्म-जन्मांतर का ऋग्वेद में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इस विचार का प्रवेश हिन्दू धर्म-दर्शन में परवर्ती युग में हुआ है । लेकिन भारतीय आध्यात्मवादी यह दावा करते हैं कि आत्मा की अमरता व जन्मांतर आदि के बारे में मन्त्रभाग में बीज रूप में जो विचार हैं , वे ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में विकसित हुए हैं । बौद्ध और जैन भी पुनर्जन्म को मानते हैं। इतना ही नहीं तो ऐसा दावा किया जाता है कि ईसाई और इस्लाम, जिन्हें पुनर्जन्म में आस्था नहीं है , वे भी इस विचार के विरोधी नहीं हैं । इतना ही नहीं तो प्राचीन समय से लेकर समकालीन दार्शनिकों तक पुनर्जन्म में आस्था रखनेवाले दार्शनिकों की संख्या काफी बड़ी है।

जोशेफहीड और क्रेसंतन ने 'reincarnation' नाम की एक पुस्तक लिखी है , जिसकी पृष्ठ संख्या सवा तीन सौ है । इसमें विश्व के विभिन्न धर्मों में व्याप्त , दार्शनिकों, कवियों, वैज्ञानिकों आदि के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों का संकलन है।

भारत में पुनर्जन्म पर गंभीर अध्ययन का श्रेय रायबहादुर श्यामसुन्दरलाल को जाता है , जो किशनगढ़ (राजस्थान) संस्थान के दीवान थे । उन्होंने एक साथी रामगोपाल मिश्र के सहयोग से 'फॉर्मर लाइफ रिसर्च एसोसिएशन' का गठन किया था। विश्वयापी स्तर पर पूर्वजन्म वृत्तांतों का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन , प्रमुख रूप से भारत के हेमद्रनाथ बनर्जी और अमेरिका के इयान स्टीवेंसन (प्रोफेसर ऑफ साइकाइट्री, यूनिवर्सिटी ऑफ वर्जिनिया) द्वारा किया गया।

पुनर्जन्म सम्बंधित धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं में , हमें इस बात के लिए कोई एक मत नहीं मिलता कि दो जन्मों के बीच कितना समय निकल जाता है । शोध वृत्तांतों में ये अंतराल कुछ पलों से लेकर हजारों वर्षों तक का मिलता है। लगभग ४६% वृत्तांतों में पूर्वजन्म की मृत्यु और इस जन्म के बीच एक वर्ष से भी कम समय पाया गया । लगभग ८५% का पुनर्जन्म १० वर्ष से पूर्व हो गया था। कुछ वृत्तांतों में यह अंतराल सौ वर्ष या हजार वर्ष तक भी पाया गया। (परामनोविज्ञान: कीर्तिस्वरूप रावत पृष्ठ १७३) मृत्यु के पश्चात और पुनर्जन्म के पहले , इस अंतराल में क्या होता है , इस बारे में भी एक मत नहीं है । वैज्ञानिक आधारों पर किये गए शोध

परिणाम सुनिश्चित रूप में नहीं हैं । लगता है बहुत कुछ प्रस्तुतकर्ता के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का प्रभाव है। पूनर्जन्म के स्मृतियों के वर्णनों में ५% से १० % वृत्तांत ऐसे मिले हैं जिनमें इस अंतराल का वर्णन मिलता है।

पूनर्जन्म के कुछ वृत्तांत प्रामाणिक लग सकते हैं। लेकिन इनका विश्लेषण अलग ढंग से भी किया गया है। जैसे -

१)जिस प्रकार प्राणियों में शारीरिक विशेषताएं व योग्यताएं आनुवंशिकता से आती हैं , उसी प्रकार मानसिक स्तर पर कुछ स्मृतियों का आना भी संभव है।

२)संभव है कि तथाकथित पूर्वजन्म की स्मृति का वास्तविक आधार व्यक्ति के अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण द्वारा प्राप्त जानकारी ही हो।.....आदि

३)कभी-कभी यह कहा जाता है कि ऐसा सांस्कृतिक प्रभाव के कारण होता है । अर्थात वे समाज जिनकी संस्कृति पुनर्जन्म की मान्यता में आस्था रखती हैं , अतीन्द्रिय शक्ति से प्राप्त ये सूचनाएं पूर्वजन्म की स्मृतियों का रूप ले लेती हैं और जिन समाजों में इस तरह की आस्था नहीं है, वहां ऐसा रूप नहीं लेती।

लेकिन फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि आनुवंशिक रूप में स्मृतियों का हस्तांतरण इस सीमा तक तो नहीं खोजा जा सका । कथित पूनर्जन्म की स्मृतियों के सैकड़ों प्रकरण एकत्रित कर लेने के बावजूद अभी परामनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाएं कि इनसे पूनर्जन्म सिद्ध होता ही है या इसकी एक तथ्य के रूप में प्रस्थापना होती है । किसी विचार का व्यापक समर्थन उसे 'सत्य' नहीं बना देता। सत्य की खोज का मार्ग आज के मनुष्य के लिए निर्विवाद रूप से सिद्ध विज्ञान ही है।

मैस्मेरिज्म

मैस्मेर (१७३३-१८१५) एक ऑस्ट्रियन डॉक्टर था । उसने उपचार की एक अनोखी विधि प्रचलित की थी और उससे कई असाध्य रोगों को ठीक करने का दावा किया । जब उसके पास रोगियों की संख्या बढ़ने लगी, तो उसने सामूहिक उपचार की एक विधि खोज निकाली। उसने एक घूमनेवाला बड़ा टब बनाया और उसे चुम्बकीय पदार्थों से भर दिया । इस टब के बाहर की ओर अनेक लोहे की छड़ें निकली हुई होती थीं । इनके स्पर्श से रोगी चुम्बकीय शक्ति प्राप्त करता था । कभी-कभी छड़ों की संख्या तीस तक होती थीं । इस तरह तीस व्यक्ति एकसाथ उपचार ग्रहण कर सकते थे । पियानो पर संगीत बजता रहता था । आलीशान रेशमी पोशाख पहने मैस्मेर वहाँ उपस्थित रहता था । धीरे-धीरे रोगियों में ऐंठन होने लगती और वे तन्द्रा की अवस्था में पहुंच

जाते थे। कुछ देर बाद उनका शरीर एकदम निढाल हो जाता था , लेकिन तब वे स्वस्थ हो गए ऐसा दावा किया जाता था । १७७९ में मैस्मेर ने अपनी पुस्तक में इसका कारण बताया कि "ब्रह्मांड, पृथ्वी और जीवित प्राणी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस प्रभाव का माध्यम एक सर्व व्यापी द्रव है। यह द्रव शरीर में स्नायुओं की माध्यम से प्रसारित रहता है। यह शरीर को चुंबकीय विशेषता प्रदान करता है। यदि इस द्रव को निश्चित प्रकार से निर्दिष्ट किया जाये तो सभी रोगों का इलाज संभव है।" समय के साथ मैस्मेर के उपचार की धूम मची हुई थी । वास्तवता का पता लगाने, सरकार की ओर से दो जाँच समितियां बनाई गईं। दोनों ने घोषित किया कि मैस्मेर के दावे की पुष्टि नहीं की जा सकती । लेकिन समिति के एक अन्य सदस्य लॉरेंट डी. जस्यु ने किसी निरीक्षण के कारण अपना अलग मत व्यक्त किया कि कोई ऐसा माध्यम है अवश्य , जो एक व्यक्ति से दूसरे में पहुंचकर प्रभाव उत्पन्न करता है।

मैस्मेर के ही एक शिष्य मार्कविस डी.प्युसेगार के अनुसार एक बार उसके उपचार करने के दरम्यान उसका एक २३ वर्षीय रोगी, एक विचित्र प्रकार की निद्रा में लीन होकर हंसने, बोलने और अन्य दैनंदिन क्रियाओं को , पूर्व की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता से संपन्न करने लगा । दावे के अनुसार सबसे विचित्र बात यह थी कि उसने अपने रोग का पूरा विवरण और उपचार भी बताया । धीरे-धीरे ऐसे प्रकरणों की संख्या बढ़ने लगी । ऐसे उपचार और दावा करनेवाले कई पैदा हो गए । इसे 'सोमनाम्ब्युलिज्म '(निद्राचार) कहा जाने लगा।

शुरुआत हुई थी मैस्मेर की उपचार पद्धति से जिसमें हिस्टीरिया के लक्षण जैसे संज्ञा शून्यता, एंठन, अति उत्साह आदि तो प्रदर्शित होते थे , लेकिन कोई परासामान्य लक्षण नहीं थे , परन्तु अब तो परासामान्य घटनाओं की ही भरमार थी।

इन प्रघटनाओं का संबंध था मुलतः मन कि विशिष्ट अवस्थाओं से, जिसे आज 'सम्मोहन' (हिप्नोटिज्म) कहते हैं।

मैस्मेर की उपचार विधि में , आज की सम्मोहन क्रिया की भाषा में , वह सामान्यतः सक्रीय सम्मोहन अवस्था का उपयोग करता था । आज अधिकांशतः निष्क्रिय, निद्रा समान सम्मोहन का प्रचलन है। सम्मोहन के विशेष अध्ययनकर्ता डॉ.एफ.एल.मार्क्यूस ने अपनी पुस्तक 'हिप्नोसिस फैक्ट एंड फिक्शन' में लिखा है, "एक कल-कल करती नदी के किनारे शांत बैठकर , किसी मंत्र की एक सी लय को सुनते हुए, किसी चमकती हुई या फिर सम्भवतः स्वयं अपनी ही नाभि को एकटक देखते हुए, लोग अनादि काल से आत्मजनित एक प्रकार की सम्मोहन अवस्था उत्पन्न करते रहे हैं।-----इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलें हैं कि यूनान में ईसा से चार शताब्दी पूर्व प्रचलित उपचार क्रियाओं में किसी न किसी रूप में 'सुझाव' का सहारा लिया जाता था।

१८४१ के दरम्यान मेनचेस्टर के डॉ.जेम्स ब्रेड ने बहुत से प्रयोग करके यह विचार रखा कि मैग्नेटिज्म, सोमनाम्ब्युलिज्म और सुझाव ग्रहणशीलता, तीनों में मन की एक समान विशिष्ट अवस्था रहती है। ब्रेड ने ही सर्वप्रथम 'हिप्नोटिज्म' शब्द का प्रयोग किया था।

एक ओर प्रैतिकवाद का उदय था तो दूसरी ओर उपरोक्त प्रयोगों में अभिव्यक्त अतीन्द्रिय बोध का प्रचार, और दोनों का विज्ञान की मान्यताओं से सीधा टकराव। कई समितियां बनाई गईं, इन बातों को परखने के लिए । इस बात पर जबरदस्त विवाद रहा कि उपरोक्त उपचारों की प्रभावोत्पादकता का कारण कोई जैविक चुंबकत्व (एनीमल मैग्नेटिज्म) है या मानसिक कल्पनाशक्ति या फिर कुछ और । लेकिन इसका उत्तर आज तक प्राप्त नहीं किया जा सका । विचारकों के सामने प्रश्न था, वास्तवता किसे माने?

अबतक विज्ञान के क्षेत्र में 'परासामान्य' की संकल्पना को कोई स्थान नहीं था। विज्ञान का आधार ही था प्रकृति-मात्र, कुछ भौतिक शक्तियों की एक व्यवस्था , जो पूर्णतः इंद्रियानुभविक (इम्पीरिकल) है। लेकिन इसपर एकमत था कि वास्तवता तक पहुंचने का मार्ग है -प्राक्कल्पनाओं (hypothesis), प्रेक्षणों (observations) तथा प्रयोगों (experiments) से होते हुए गुजरनेवाला- अर्थात् वैज्ञानिक अनुसन्धान का । इसी में से उद्भव हुआ पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि से वैज्ञानिक विधियों द्वारा अध्ययन करनेवाले विज्ञान -परामनोविज्ञान का और अंत में प्रखर विरोध के बावजूद अमेरिका की सर्वोच्च वैज्ञानिक प्रतिष्ठान द्वारा इसे मान्यता मिल ही गई।

क्या यह संभव नहीं कि 'परासामान्य', यथार्थ प्राकृतिक घटनाएँ हों?

इस प्रश्न का सुनिश्चित उत्तर पाने की दिशा में जो पहला कदम उठाया, वह केंब्रिज के कुछ साहसिक बुद्धिजीवियों ने । उन्होंने एक संस्था की स्थापना की जिसका नाम रखा गया 'घोस्ट सोसाइटी'। इस सोसाइटी के अंतर्गत अनेक स्वयंस्फूर्त परासामान्य घटनाओं के विवरण एकत्र किये गए और उनकी सूक्ष्मता से जांच की गयी । आगे ऑक्सफ़ोर्ड में बनी 'Phantasmological Society' तो लंदन में बनी 'London Dialectical Society'। जनवरी १९८२ में सर विलियम बैरेट ने विद्वानों का एक सम्मलेन आयोजित किया । परासामान्य जिसे अभी तक अद्भुत , अति प्राकृतिक और वैज्ञानिकों की भाषा में अस्तित्वहीन समझा जाता रहा , उसके अध्ययन हेतु एक व्यवस्थित, सुसंबद्ध और गंभीर वैज्ञानिक शोध का विधिवत श्रीगणेश हुआ । कांफ्रेंस ने निर्णय लिया की 'Society For Psychical Reserch' नाम के संस्थान की स्थापना की जाए । सोसाइटी ने अपना लक्ष्य घोषित किया कि बिना किसी पक्षपात या पूर्वाग्रह के , मनुष्य की उन सभी कथित अथवा यथार्थ शक्तियों की वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच करना जो किसी भी सामान्य स्वीकृत व्याख्या द्वारा समझायीं नहीं जा सकती । इसके प्रथम अध्यक्ष बनाये गए Henry Sidgwick। वे निर्विवाद रूप से एक उच्च कोटि के विद्वान् ही नहीं थे बल्कि एक सत्यनिष्ठ

व्यक्ति भी समझे जाते थे | इनके प्रमुख सहयोगी थे **Federick Mayers** और **Edmond Gurney**। अन्य विद्वान भी इस संस्थान से आ जुड़े | इनमें से अधिकांश लोग जीवनपर्यन्त जीवन-मृत्यु की अनसुलझी गुत्थियों से जूझते रहें। इन्हीं में से एक प्रमुख समस्या थी, मृत्यु के बाद जीवन रहता है या नहीं? **Sidgwick** ने वर्षों तक 'माध्यमों' का अध्ययन किया, लेकिन उन्हें मृत आत्माओं के अस्तित्व का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला | जो प्रश्न उनके सामने थे, वे आज भी कायम हैं। इसके अतिरिक्त अन्य संस्थाओं ने भी काफी अनुसन्धान किया।

परामनोविज्ञान मुख्य रूप से तीन प्रकार के अन्वेषणों में शामिल हैं-

- १) विचित्र प्रकार के आभास। इनमें टेलिपथी, पूर्वाभास या परोक्ष दर्शन जैसी बातें शामिल हैं।
- २) केवल मस्तिष्क के जरिये कोई काम करना। जैसे बिना छुए चम्मच को मोड़ देना।
- ३) मृत्यु के बाद का संवाद। जैसे भूत-प्रेत या आत्माओं से संवाद।

असाधारण घटनाक्रम से जुड़े मनोविज्ञान को समझने के लिए न्यूरोसाइंस की भी मदद ली जा रही है।

सम्मोहन

सम्मोहन के माध्यम से किसी की भी मानसिक स्थिति को बदला जा सकता है या उसपर मानसिक कब्ज़ा किया जा सकता है। ऐसा करके उस व्यक्ति से मनचाहा काम करवाया जा सकता है। किसी को अपने वश में करने के लिए सम्मोहन की कला का प्राचीन काल से उपयोग किया जा रहा है। पहले लोग इसे रहस्य या जादू दिखाने का जरिया मानते थे। लेकिन जब इसका वैज्ञानिक अध्ययन हुआ तो अब इसे एक विज्ञान माना जाने लगा है।

सम्मोहन का प्रभाव व्यक्ति पर पूर्णता में पड़ता है , आंशिक रूप में भी | किसपर कैसा प्रभाव होगा यह सम्मोहित व्यक्ति की मानसिक शक्ति पर निर्भर होगा। किसी व्यक्ति पर सम्मोहन का प्रयोग करना हो तो , उसकी सम्मति आवश्यक है | सम्मोहन किये जाने की एक प्रक्रिया है | उसीके अनुसार इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

जब कोई व्यक्ति किसीपर सम्मोहन करता है , तो वह उस व्यक्ति से , जिस पर सम्मोहन किया जा रहा है, किसी एक जगह पर ध्यान केंद्रित करने के लिए बार-बार कहता है। यह स्थान कुछ भी हो सकता है। जब वह व्यक्ति ऐसा करता है, तो वह व्यक्ति सम्मोहित होने लगता है। वह निद्रा की अवस्था में पहुंच रहा होता है। तब सम्मोहित करनेवाला उसे आदेश देना शुरू करता है। सम्मोहित व्यक्ति के शरीर की हरकतें बदल जाती हैं | वह रोबोट की तरह काम करने लगता है |

इस अवस्था में वह ऐसे-ऐसे काम करने लगता है, जिनकी उसके द्वारा, सामान्य अवस्था में करने की बात सोची भी नहीं जा सकती।

साइकोलॉजिकल मनुप्युलेशन-

उपरोक्त नाम की एक संज्ञा उपयोग में लायी जाती है । किसी व्यक्ति के मनोव्यापार पर नियंत्रण रखने का यह प्रकार है। व्यक्ति के मन पर अधिकार करनेवाला नियंत्रक उसका चाहे जिस ढंग से उपयोग कर लेता है। ऐसे नियंत्रक के पास बला की आक्रामकता होती है । प्रभावित व्यक्ति को वास्तविक दुनिया से अधिक से अधिक दूर धकेलने में ही नियंत्रक की सफलता होती है।

ब्लू व्हेल चैलेंज

रूस का २१ वर्षीय युवक फिलिप बुडिकेन, विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान का छात्र था । लेकिन पढाई में अच्छा नहीं कर पा रहा था , इसलिए उसे निकाल दिया गया । हताशा में उसने २०१३ में एक गेम बना लिया और उसे इंटरनेट पर पहुंचा भी दिया । ब्लू व्हेल मछली के बारे में ऐसा समझा जाता है कि वह आत्महत्या करने समुद्र के किनारे आती है । इस गेम को 'ब्लू व्हेल चैलेंज' नाम दिया गया। इसमें रोज एक, इस हिसाब से पचास चैलेंज दिए जाते हैं । ये अजीब-अजीब किस्म के टास्क होते हैं। लिंक के मार्फत आप इससे जुड़ते हो। पहला टास्क पूरा होने पर, उसका प्रमाण देने पर , दूसरा टास्क दिया जाता है। धीरे-धीरे अंतिम पायदान पर ले जाकर आत्महत्या के लिए उत्तेजित किया जाता है । पूरा खेल, मानसिक हताशा से गुजर रहें बच्चों को काबू में कर, मौत के मुँह तक ले जाता है।

लेकिन दुनिया की नजर इसपर २०१५ में गई और पूरी दुनिया में हड़कंप मच गया जब १६ रूसी बच्चियाँ ने गेम पूरा करते हुए आत्महत्या कर लेने की बात रूसी महिला पत्रकार गलिना ने सामने लाई। दुनिया में अबतक इस खेल ने २५० के ऊपर बच्चों की जानें ली हैं और एक बार इसमें उलझने के बाद इससे बहर निकलना बहुत कठिन हो जाता है। काफी खोजबीन के बाद फिलिप को गिरफ्तार किया गया । यह तो हताशा और उस कारण उपजे प्रतिशोध का खेल था।

लेकिन इससे साफ होता है कि अपरिपक्व मष्तिष्क को इस स्थिति में पहुंचाया जा सकता है कि वह बुद्धि का उपयोग ही न कर सके और बाबा लोग यही करते हैं।

मनःप्रभाव (साइकोकाइनेसिस)

मन द्वारा पदार्थ को सीधे प्रभावित करने की क्रिया को मनःप्रभाव कहा गया है । बाह्य जगत में मानवीय कार्यों के प्रति सामान्य मान्यता यही रही है कि प्रत्येक कार्य के लिए दैहिक अवयवों, यथा मस्तिष्क, स्नायु मासपेशियां और कर्मेन्द्रियों का होना अनिवार्य है । किन्तु जब कोई क्रिया बिना दैहिक माध्यम के, सीधे मन द्वारा पदार्थ को प्रभावित करके संपन्न होती है तो उसे 'परासामान्य' श्रेणी में ही रखना होगा।

मैडम नेल्या मिखाइलोवा (असली नाम: नाइनेल कुलागिना)

उपरोक्त व्यक्ति की गतिविधियों का सोवियत संघ के वैज्ञानिकों द्वारा बहुत अच्छी तरह अध्ययन और परीक्षण किया गया है । एक कुशाग्र बुद्धि और आकर्षक व्यक्तित्ववाली इस महिला ने सर्वोच्च वैज्ञानिकों की देखरेख में कई बार विभिन्न प्रकार की चीजों , जैसे कम्पास, धातु का बेलन, पेन, माचिस की डिबिया, कांच के कवर के नीचे रखी पांच सिगरेटें आदि को बिना उन्हें स्पर्श किये, हिलाने-डुलाने अथवा खिसकाने की क्षमता का प्रदर्शन किया।

करतब दिखाने हेतु अपने आपको उपयुक्त स्थिति में लाने के लिए कभी-कभी उन्हें दो से चार घंटे तक लग जाते थे । डॉ .गेनार्ड सुरगेव के अनुसार इनकी नाड़ी की गति २४० तक हो जाती थी और कोई आधे घंटे के भीतर ही उनके शरीर का भार ४ पौंड तक कम हो जाया करता था। करतब के बाद वे एकदम निढाल भी हो जाया करती थी । उनके पैरों में दर्द होने लगता और कभी-कभी तो कुछ देर तक उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता था। विशिष्ट उपकरणों की सहायता से, उनके शरीर को घेरने वाले 'शक्तिपूर्ण क्षेत्र' की जांच करने पर पता चला कि उनके विद्युत् चुंबकीय शक्ति का क्षेत्र औसत व्यक्ति की अपेक्षा कहीं ज्यादा है । आम तौर पर व्यक्ति अपने मस्तिष्क के अग्रभाग के बजाय पृष्ठभाग से तीन या चार गुना अधिक विद्युत् वोल्टेज प्रवाहित करता है , जबकि यह मैडम अपने मस्तिष्क के पृष्ठभाग से कोई पचास गुना अधिक वोल्टेज प्रवाहित करती थी। १९७२ में एक अँगरेज़ भौतिकशास्त्री और डाउनटाउन में परामनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला के निदेशक, बेन्सन हर्बर्ट, ने पाया कि उपरोक्त मैडम अपनी इच्छा से अपने दाएं या बायें हाथ में गर्मी भी पैदा कर सकती थी । अपने गर्म हाथों से वे अगर किसी की बाह पकड़ लेती , तो उसे बहुत दर्द होने लगता, वहां जलने का निशान भी बन जाता, जो कई दिनों तक बना रहता।

वे वैज्ञानिकों को उनके अन्वेषण में पूरा सहयोग देती थी । कोई भी यह नहीं कह सका कि वे धोखाघड़ी करती है। लेकिन कोई यह नहीं निश्चित कर सका कि वे जिस भौतिक शक्ति का प्रयोग करती है, उसका स्वरूप क्या है। १९६८ में 'मास्को प्रावदा' में मास्को विद्यापीठ के भौतिक

शास्त्र विभाग के प्रमुख डॉ. यातरलेस्की ने स्पष्ट कहा कि मैडम मिखाइलोवा ऊर्जा के एक नए और अज्ञात रूप का प्रदर्शन करती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह आईनस्टाइन के सिद्धांत अनुसार पदार्थ के ऊर्जा में रूपांतरण का मामला है। किसी अलौकिक शक्ति का नहीं। प्रकृति में उपस्थित कई बातें तो हम जानते हैं लेकिन सभी का कारण हमें ज्ञात हैं, ऐसी बात नहीं उदा. डार्क मैटर आदि। विज्ञान की यात्रा उसी दिशा में ही तो है।

ऐसे और भी उदाहरण हैं जैसे इसरायली उरी गैलर आदि, लेकिन वे उतने पारदर्शी नहीं हैं। एक तो बात निश्चित है कि व्यक्ति द्वारा सचेतन प्रयास करने पर सदा ही परासामान्य प्रघटनाएँ उत्पन्न हो सकने का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, जैसा कि विज्ञान में संभव है।

पोल्टरगाइस्ट

कुछ घटनाएँ ऐसी घटती हैं जिनका कारण प्रत्यक्ष सामने नहीं दिखता। जैसेकि अपने तरफ जिन्हें 'भानामती' की घटनाएँ कहा जाता हैं। अधिकतर इन घटनाओं का कारण भूत-प्रेत या शैतान को समझा जाता है। जर्मन भाषा में इन घटनाओं के कारण का नाम 'पोल्टर गाइस्ट' है। पोल्टर याने शोरगुल करनेवाली और गाइस्ट याने आत्मा। हाल के समय में इसपर वैज्ञानिक विधियों से अध्ययन करने वालों में डब्ल्यू.जी.रोल और उनके साथी हैं। सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर उसके पीछे भौतिक कार्य-कारण सम्बन्ध मिलता है।

अपने यहाँ भी लाखों रुपयों का चैलेंज देने पर भी पारदर्शी ढंग से भानामती को किसी ने सिद्ध नहीं किया।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण और अतीन्द्रिय बोधशक्ति (extra sensory perception)

सामान्यतः बाह्य जगत का बोध हमें अपने ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। लेकिन जब किसी भी मनःप्रभाव अथवा भौतिक वस्तु या घटना का बोध हमें बिना किसी इन्द्रिय संवेद अथवा तार्किक अनुमान से हो तो उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण कहा जाता है। इसके अंतर्गत-

- १) टैलीपैथी-परचित्त बोध-व्यक्ति अन्य व्यक्ति के मस्तिष्क से सीधे ज्ञान प्राप्त करता है।
- २) क्लेयरवॉयन्स-दिव्यदृष्टि-सुदूर घटित होनेवाली घटनाओं को जान सकना।
- ३) रेट्रोकोग्नीशन-भूतभास-भूतकाल में क्या घटित हो चुका है -बिना किसी सामान्य सुचना के-इसका बोध प्राप्त कर सकना।

४) काग्निशन पूर्वाभास -भविष्य में होने वाली घटनाओं का बिना सामान्य सूचनाओं को आधार बनाये ज्ञान प्राप्त कर सकना।

स्वयंपूर्ण अनुभव के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा उनकी प्रमाणिकता की आती है । बहुत बड़ी संख्या में इस तरह के अनुभव का अध्ययन करने पर एक विचित्र नियम उभरकर सामने आया है। प्रायः जिन प्रकरणों में परासामान्य की साक्ष बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण दिखती है उनकी विश्वसनीयता उतनी ही अधिक संदिग्ध होती है और इसी तरह जिन प्रकरणों में परासामान्य के साक्ष स्पष्ट और महत्वपूर्ण नहीं होते वे स्पष्ट रूप से अधिक प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। सभी अन्वेषक इस बात पर सहमत हैं कि अतीन्द्रिय बोध के सर्वाधिक अनुभव मृत्यु, दुर्घटना या किसी मानवीय संकट से सम्बंधित होते हैं। ग्राही अधिकतर कोई महिला होती है और अनुभव में प्रायः उसके किसी पुरुष सम्बन्धी या मित्र सम्बंधित सुचना निहित होती है । ये अनुभव प्रेषक की तुलना में ग्राही की अभिरुचियों एवं कार्यों से अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं । इस तरह यद्यपि ग्राही को अक्सर लगता यह है कि प्रेषक उसे कुछ सम्प्रेषित करने की चेष्टा कर रहा है , लेकिन बादमें अनुमानित प्रेषक से पूछताछ करने पर , वह नहीं स्वीकारता कि उसने कुछ सम्प्रेषित करने की चेष्टा की थी।

एक रेडिओ इंजिनियर टी ,एन.एम्.टैरिल ने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात की और ध्यान दिलाया है कि अधिकतर अन्वेषक अपने प्रयोगों में भौतिक विज्ञानों की तरह प्रायोगिक दशाओं पर बल देते समय इस तथ्य की पूर्णतः उपेक्षा कर देते हैं कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में मात्र भौतिक दशाओं का ही महत्व नहीं होता बल्कि मनोवैज्ञानिक दशाएं भी बड़ी महत्व की होती हैं । ऐसा भी देखा गया है कि आत्मीयतापूर्ण , उत्साहजन्य वातावरण, उस क्षमता की अभिव्यक्ति में बड़ा सहायक होता है, तो नीरस और आलोचनात्मक वातावरण से यह क्षमता अवरुद्ध हो जाती है।

१९६८ में डॉ.थेलमा मॉस ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि भावात्मक सामग्री का सम्प्रेषण भावहीन सामग्री कि अपेक्षा अधिक मात्रा में और स्पष्ट रूप में होता है । यहाँ भी दावा है कि सम्मोहन द्वारा कुछ व्यक्तियों में अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है।

कुछ उदाहरण:-

एक व्यक्ति को बार-बार यह स्वप्न आता था कि उसके मुँह और बाह पर लकवा मार गया है। कुछ ही माह बाद, एक दिन जब वह अपना रेडियो ठीक कर रहा था तो उसकी बाह और मुँह का एक भाग सुन्न पड़ गया। इस कथित पूर्वाभाषी स्वप्न का भी समाधान डॉक्टरी परीक्षा में यह मिला कि इस व्यक्ति के शरीर में वंशानुगत रोग दबा हुआ था और सन्निपात के हलके-हलके झटके उसे प्रारम्भ से निद्रा में ही आने लगे थे। यही उसके स्वप्नों का कारण था।

एक अन्य घटना में द्रष्टा ने अपने पिता की मृत्यु देखी और बाद में उसे पिता के मृत्यु की सूचना मिली। व्यक्ति के मनोविश्लेषण के बाद ऐसा पाया गया कि व्यक्ति को पहले भी कई बार ऐसे स्वप्न आ चुके थे। उसके अचेतन मन में अपने पिता के प्रति विद्रोह की गहरी भावना दबी पड़ी थी।

लेकिन अभी तक इस प्रकार के बोध की कोई सामान्य व्याख्या किसी भी विज्ञान द्वारा संभव नहीं हो पाई है। प्रयोगों से जितने उत्तर मिलते हैं कदाचित्त उनसे अधिक प्रश्नार्थक चिन्ह खड़े होते हैं।

दिव्य दृष्टि या सुदूर दृष्टि

अमेरिकी सरकार ने पहले ही इस तरह की किसी शक्ति की खोज में, जो सैनिकी काम में आ सके करोड़ों डॉलर खर्च कर डाले हैं। क्या 'परा जासूस' अपनी असामान्य शक्ति की मदद से दूरस्थ बातों का पता लगा सकता है?' लेकिन काफी प्रयत्न के बाद भी कोई सफलता नहीं मिली।

अनुभूतियाँ: मृत्यु के दरम्यान तथा पश्चात्

उपरोक्त विषय पर अबतक कई अध्ययन हो चुके हैं | 'लाइफ आफ्टर लाइफ' जैसी किताब भी डॉ.रेमंड मूडी द्वारा १९७५ में प्रकाशित की गई है | संक्षिप्त में इसे 'NDE' अनुभूतियाँ कहा जाता है।

मरणासन्न अवस्था अर्थात् जान निकलने के दरम्यान की स्थिति के अनुभव (नियर डेथ एक्सपीरियंस)। इन्हें दो भागों में बाटा जा सकता है | १) मनोवैज्ञानिक कारणों की व्याख्या करता है - मरनेवाला इंसान क्या , कैसे और क्यों सोचता और व्यवहार करता है | २) दिमाग के उस हिस्से पर केंद्रित है जो **NDE** अनुभवों के लिए उत्तरदाई है।

कहने की जरूरत नहीं कि मरणासन्न अवस्था के अनुभव मृत्यु से बचे लोगों से ही सुनने को मिलेंगे। जो लोग मरते-मरते बचे हैं, उनमें से एक तिहाई मरणासन्न अवस्था से गुजरे हैं। हो सकता है, मरणासन्न अवस्था वास्तविक हो या वास्तविक होने का धोका हो।

मौत के कुछ अनुभव

डॉ. मूडी ने १५० लोगों के अनुभव एकत्र किए, जो तथाकथित मृत्यु के बाद फिर जीवित हुए थे।

अपरिचित आवाज जो मृत्यु के समय गूंजती है।

शांति! या दर्द समाप्त होना: मृत्यु की प्रक्रिया में लोग भारी दर्द अनुभव करते हैं , ऐसा कहा जाता है, या कर सकते हैं। लेकिन जैसे ही वे शरीर त्यागते हैं वैसे ही दर्द गायब हो जाता है और वे परम शांति का अनुभव करते हैं।

शरीर से बाहर होने का अनुभव: मरनेवाले को अनुभव होता है कि वह ऊपर उठ रहा है और डॉक्टरों से घिरे अपने शरीर के ऊपर तैरते हुए सब कुछ देख रहा है।

सुरंग का अनुभव: अनुभव है, बड़ी तेजी से एक सुरंग के जरिए गहरे अँधेरे में डूबना, जिसके छोर पर तेज प्रकाश दिखाई देता है।

तेज गति से ऊपर की ओर बढ़ना: सुरंग में जाने के स्थान पर कुछ लोग ऊपर किसी दूसरे लोक की ओर तेजी से बढ़ना अनुभव करते हैं | पृथ्वी उन्हें वैसी ही नजर आती है , जैसीकि अंतरिक्ष में गए किसी अंतरिक्ष यात्री को।

प्रकाशवान लोक: सुरंग या स्वर्ग की सफर के बाद कहीं, मृतक की भेंट पहले ही मर चुके मित्रों-रिश्तेदारों से होती है, जिनके अंदर से प्रकाश फुट रहा होता है।

प्रकाश -पुंज से भेंट: कुछ मृतक शक्तिशाली प्रकाश-पुंज से मिलते हैं , जिन्हें वे ईश्वर बताते हैं।

जीवन समीक्षा: कभी-कभी मृतकों को अपने जीवन के कर्मों का लेखा-जोखा भी देखने को मिलता है।

लौटने की इच्छा न होना- कभी-कभी मृतक से कहा जाता है कि उसे लौटना होगा । किसी से यह भी कहा जाता है कि, तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है, चाहों तो वापस लौट जाओ, चाहों तो यहीं रहों। दोनों ही मामलों में किसीको लौटने की इच्छा नहीं होती।

फिर अनुभव बतानेवाले लौटकर कैसे आएँ?

मृत्यु दरम्यान

यह वह अवस्था होती है , जब मनुष्य खुद से खुद को दूर होते देखता है या स्वयं को पराया अनुभव करता है । कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि शरीर त्यागने का अहसास वास्तव में व्यक्तित्व विघटन के एक पहलू 'detachment' का चरम विस्तार है । अधिकतर स्थिति में 'depersonalisation' अनुभव सुखद नहीं होता। वह चिंता, डर, और खालीपन की अनुभूति देता है।

कुछ लोग इसे डिस-एसोसिएशन (अलगाव) स्थिति मानते हैं। यह, वह मानसिक स्थिति है जब तीव्र और दुःखद भावनाएं विद्यमान स्थितियों और विचारों से अलग हो जाती हैं ताकि व्यक्ति को तकलीफ देनेवाली भावनाओं का अहसास देर से हों , या हों ही नहीं। अकस्मात् दुर्घटनाओं के शिकार भी इस अनुभव से गुजरते हैं । यूनिवर्सिटी ऑफ वर्जीनिया के शोधकर्ता ब्रूस गीसन ने **NDE (NEAR DEATH EXPERIENCE)** पर अध्ययन किया। इसमें अनुभव करनेवाले ९६ और अनुभव न करनेवाले ३८ व्यक्ति शामिल थे। प्रयोग के अंत में वे इस नतीजे पर पहुंचे कि **NDE** के दौरान डिस-एसोसिएशन एक ऐसी सुखद मानसिक स्थिति है, जो तनाव से लड़ने के लिए पैदा होती है।

कुछ शोधकर्ता इसे हकीकत से अलग होने के बजाय वास्तविकता पर ही आधारित ऐसा अनुभव मानते हैं, जिसमें आराम और आनंद का अनुभव होता है , चूँकि मृत्यु का दर्द और प्रक्रिया समाप्त हो चुकी होती है।

इसका एक कारण यह भी समझा जाता है कि मृत्यु सम्बन्धी मानसिक तनाव , ब्रेन केमिकल 'एंडोर्फिन्स' के स्तर में उफान ला देता है । एंडोर्फिन्स दर्द को दूर कर सुखद अनुभूति करने के लिए उत्तरदाई होता है।

माना तो यह भी जाता है कि दिमाग को ऑक्सीजन न मिलने पर **NDE** का आभास होता है। ऑक्सीजन की कमी के कारण ब्रेन सेल छटपटाने लगते हैं और टेम्पोरल लोब में असामान्य फायरिंग शुरू कर देते हैं। जिसके कारण ब्रेन असामान्य बातें सोचने लगता है।

ऐसा ही दृश्यशक्ति के नियंत्रक दिमागी हिस्से 'विजुअल कोर्टिक्स' में होता है। विजुअल कोर्टिक्स के आवरण में देखने के लिए उत्तरदाई सेलों की संख्या में कमी आती है और आवरण के भीतर ये सेल घने होते हैं। इस कारण कुछ लोगों को प्रकाशवाली सुरंग से गुजरने का अहसास होता है। (हेल्थ एंड नुट्रिशन: अप्रैल २००४ के सौजन्य से)

NDE का पश्चात परिणाम कुछ व्यक्तियों के लिए सकारात्मक मानसिकता में होता है तो कुछ के लिए नकारात्मक। कोई विशिष्ट पैटर्न नहीं कहा जा सकता।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त अनुभूतियाँ किसी अलौकिक तत्व की, शरीर के बाहर होनेवाली आध्यत्मिक गतिविधियाँ नहीं हैं, तो मरणोन्मुख दिमाग के ही न्यूरोट्रांसमीटरों की गतियों का ही परिणाम है। (हितवाद : १९-१०-२००३: **NDE**: द थेओरीज)

मनःशक्ति विश्लेषण

मनुष्य का मस्तिष्क सबसे अधिक रहस्यपूर्ण है । प्रत्येक मस्तिष्क की अपनी क्षमताएं होती हैं। उनकी ग्रहण और प्रेषण क्षमता भी अलग-अलग होती है । यह क्षमता बहुत कुछ व्यक्ति की एकाग्रता पर निर्भर होती है । यह तो अब स्पष्ट हो चुका है कि मस्तिष्क की गतिविधियां विद्युत् संकेतों के फलस्वरूप होती हैं और विद्युत् हलचल से तरंगों की उत्पत्ति और प्रेषण होता है । अर्थात् मनुष्य के मस्तिष्क से तरंगों का प्रेषण होता है । जिस तरह हमारा रेडियो संच अलग-अलग रेडियो स्टेशनों से आनेवाली तरंगों में से विशिष्ट बारम्बारिता के तरंगों का विशिष्ट स्थिति में पहुंचकर ग्रहण कर लेता है जिसे हम ट्युनिंग कहते हैं; उसी तरह अगर कोई व्यक्ति ऐसी शक्ति उत्पन्न कर ले, कि किसी अन्य व्यक्ति के दिमाग से आनेवाली तरंगों को ट्यून कर सके तो वह अन्य व्यक्ति के विचारों को पढ़ ले । ऐसी शक्ति कि संभावना हो सकती है जिसे टेलिपथी कहा जाता है। और ऐसी शक्तियां एकाग्रता द्वारा प्राप्त की जाना संभव हो सकता है । एकाग्रता द्वारा हम अपने मन की बात, बिना अभिव्यक्त किए भी दूसरे के मस्तिष्क तक पहुंचा सकते हैं।

हर समय ऊर्जा का प्रेषण हमारे शरीर से होते रहता है । यह ऊर्जा आसपास की वस्तुओं में समाहित होती रहती है । लेकिन इस ऊर्जा की मात्रा इतनी कम होती है कि उसे न तो प्रेषण करनेवाला जान पाता है, न ही ग्रहण करनेवाला। जब कोई प्रतिभा का धनी इस ऊर्जा को पहचान लेता है तब हम उसे अतीन्द्रिय शक्ति संपन्न कहते हैं । कुछ वैज्ञानिकों की मान्यता है कि ऊर्जा प्लाज्मा जैसे कणों के रूप में उत्सर्जित होती रहती है जिसे वे 'बायो प्लाज्मा ऊर्जा ' या 'सायकोट्रॉनिक एनर्जी' कहते हैं। अतः अतीन्द्रिय शक्ति कोई ऐसा रहस्य नहीं है जो प्रकृति से बाहरी हो।

शरीर में तीन प्रकार की शक्तियां होती हैं-
3) मनःशक्ति।

१)भौतिक या शारीरिक २)बौद्धिक

इनमें से भौतिक या शारीरिक शक्ति का उपयोग तो हम रोजमर्रा के जीवन में करते हैं । समय के साथ और विज्ञान की उन्नति के रूप में मनुष्य ने अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग करना भी सीख लिया है। फिर भी ऐसा माना जाता है कि मनुष्य अधिकतर अपनी बौद्धिक क्षमता का एक तिहाई उपयोग ही कर पाया है। बाकी क्षमता यहीं पड़ी रहती है। यह ऊर्जा निश्चित कितने प्रतिशत है इसका लेखा-जोखा अभी नहीं बन पाया है। जहाँ तक मनःशक्ति के उपयोग का प्रश्न है, विद्वानों का मत है कि मनुष्य ने अपनी इस शक्ति का शायद एक सहस्रांश उपयोग करना भी नहीं सीखा है। हमारे शरीर में ऊर्जा का असीम भंडार है । हमारी इन्द्रियां कभी-कभार उसकी कुछ उर्मियों का साक्षात्कार कर पाती हैं, उसे ही हम अतीन्द्रिय शक्ति का चमत्कार मान बैठते हैं।

मनःशक्ति द्वारा भौतिक वस्तुओं को प्रभावित करना

मनःशक्ति का अस्तित्व तो हम मानते ही हैं | तभी तो कहते रहते हैं कि इच्छा शक्ति बढ़ाओ। दुनिया में कुछ व्यक्ति ऐसे भी पाए जाते हैं जो केवल एकाग्रता के आधार पर बिना छुए दूर की वस्तुओं में हलचल पैदा कर देते हैं | यह वास्तव में मनःशक्ति की भौतिक ऊर्जा में परिवर्तन की बात होनी चाहिए। यह परिवर्तन की क्षमता इन-गिने लोगों में ही पाई जाती है। कुछ इसे बड़ी साधना से प्राप्त करते हैं तो किसी को यह अनायास ही मिल जाती है | आइंस्टाइन का सूत्र है जो ऊर्जा और भौतिक वस्तु को जोड़ता है - $E=mc^2$ इसके अनुसार भौतिक वस्तु और ऊर्जा इनका एक दूसरे में रूपांतरण संभव है | (प्रेतविद्या से परामनोविज्ञान तक: धर्मयुग: ४-४-१९८७)

न्यूरो थिओलॉजी

अब तथाकथित विज्ञान की एक नई शाखा विकसित हो गई है 'न्यूरो थिओलॉजी'। इसके अंतर्गत धर्म और आध्यत्मिकता की न्यूरो बायोलॉजी का अध्ययन किया जाता है | कोलंबिया विश्वविद्यालय में तो विज्ञान और धर्म के अध्ययन के लिए एक विशेष केंद्र स्थापित किया गया है। खोज का विषय है , वे अनुभव जिन्हें मनुष्य सामान्य से भिन्न रूप में अनुभव करता है | मनोविज्ञानी तथा मस्तिष्क विज्ञानी इस खोज में जुटे हैं कि जब कोई मनुष्य स्वयं को , देश, काल से परे चला गया है ऐसा अनुभव करता है या वह तथाकथित आध्यात्मिक अनुभूति अनुभव करता है उस समय उसके मस्तिष्क का कौनसा क्षेत्र सक्रिय हो उठता है या कौनसा निष्क्रिय ? इसके लिए पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के डॉ.एंड्रू न्यूबर्ग ने ब्रेन के इमेज मैपिंग का उपयोग किया। इसका प्रयोग उन्होंने अपने ही एक सहयोगी डॉ. माइकेल जे.बैमे पर किया | वे तिब्बत ध्यान पद्धति के जानकार थे | वे एक छोटे से कमरे में फर्श पर बैठ गए | वहां उन्होंने एक मानसिक बिम्ब पर अपना ध्यान केंद्रित करना शुरू किया और चेतन मस्तिष्क से सम्बन्ध विच्छेद का प्रयत्न किया | जब वे आध्यात्म अनुभव की तीव्रता के शिखर पर पहुंचे तब उनकी सिंगल फोटोन एमिशन कंप्यूटेड टोमोग्राफी शुरू की गई | फोटो ऐसे थे मानो सचमुच भावातीत अवस्था के फोटोग्राफ लिए जा रहे हों | इन फोटोग्राफों में देखा गया कि सामने माथे की ओर स्थित कोर्टेक्स-जो वास्तव में ध्यान केंद्रित करने का क्षेत्र है-सघन ध्यान की स्थिति में एकदम चमक उठा , लेकिन मस्तिष्क का वह भाग जो देश , काल का निर्धारण करता है एकदम अंधःकारमय हो गया था। (अब अलग-अलग बोध करानेवाले मस्तिष्क के अलग-अलग हिस्से द्रुत निकाले गए हैं।)---(दैनिक भास्कर:जीरो मील :२९-४-२००४)

अर्थात् यह सारे अनुभव मस्तिष्क की स्थिति से ही जुड़े हैं | उसमें अलौकिक तत्त्व जैसी कोई चीज नहीं।

मन और दिमाग

मन अमूर्त है, दिखता नहीं फिर भी खुशी, लोभ, मत्सर आदि मनोभावों का प्रत्यय आता है। वह सार्वत्रिक है। सभी भावनाओं का उगमस्थान दिमाग है , यह निर्विवाद सिद्ध हुआ है । दिमाग मूर्त है, वस्तुरूप है, उसे भार है, आकारमान है। किसी दिमाग का कार्य बंद होने पर उस व्यक्ति में कोई मन-भावना उत्पन्न नहीं हो सकती । अर्थात् मन का अस्तित्व दिमाग के कार्य पर ही निर्भर है। अब बात रही उस अवयव की जिसे हम हृदय कहते हैं । वहां कोई भावना उद्भूत नहीं होती। वहां केवल खून की शुद्धि आदि कार्य होता है । वहां कोई भावना पैदा नहीं होती। हाँ, किसी कारण से दिमाग में अगर डर की अनुभूति उभरी तो मनुष्य को उसके लिए भागने की प्रेरणा मिलती है और उसके लिए रक्तसंचार की गति बढ़ती है । हृदय जोर से धड़कने लगता है । लेकिन डर भी दिमाग में पैदा होता है, हृदय में नहीं। दिमाग को होनेवाला प्राणवायु की पूर्ति समाप्त होते ही भावना विश्व लुप्त हो जाता है।

मानवी बुद्धि

मानवी बुद्धि जैविक दृष्टि से उत्क्रांत होती हुई आई है। हमारा अभी का दिमाग यह आदि मानव के दिमाग से कमसे कम तीन गुना बड़ा है।

नास्तिकता

- सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार, एकमात्र वैदिक संहिताओं को आधार मानकर मूलतत्त्वों का अनुसंधान करने वाले 'श्रौत' हैं। इनमें-

शंकराचार्य (वेदान्त)

पतंजलि (योग)

जैमिनी (मीमांसा)

लेकिन श्रौत को प्रामाण्य मानते हुए उसके भीतर-भीतर तार्किक विश्लेषण के समर्थक बादरायण के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करनेवाले, रामानुज तथा मध्वाचार्य संप्रदाय के अनुयायी, उपनिषदों का प्रामाण्य मानते हैं लेकिन श्रुतिवाक्यों को नहीं मानते।

इनके विरुद्ध-

मूलतत्त्वों के अन्वेषण हेतु वेद प्रामाण्य को न मानते हुए केवल तर्क को माध्यम बनानेवाले-

कणाद (वैशेषिक)

गौतम या अक्षपाद (न्याय)

महावीर (जैन)

बुद्ध

- प्राचीन काल में जो वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते थे उन्हें नास्तिक कहा जाता था।
- लेकिन पाणिनी, आचार्य जयदित्य और वामन के अनुसार नास्तिक वे हैं जो परलोक में विश्वास नहीं करते। इस दृष्टि से बौद्ध और जैन इस वर्ग में नहीं आएंगे चूंकि वे पुनर्जन्म और परलोक में विश्वास करते हैं।

‘अस्ति परलोक इति मनिर्मस्य असौ नास्तिकः’

- वास्तव में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा छहों दर्शन आस्तिक होते हुए भी ‘पारंपरिक’ ईश्वर-कल्पना में उनका विश्वास नहीं है । दर्शन, यह स्वतंत्रतः चिन्तन क्षेत्र है जहां अनिश्चरवादी भी आस्तिक हो सकते हैं।
- अब रुढ़ि विरोध को नास्तिकता कहा जाता है । इसमें ईश्वर में अविश्वास भी अंतर्भूत है।
- स्वामी विवेकानंद कहते हैं , ‘नास्तिक वह नहीं है जिसका ईश्वर में विश्वास नहीं है बल्कि नास्तिक वह है जो मनुष्य में विश्वास नहीं करता।’

- तो अब भारतीय चिंतन धारा में शुद्ध नास्तिक कहें जाने लायक दर्शन बचते हैं लोकायत\चार्वाक जो पूरी तरह तर्क पर आधारित है। निरीक्षण और अनुभव पर इनका जोर है।
- पाश्चात्य ज्ञान के संपर्क में जो भी व्यक्ति आता था उसे ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह होने लगता था और इसी रास्ते पर बढ़ते हुए वहाँ विज्ञान की बड़ी-बड़ी खोजें हुईं।
- नास्तिकता और बौद्धिक स्तर का संबंध-
- माइकल शेरमर ने अपने सहयोगी फ्रैंक सुल्लोवय के साथ, अमेरिका में एक बड़ा यादृच्छिक सर्वेक्षण किया जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'हाऊ उई बिलिव्ह: द सर्च ऑफ गॉड इन द एज ऑफ सायंस' में प्रकाशित किया। उन्हें यह नजर आया कि 'जितनी शिक्षा और बौद्धिक स्तर अधिक उतना ही पारंपरिक श्रद्धा का स्तर कम और जितनी बुद्धिमत्ता कम, उतनी धार्मिकता अधिक। आगे जितनी धार्मिकता कम उतनी राजनीतिक उदारता अधिक। मैं फिर से दोहरा दूँ कि यह संशोधन ऐसा हरगिज नहीं बताता कि कोई सुशिक्षित या बुद्धिमान व्यक्ति श्रद्धा नहीं रखता या सभी श्रद्धालु कम लब्धि शिक्षित या कम बुद्धिमान होते हैं। यह सांख्यिकीय अध्ययन केवल एक समग्र प्रवृत्ति दर्शाता है।'
- बौद्धिक लब्धि (इंटेलिक्चुअल कोशंट)
- आयक्यू में उंचे अंक प्राप्त करनेवालों का संगठन है 'मेन्सा' जो इसी नाम से एक मॅगॅझिन प्रकाशित करता है। पॉल बेल ने २००२ में छपे एक लेख का समारोप इस तरह किया- 'एक तरफ धार्मिक विश्वास और दूसरी तरफ बुद्धि और शिक्षा का स्तर इनमें परस्पर संबंध जानने के लिए १९२७ से लेकर तो २००२ तक ४३ अध्ययन किये गये। इन ४३ में से ३९ ने प्रतिलोम संबंध दर्शाए। 'जितनी बुद्धिमत्ता या शिक्षा का प्रमाण अधिक, उतनी ही कम संभावना है धार्मिक या किसी श्रद्धा की।'

संवेग लब्धि (इमोशनल कोशंट)

ऊपर बुद्धिमत्ता गुणांक का उल्लेख हुआ है। लेकिन बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं की दृष्टि से भी मनुष्य संवेदनशील है। किसी भी बात पर सोचते समय, आम तौर पर बुद्धि और भावनाएं अपनी-अपनी भूमिकाएं जरूर अदा करती हैं। कभी वे एकदूसरे से टकराती हैं तो कभी एकदूसरे की सहायक बनती हैं। जब वे सहयोगी बनती हैं तो मनुष्य का निर्णय अधिक संतुलित होता है। केवल एक के आधार पर लिया निर्णय अधिकतर ऐसा नहीं होता। लेकिन जब वे टकराती हैं तो मनुष्य को उनमें से किसी एकको महत्व देना आवश्यक हो जाता है। जहांतक आयक्यू का प्रश्न है तो सौ प्रतिशत इसी संसार से संबंधित होगा। लेकिन भावनात्मकता का संबंध मनुष्य के मन से है, उसमें उठनेवाली कल्पनाओं से है। उनकी गुणवत्ता को परखने के लिए बुद्धि का सहारा

ही लेना आवश्यक है । फिर भी इसके 'भावनिकता गुणांक' की कल्पना की गई है । उसका भी महत्व है । उसकी रचना भी (इमोशनल कुओशिएन्ट) वैज्ञानिक आधार पर ही की गयी है । इसी कारण बड़ी कंपनियां, रक्षा विभाग कुछ महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियां करते समय इसका उपयोग करती हैं । इसके आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि व्यक्ति अति संवेदनशील, काफी संवेदनशील, सामान्य संवेदनशील, निम्न संवेदनशील, इनमें से किस वर्ग में आती है । परीक्षा के लिए निम्न तीन मितियों का आधार लिया जाता है-

- १) भावनात्मक संवेदनशीलता (अपनी असफलता और अहम पर चोट के समय आपका रहनेवाला व्यवहार)
- २) भावनिक प्रौढ़ता (उचित समय पर अगुआई करना या पीछे हटना और औरों को अवसर प्रदान करना)
- ३) भावनिक कौशल्य (अन्योंकी मनस्थिति को पहचानना तथा अपनी भावनाएं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करना)

यह परीक्षा लिखित रूप में प्रश्नोत्तर ढंग की होती है । उत्तर हां या ना में नहीं होता। आमतौर पर, दिए गये चार विकल्पों में से एक का आपको चयन करना होता है। विशिष्ट स्थिति में आपका व्यवहार कैसा होगा?

आत्मिकता गुणांक(स्परिचुअल कुओशिएन्ट):आध्यात्मिक लब्धि

इस गुणांक को भी विकसित करने का प्रयत्न किया गया है । वैसा देखा जाए तो आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता यही विवादग्रस्त बात है । क्योंकि इसका किसी भी ढंग का वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है । हां, उसका किसी भी विशेष धर्म या संप्रदाय से भी कोई संबंध नहीं है। आत्मिकता गुणांक विकसित करते समय निम्न छह बातों को ध्यान में लिया गया है। १) सामाजिक भान २) सजगता ३) कलात्मकता ४) वास्तविकता की समझ ५) व्यवहारिकता ६) पारंपरिक चिंतन का रूप। इनके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि आपका व्यक्तित्व कितना विकसित है अर्थात् आप कितने संतुलित हैं । विशिष्ट स्थिति में आपका व्यवहार कैसा होगा? परीक्षण का स्वरूप वैसा ही है । इसका संबंध आपके संतुलित व्यक्तित्व से है । यह आवश्यक नहीं कि इसके लिए आप केवल और केवल अध्यात्म की काल्पनिक संकल्पनाओं की शरण में जाएं।

आध्यात्मिक गुणांक का विचार करते समय कुछ बातों पर ध्यान देने का उल्लेख मिलता है। जैसे कोई समस्यात्मक स्थिति सामने आने पर क्या व्यक्ति नई स्थिति का निर्माण कर सकेगी? इस बात का क्या केवल अध्यात्म से ही संबंध है? नेतृत्व प्रदान करने के गुण का महत्व तो जीवन के हर क्षेत्र में है । साचाबंद जीवन से बाहर आने की क्षमता का भी उल्लेख हुआ है । दूसरी ओर अध्यात्म यह प्रयत्न करता है कि, समाज का जो दायरा है, व्यक्ति उसीमें रहे । इस तरह यहाँ भी विरोधाभास है । इस गुणांक की रचना और निरीक्षणों से अर्थ निकालने की पद्धति इन बाबत भी कई धाराएं हैं। किसी भी प्रकार के प्रामाणीकरण का अभाव है जैसे हजारों संप्रदाय हैं, लेकिन एक की जूती एक के पांव में नहीं आती । वही प्रकार यहाँ भी है । जितने मन उत्तनी कल्पनाएँ और हरेक के साथ जुड़ा हुआ एक अहम । कोई वस्तुनिष्ठ आधार ही नहीं तो यह स्थिति तो आनी ही है।

आध्यात्म का वैज्ञानिक परीक्षण

क्या आध्यात्मिक अनुभवों में सत्यता होती हैं? और यदि ऐसा है तो क्या स्नायुतंत्र या नाडीतंत्र में ऐसा कौनसा क्षेत्र है, जो इन अनुभूतियों के लिए उत्तरदायी है? इन सारे प्रश्नों ने विज्ञान की एक नई शाखा को जन्म दिया है । इसे 'न्यूरोथियोलॉजी' कहते हैं, जो धर्म-दर्शन की 'न्यूरोबायोलॉजी' का अध्ययन करती है। 'एंड्रयू न्यूबर्ग ने गहन ध्यान' के क्षणों में, प्रार्थना के क्षणों में मस्तिष्क में होनेवाले परिवर्तनों को जांचा है। इसके लिए एक विशेष तकनीक भी विकसित की गई है । इसे **(SPECT: Singal Photon Emmission Copound Tomography)** कहा जाता है। अनेक बौद्धों (तिब्बती लामाओं) तथा ननों पर किए गये प्रयोगों से उन्होंने पाया कि जैविक रूप से मानव मस्तिष्क में ऐसा कोई तार जुड़ा है, जो हमें धार्मिक विश्वास, दिव्यता तथा आध्यात्मिकता की अनुभूति करवाता है । गहन ध्यान के क्षणों में मस्तिष्क के फ्रंटल-लॉब क्षेत्र में क्रियाशीलता बढ़ जाती है तथा ध्यान की चरमावस्था में तो यह ज्योतिष हो जाता है । यही कारण है कि आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति शांत, करुणावान होते हैं तथा भावात्मक असंतुलन से मुक्त रहते हैं।

यह दावा है उपरोक्त अन्वेषक का।

लेकिन उपरोक्त सारा विश्लेषण तो जुड़ा है मनोभावों और उसके अनुसार मस्तिष्क में होनेवाले भौतिक परिवर्तनों का। इसमें प्रकृति पार के किसी तत्व की क्या भूमिका है?

भगत सिंह: मैं नास्तिक क्यों हूँ?-

- यहाँ तो मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यह अहंकार नहीं है जिसने मुझे नास्तिकता के सिद्धांत को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। न तो मैं प्रतिध्वंदि हूँ , न ही अवतार और न स्वयं परमात्मा।
- हमारी पुरानी विरासत के दो पक्ष होते हैं , एक सांस्कृतिक और मिथिहासिक। मैं सांस्कृतिक गुणों, जैसे निष्काम देश सेवा , बलिदान, विश्वासों पर अटल रहना को पूरी सच्चाई से अपनाकर आगे बढ़ाने की कोशिश में हूँ , लेकिन मिथिहासिक विचारों को, जो की पुरानी समय की समझ के अनुरूप है , वैसे के वैसे मानने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हूँ, क्योंकि विज्ञान ने खूब वृद्धि की है और वैज्ञानिक विचार अपनाकर ही भविष्य की समस्याएं हल हो सकती हैं।
- हम प्रकृति में विश्वास रखते हैं और समस्त प्रगति का ध्येय , मनुष्य द्वारा, अपनी सेवा के लिए प्रकृति पर विजय पाना है। इसको दिशा देने के पीछे कोई चेतन शक्ति नहीं है।
- धर्म, संप्रदाय, पंथ और ऐसी अन्य संस्थाएं अंत में निर्दयी और शोषक संस्थाओं , व्यक्तिओं और वर्गों की समर्थक हो जाती हैं।
- यही भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बड़ी उथल-पुथल की ओर ले जा रहा है।
- काल्पनिक खुशी होने के नाते धर्म का विलोप, उनकी सच्ची खुशी के लिए आवश्यक है।
- मेरे विचार से कोई भी मनुष्य जिसमें थोड़ी भी विवेकशक्ति है , वह अपने वातावरण को तार्किक रूप से समझना चाहेगा।
- हिन्दुओं, तुम कहते हो कि आज जो लोग कष्ट भोग रहे हैं , वे पूर्व जन्म के पापी हैं। सारे सिद्धांत विशेषाधिकार युक्त लोगों के अविष्कार हैं। ये अपनी हथियाई हुई शक्ति, पूंजी तथा उच्चता को इन सिद्धांतों के आधार पर सही ठहराते हैं।
- ईश्वर से मनुष्य को अत्याधिक सांत्वना देनेवाला एक आधार मिल सकता है। उसके बिना मनुष्य को स्वयं अपने ऊपर निर्भर होना पड़ता है। मैं अपना जीवन एक ध्येय के लिए कुर्बान करने जा रहा हूँ , इस विचार अतिरिक्त और क्या सांत्वना हो सकती है ? बिना किसी स्वार्थ के , यहाँ या यहाँ के बाद पुरस्कार की इच्छा के बिना मैंने अनासक्त भाव से अपने जीवन को स्वतंत्रा के ध्येय पर समर्पित कर दिया है, क्योंकि मैं और कुछ कर ही नहीं सकता था। जिस दिन हमें इस मनोवृत्ति के बहुत से पुरुष और महिलाएं मिल जाएँगी, जो अपने जीवन को मनुष्य की सेवा तथा पीड़ित मानवता के उद्धार के अतिरिक्त और कहीं समर्पित कर ही नहीं सकते , उसी दिन मुक्ति के युग का शुभारम्भ होगा। वे शोषकों , उत्पीड़ितों और अत्याचारियों को चुनौती देने के लिए उत्प्रेरित होंगे।

इसलिए नहीं की उन्हें राजा बनना है या कोई अन्य पुरस्कार प्राप्त करना है - यहाँ या अगले जन्म में या मृत्यु उपरांत स्वर्ग में। उन्हें तो मानवता की गर्दन से दासवृत्ति का जुआ उतार फेंकने तथा मुक्ति और शांति स्थापित करने के लिए इस मार्ग को अपनाना होगा।

- मैं जानता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में ईश्वर पर विश्वास ने मेरा जीवन आसान और मेरा बोझ हल्का बना दिया होता। उसपर मेरे अविश्वास ने सारे वातावरण को शुष्क बना दिया है और परिस्थितियाँ एक कठोर रूप ले सकती हैं। थोड़ा सा रहस्यवाद इसे कवित्वमय बना सकता है। किन्तु मेरे भाग्य को किसी उन्माद का सहारा नहीं चाहिए। मैं यथार्थवादी हूँ। मैं अपनी अंतःप्रकृति पर, विवेक की सहायता से विजय चाहता हूँ। स्वार्थ के लिए मैं प्रार्थना नहीं करूँगा।

नास्तिक

आस्तिक व्यक्ति के धार्मिक ज्ञान से नास्तिक व्यक्ति का धर्मविषयक ज्ञान लक्षणीय ढंग से अधिक होता है। आज के माहौल में कोई पैदाइशी नास्तिक नहीं हो सकता। उसपर तो शुरू से ही आस्तिक संस्कारों की बौछार होती रहती है | वह नास्तिक बनता है तो अच्छे-खासे बौद्धिक व्यायाम के बाद ही।

लोकायत दर्शन: जनता का सम्प्रदाय

* लोक शब्द का अर्थ मानव संसार या प्राणी समूह से है। जैसे लोकोक्त, लोकयात्रा आदि।

लोकायत का अर्थ था लोकदर्शन या जनसाधारण का जीवन दर्शन या वे जो संसार अथवा इसके रीतिरिवाजों के अनुसार आचरण करते हैं उनका दर्शन।

लोकायत सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री बहुत ही कम तथा खंडित स्वरूप में है । इस कारण वह कुछ अस्पष्ट है।

एक सम्मानित दर्शन-

महाभारत के 'वनपर्व' में द्रौपदी ने कहा है कि वह जब छोटी थी तब उसके पिता ब्राह्मणों को अपने यहाँ बुलाया करते थे । उसके पिता और भाइयों ने ब्राह्मण से ही 'ब्राहिस्पत्य' मत का अध्ययन किया। यदि लोकायत मत वैसा ही होता जैसा आध्यात्मवादी बताते हैं तो द्रौपदी के पिता जैसा सम्मानित व्यक्ति कभी भी इस मत को सीखने और अध्ययन करने का कष्ट न लेता । अगर लोकायत के विचार सुखप्राप्ति के लिए दौड़नेवाले मूढ़ जनों की स्वाभाविक अक्षीलता की अभिव्यक्ति ही होते, तो क्या यह सारी बातें संभव थीं?

डॉ .राधाकृष्णन के अनुसार-

"प्रभावहीन होने के बावजूद भौतिकवाद एक ऐतिहासिक भूमिका निभा रहा था । वह परंपरा और जादू-टोने से जकड़े पुराने धर्म को उखाड़ रहा था , व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता को घोषित कर रहा था। शास्त्रों की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत को अस्वीकार कर रहा था। धर्मान्धता की समाप्ति इसलिए आवश्यक थी कि महान रचनात्मक चिंतन हो सके।"

ई.पू.६०० से लेकर तो २०० ई.तक के आर्य काव्य युग के दौरान की अव्यवस्थित स्थितियों में बौद्धिक विकास के रूप में लोकायत उपजा है।

शंकर जैसे आत्यंतिक उच्च रूप से सजग भाववादी भी कहते हैं कि तर्कणापरक भौतिकवाद के साथ रहस्यपरक भाववाद का समावेश नहीं हो सकता । वेदांत और सांख्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा," दोनों ने जो विकल्प बताए हैं वे अपने आपमें सर्वतः पूर्ण हैं । इसलिए दोनों में से एक को अनिवार्यतः स्वीकार किया जाना चाहिए।" (ब्रह्मसूत्र पर-)

'साधारणत्वत न अन्यतरस्मिन् पक्षे चौदशतय्य भवति इति'

चार्वाक नामकरण-

गुणरत्न नामक विद्वान् ने चार्वाक नाम के विषय में अनिश्चितता बताई है । इस प्रकार यह कहना कठिन है कि 'चार्वाक' शब्द किसी व्यक्ति का नाम था या लोकायत मतावलम्बियों को सम्बोधित करने के लिए केवल एक शब्द था।

कुछ मजाक उड़ानेवाले उसकी उत्पत्ति 'चर्व' (भोजन करना) धातु से मानते हैं। उनके विचार से चार्वाक मत का उद्देश्य खाना-पीना था इसलिए यह नाम पड़ा । इसीसे मिलता-जुलता एक और विचार है। कुछ लोग 'चर्वण' (चबाना) से इसकी उत्पत्ति मानते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार चारु वाक् (मीठी या सुन्दर बातें) से इसका जन्म हुआ है।

बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। लेकिन कुछ चिंतक ऐसा व्यक्ति होने पर संदेह व्यक्त करते हैं।

बहुत से ग्रंथों में लोकायत के विचारों के विरुद्ध जितना तिरस्कार और घृणा व्यक्त की गई है, उसे देखते हुए बहुधा यह अनुमान लगाया जाता है कि इसके ग्रंथों को जानबूझकर नष्ट कर दिया गया हो।

रीस डेविडसन ने तो बौद्ध सूत्रों के आधार पर कह दिया कि लोकायत नामक कोई मत और उसके अनुयायी कभी अस्तित्व में ही नहीं थे । प्राचीन साहित्य में लोकायतिक कहलानेवाले कुछ लोगों का उल्लेख मिलता है। (हालांकि यह साहित्य लोकायत विरोधियों द्वारा ही लिखा गया है) वह केवल प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन बितानेवाले लोगों के विषय में था । लेकिन उपरोक्त मत अतिवादी है।

चट्टोपाध्याय जी के अनुसार जब बौद्ध धर्म, जिसका आधार ही आचारशुद्धि था, में अपभ्रष्ट बौद्ध सम्प्रदाय, जिनमें नैतिक दृष्टि से कामुकतापूर्ण आचरण की खुली छूट थी , पैदा हुए तो कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ स्वच्छन्द विचारवाले गट , अपने व्यवहार को उचित ठहराने के लिए इस विचार से जुड़ गए हों । लेकिन उस कारण मूल विचारधारा को दोष देना ठीक नहीं । उदा. कापालिक संप्रदाय। वैसे भी समाज में यह प्रचलित है ही कि किसी के प्रति घृणा फैलाने के लिए उसके चरित्र पर लांछन लगा दो, अफवा उड़ा दो। यह सबसे आसान तरीका है। ---धृतम पिबेत -- -के रूप में लोकायत या चार्वाक दर्शन की छबी बनाने के लिए सारे आस्तिक दर्शन टूट पड़े । आपको इसके लिए कोई सबूत देने की भी जरूरत नहीं।

आमतौर पर मध्वाचार्य की कृति में लोकायत सम्बन्धी जो खंडित सामग्री है उसीको इस दर्शन के लिए आरंभिक स्रोत माना जाता है। वैसे मध्वाचार्य तो भौतिकवाद के प्रबल विरोधी थे। फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा वह स्पष्ट और संतुलित माना जाता है।

एक विचारक थे पुरंदर । इनपर दासगुप्त जी ने काफी शोधकार्य किया है । ये स्वयं लोकायतिक थे। इन्हें 'चार्वाक मते ग्रंथकर्ता' माना जाता है। दासगुप्त के अनुसार ये सातवीं सदी में हुए। उनके काल के सन्दर्भ में कुछ अलग विचार हो सकते हैं। लेकिन उनके विचारों से लोकायत सम्बन्धी अधिकृत जानकारी मिल सकती है।

लोकायत मत की स्थापना

ऐसा कहा जाता है कि लोकायत मत की स्थापना बृहस्पति ने की थी । इसी कारण लोकायत को 'बृहस्पत्य मत' कहा जाता है। अर्थात् बृहस्पति की नीति।

कुछ लोगों के अनुसार 'लोकायत' सुमेरिया से भारत आया।

इसे नीति और अर्थशास्त्र का पूर्वगामी माना गया है । ब्राह्मणों में नीति और अर्थशास्त्र को बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित माना है । लोकायतों ने अपने भौतिकवादी दर्शन से अर्थविज्ञान की शुरुवात की थी। (लोकायत पृ.४४)

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में (i .१) में सांख्य और योग के साथ-साथ लोकायत का भी उल्लेख किया है और इसे तर्कविज्ञान अर्थात् आन्वीक्षिकी कहा है।

चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति और देवताओं के प्रसिद्ध गुरु सुराचार्य बृहस्पति इनको ,कुछ विद्वान्, एक ही मानते हैं । बृहस्पति द्वारा लिखे गए अर्थशास्त्र से चार्वाक दर्शन के सिद्धांत आश्चर्यजनक रूप से मेल खाते हैं । कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य ने बृहस्पति के अर्थशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत किया है और उनकी बड़ी प्रशंसा की है । आज बृहस्पति अर्थशास्त्र और बार्हस्पत्य दोनों उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में स्थान-स्थान पर उद्धृत वचनों तथा सूत्रों से ही इनका पता चलता है।

- प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक एपिक्यूरियस के हेडोनिज्म (सुखवाद) तथा लुकेशियस के भौतिकवाद के सहारे उन्नति कर के पश्चिम देश विज्ञान के बल पर संसार के शासक बन बैठे। उनके विरोधी उनकी प्रतिमा मलिन करने में ही अपने आपको धन्य मानते रहे और हम भी आजतक यही करते आ रहे हैं।

लोकायत का प्रमाणवाद

आमतौर पर माना जाता है कि लोकायतों ने अनुमान की वैधता को अस्वीकार किया है। मध्वाचार्य के अनुसार लोकायत चिंतन में ज्ञान का एकमात्र स्रोत सीधा इन्द्रिय ज्ञान है।

सभी तर्क व्याप्ति पर आधारित हैं और इसलिए व्याप्ति का खंडन करने का अर्थ है तर्क में ही अविश्वास करना। लेकिन लोकायतों ने अपने पक्ष में तर्क का भरपूर उपयोग किया है। न्यायदर्शन के मध्ययुगीन विचारक उदयन ने भी कहा है कि यह सिद्धांत मानने से हमारा समस्त व्यावहारिक जीवन ही अस्तव्यस्त हो जाएगा।

लेकिन परिस्थितिजन्य प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता कि लोकायतों का ऐसा विशुद्ध नकारात्मक दृष्टिकोण रहा हो। इसके विपरीत लोकायत मतानुयायी संभवतः भारत के पहले तर्कविद थे।

पुरंदर स्वीकार करते हैं कि इन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से सभी भौतिक वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करने में अनुमान की उपयोगिता है किन्तु अनुभवातीत जगत के सम्बन्ध में किसी रूढ़िगत धारणा को सिद्ध करने अथवा मृत्यु के बाद के जीवन या कर्म - नियति के सम्बन्ध में कोई धारणा स्थापित करने के लिए अनुमान को उपयोग में नहीं लाया जा सकता, क्योंकि इनके सम्बन्ध में साधारण इन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

'वितंड' का अर्थ होता है कपटपूर्ण वादविवाद तो 'वाद' का अर्थ है किसी निश्चित धारणा को उचित सिद्ध करने के लिए निष्पक्ष रूप में तर्कसंगत विवाद करना। शुक्रनीति सार ने भी कहा है कि नास्तिक लोगों के तर्क बड़े प्रबल होते थे।

लोकायतिक इन्द्रिय ज्ञान को सबसे अधिक महत्व इसलिए देना चाहते थे ताकि धार्मिक पाखंडियों द्वारा आम लोगों को जो मुख्र बनाने के लिए 'अज्ञेय' के अस्तित्व के पक्ष में अनुमान और श्रुति पर अधिक बल दिया जा रहा था और लोगों को बौद्धिक भ्रम में झोंका जा रहा था, उससे उन्हें बचाया जाए।

"भारतीय तर्कशास्त्र का जन्म, धार्मिक छलकपट से जनसाधारण को बचाने के प्रयत्नों का परिणाम है।"--- (देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय: लोकायत पृ २५)

ऐसा विश्वास किया जाता है कि लोकायतिक भी कृषि को भारी महत्व देते थे। लोकायतीकों ने 'व्रत' को अत्यंत महत्वपूर्ण माना और व्रत का मूल अर्थ था कृषि और यदि तंत्रवाद का वामाचार कृषक लोगों के विश्वासों का अंग था तो कुछ विद्वान् मानते हैं कि तंत्र और लोकायत एक ही हैं। (बृहस्पति सूत्र १३०-३ और प्रबोधन चंद्रोदय)

चार्वाक के अन्य सिद्धांत-

'ब्रह्मसूत्र' पर अपने भाष्य में शंकराचार्य ने तीन बार लोकायत मतों का उल्लेख किया है और प्रत्येक बार यही कहा है कि इनके अनुसार शरीर से अलग कोई आत्मा नहीं है । अज्ञानी लोगों और लोकायतिकों का मत है कि बुद्धिसंपन्न भौतिक शरीर ही आत्मा है । शरीर की रचना अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी इन चार पदार्थों से मिलकर हुई है । चारों के संयोग से शरीर में चेतना आ जाती है। शरीर ही आत्मा है। आत्मा नाम का कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

ईश्वर की भी कोई सत्ता नहीं है।

अन्य कर्मकांडों को भी चार्वाक ने व्यर्थ कहा।

यज्ञ में मारे जानेवाले पशु के लिए यह कहा जाता था कि इनकी हत्या नहीं होती । इससे वह पशु भी स्वर्ग चला जाता है। इसपर चार्वाक का तर्क है कि अगर यह इतना आसान टोटका है और यज्ञ में मारा हुआ पशु सीधा स्वर्ग चला जाता है तो यजमान अपने जेष्ठ व्यक्तियों में से सर्वप्रिय व्यक्तियों की बलि क्यों नहीं देता ? स्वर्ग में मानो उसका स्थान आरक्षित हो ही गया , मानना पड़ेगा।

आदमी-आदमी में भेद करनेवाले वर्णभेद, जाति-भेद ये अशास्त्रीय हैं।

बुद्धिमान, चलाख लेकिन दुर्बल पुरुषों ने स्त्री की आजादी के लिए विघातक पतिव्रतादि मूल्यों की निर्मिति की।

उत्पत्ति, स्थिति और लय यह जगत का स्वभाव-कारण है। मोक्ष, मुक्ति आदि कुछ नहीं है। मृत्यु ही मोक्ष है। इससे अलग मोक्ष का कुछ अर्थ होता होगा तो वह है स्वातंत्र्य और बंधन का मतलब है पारतंत्र्य।

उन्होंने वेद प्रामाण्य का जबरदस्त विरोध किया। वेद अपौरुषेय नहीं हैं। स्वयं की बुद्धि यही प्रमाण है।

धर्म का अर्थ है पुरोहितों द्वारा चलाया जा रहा धोखेबाजी का व्यवसाय। अज्ञानी लोग इसके शिकार होते हैं। चार्वाक ने साधारण जनता को जीवन का सच्चा मार्ग बताने के लिए वेद, आत्मा, ईश्वर, यज्ञ, परलोक आदि सभी आध्यात्मिक संकल्पनाओं को झूठा करार दिया।

प्रकृति की जिस सुंदरता ने वैदिक आर्यों को मोह लिया था उसीपर उन्होंने ऋचाएं रच डालीं। लेकिन बाद में यज्ञ, पुरोहितों और धनवान यजमानों तक ही सीमित हो गए। उपनिषदों की गाड़ी तो काल्पनिक भावनाओं पर दौड़ रही थी । उपनिषदों में उठाए गए प्रश्नों से ही

चार्वाक/लोकायत दर्शन का प्रारम्भ होता है। बौद्ध काल में यह दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर था। बृहस्पति (चार्वाक) ने इसे व्यवस्थित रूप दिया और जनसामान्य के लिए इसका आविर्भाव किया, उन्हें जीवन का सच्चा मार्ग बताने के लिए।

भौतिक उन्नति और उसके आधार पर मानवी जीवन अधिक सुखमय बनाना इसीपर इस चिंतन का जोर था। सबका कहना था कि संसार दुखों का भंडार है। यहाँ शुद्ध सुख नहीं मिलता। अतः इसे छोड़कर परलोक की चिंता करो। चार्वाक ने भी संसार को सुख-दुःख का झमेला माना है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि संसार से मुँह मोड़ लो। उसने काल्पनिक परलोक के लिए शरीर को पीड़ा देने, रुक्ष कर्मकांड करने का विरोध करते हुए संसार को ही सुखों का भंडार बताया। उसने दुःखों की समाप्ति को ही मोक्ष बताया।

चार्वाक दर्शन ने समाज में नियमपूर्वक चलकर अर्थशास्त्र के अनुसार अपना जीवन सुखकर बनाकर सांसारिक उन्नति के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी। अर्थ की महत्ता समझकर ही चार्वाक मत के प्रवर्तक बृहस्पति ने अर्थशास्त्र का निर्माण किया और आय तथा व्यय को संतुलित करने की सलाह दी। अपने भौतिकवादी दर्शन से अर्थविज्ञान की शुरुआत की। कृषि, गोपालन आदि मार्गों से धनोपार्जन करते हुए सुख भोगना लेकिन शरीर को भस्म लगाकर नहीं बैठना चाहिए।

चाहे चार्वाकों को कोई कुछ भी कहें लेकिन उन्हें ही तर्कशास्त्र अर्थात् बुद्धिवाद के आद्य प्रणेता मानना होगा। चार्वाक दर्शन के तर्कों के आगे कल्पनाओं की उड़ान भरनेवाले विचार टिकना संभव ही नहीं था। इस प्रकार चार्वाक दर्शन ने सामान्य जनों को जीवन के प्रति वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण दिया।

अन्य उल्लेख-

छान्दोग्य उपनिषद् को सर्वाधिक प्राचीन उपनिषद् माना जाता है। उसमें तथा महाभारत - सभा-पर्व, भागवत, वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण इत्यादि प्राचीन साहित्य में 'विरोचन' नाम के लोकायत विचारों को माननेवाले असूर का उल्लेख आता है।

महाभारत के शांतिपर्व में भी चार्वाक नामक एक भौतिकवादी राक्षस का उल्लेख आता है जो दुर्योधन के मित्र के रूप में है।

मुंडकोपनिषद् में इस तरह की वैचारिक बगावत करनेवालों को 'अतिवादी' कहा गया है।

यह परंपरा ईसा की सातवीं सदी तक बिखरे हुए रूप में ही मिलती है। लेकिन सातवीं सदी में जयरशिभट्ट इस विचारक का "तत्त्वोपप्लवसिंह" यह ग्रन्थ मिलता है।

उपनिषदों में 'कोसंबी' नामक एक आदि भौतिकवादी की भी झलक मिलती है। उसे 'अन्न दर्शन' की संज्ञा दी गई है। इसके अनुसार सभी प्राणी अन्न से उपजे, अन्न पर पलते और उसीमें विलीन हो जाते हैं

लेकिन बौद्ध और जैन दोनों ने इस विचारधारा का विरोध किया। बौद्ध ग्रंथों में चार्वाक दर्शन पढ़ने पर ही प्रतिबन्ध है तो जैन दर्शन इसे मिथ्या दर्शन कहता है।

आर्य साहित्य में ऐसे विचारकों को घृणा से राक्षस, असूर, पाखंडी, नास्तिक, आर्यतर कहकर उन्हें कोसा गया है। इससे ऐसा लगता है वे निश्चित ही आर्यतर होने चाहिए।

प्रथम भौतिकवादी उद्दालक

आज से २८०० वर्ष पूर्व लिखे गए छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में उद्दालक आरुणि की सोच का विस्तृत वर्णन मिलता है। विद्वान् लोक इस नतीजे पर पहुंचे हैं, "उपनिषदों में उद्दालक ही एकमात्र ऐसे विचारक हैं जिनकी विवेचना में ब्रह्म शब्द कहीं नहीं आता, न ही मोक्ष की धारणा मिलती है। ऐसा नहीं कि वे इन संकल्पनाओं से अनभिज्ञ थे। वस्तुतः एक जगह उन्होंने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से दार्शनिक चर्चा करते हुए यह बताया कि वह (याज्ञवल्क्य) ब्रह्म और आत्मावाली तत्त्वमीमांसा के श्रेष्ठ प्रवक्ता थे। उद्दालक के अनुसार ब्रह्म और आत्मा जैसे मुद्दे संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उन्होंने पराम् सत्ता के लिए एक नया शब्द गढ़ा-सत्। जिसका अर्थ है मात्र अस्तित्व या मात्र सत्ता।

उपरोक्त छठे अध्याय में उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से चर्चा करते हैं और बताते हैं, "यह संसार सत् से ही उत्पन्न हुआ है।" आधुनिक भाषा में हम कह सकते हैं - यह संसार मैटर से बना है यहाँ तक कि चेतना भी। उद्दालक ने आत्मा को पृथ्वी कहा।

आगे चलकर उद्दालक की इस धारणा को सत्कार्यवाद कहा गया। इसमें कारण में ही परिणाम की संभावना को निहित माना जाता है। आगे चलकर उद्दालक ने अपने पुत्र को बताया कि सत् से संसार की प्रत्येक जैविक और अजैविक वस्तु का निर्माण और विकास हुआ है। सत् का सूक्ष्मतम स्तर अणु है। सूक्ष्म सत्ताओं से संसार की प्रत्येक वस्तु बनी है। यह इतना सूक्ष्म है कि उसे देखना भी संभव नहीं। इस कारण उसे और विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित यह वर्णन भारत में परमाणुवाद का आरम्भ मानना चाहिए। अर्थात् उद्दालक आरुणि को संसार का प्रथम वैज्ञानिक और भौतिकवादी मानना चाहिए, ऐसा विद्वानों का मत है।

सांख्य

कपिल ऋषि को सांख्य प्रणाली का संस्थापक माना जाता है । लेकिन उनके बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। कहा जाता है कि उन्होंने सर्वप्रथम यह ज्ञान आसुरी को दिया । असुर के साथ अगर स्त्री प्रत्यय जुड़ता है तो इसका अर्थ होगा असूर की संतान। (काफी प्राचीन ग्रन्थ में स्वयं कपिल को असूर बताया गया है) । आगे आसुरी ने यह ज्ञान पंचशिखा को दिया जिसने इसका व्यापक प्रचार किया । महाभारत (शांतिपर्व, खं.२१८, चित्रशाला प्रेस) में पंचशिखा के लिए एक और नाम का उल्लेख मिलता है- कपिल या कपिलेय अर्थात् कपिला पुत्र और इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है- आसुरी की पत्नी का नाम कपिला था। जब पंचशिख एक शिष्य के रूप में आसुरी के पास रहता था तो कपिला उसे स्तनपान कराती थी। इससे पंचशिख का नाम कपिलापुत्र हो गया । इसपर तो विश्वास होना कठिन है कि कपिला , आश्रम में रहनेवाले एक वयस्क शिष्य को स्तनपान कराती थी । लेकिन इसे अलंकारिक तौर पर लेने से अर्थ यह हो सकता है कि सांख्य दर्शन की मुख्य प्रतिपादक कपिला नाम की स्त्री थी । महाभारत में यह उल्लेख नहीं मिलता कि कपिल ने सांख्य-ज्ञान आसुरी को दिया। सांख्य का मूल विकास क्षेत्र वह था जो प्राचीन काल से मातृसत्ताक समाज व्यवस्था तथा तांत्रिक विचार धारा के प्रबल प्रभाव में था। तंत्रवाद में सबसे पहले केवल स्त्रियाँ ही गुरु होती थीं । आगे पितृसत्ताक परिस्थियाँ होने पर यह नाम कपिल हो गया।

सांख्य के कई तत्व 'असूर' दर्शन से मेल खाते हैं।

इसमें भी संदेह नहीं कि सांख्य और तंत्र के मूल सिद्धांत एक ही हैं । ये हैं प्रकृति और पुरुष।

यह यात्रा इस प्रकार हो सकती हैं -चार्वाक --तंत्रवाद --सांख्य और योग।

सांख्य के मूल विचार: यद्यपि सांख्य में पुरुष को माना गया है फिर भी यह पुरुष कुछ नहीं कर सकता। सारा कार्य प्रकृति ही करती है जो लगभग वैसी ही है जैसा भौतिकतत्त्व । देह और तथाकथित मनस केवल भौतिकतत्त्वों का मिश्रण है।

इसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं था।

अलग-अलग पुरुषों -आत्माओं- का अस्तित्व केवल नाममात्र के लिए है । वे किस काम के? इसलिए लोकायत ने उनका अस्तित्व नकार दिया है।

मूल सांख्य दर्शन , वास्तविक रूप से नास्तिक और भौतिकवादी ही था लेकिन बाद में भाववादी तत्व इसमें इस तरह ठूस दिए गए कि इसने अंततः अपने मूल रूप के एकदम विरोधी

रूप धारण कर लिया। यह बात स्पष्ट तौर पर प्रत्यक्ष सांख्य कारिका में ही देखने को मिलती है। मूल सांख्य पूरी तरह तर्कवादी था।

लगभग ऐसी ही स्थिति चीन में 'ताओवाद' की थी।

ग्रन्थ:-

सारे मूल ग्रन्थ अब विलुप्त हो गए हैं। जहाँ तक सांख्य दर्शन को सीधे प्रस्तुत करनेवाले मूल ग्रंथों का सम्बन्ध है, वास्तव में हमारे पास केवल दो ग्रन्थ हैं।

1) सांख्य कारिका - बहुत छोटा है जिसमें केवल ७२ श्लोक हैं।

२) सांख्य सूत्र - यह बहुत बाद में लिखा गया ग्रन्थ है। कहा जाता है कि इसके रचयिता स्वयं कपिल थे लेकिन ऐसा नहीं लगता। लेखक कोई मध्ययुग का अज्ञात व्यक्ति होना चाहिए। पंद्रहवीं सदी के पहले किसी ने 'सांख्य सूत्र' का उल्लेख नहीं किया है।

लेकिन हम मूल सांख्य के लिए प्रामाणिक स्रोत ग्रन्थ के रूप में इन सूत्रों पर निर्भर नहीं कर सकते चूँकि इन सूत्रों में सांख्य और वेदांत के बीच सभी भेद मिटा देने के प्रयत्न किए गए हैं।

सांख्य-कारिका को ईश्वरकृष्ण ने लिखा है। दासगुप्त के अनुसार यह दूसरी सदी की कृति है।

चरक संहिता - दासगुप्त का तर्क है कि चरक द्वारा रचित प्राचीन चिकित्सा शास्त्र में सांख्य का कुछ वर्णन मिलता है। इसके अलावा महाभारत में कुछ अंश ऐसे हैं जिनमें मिथिला नरेश जनक को सांख्य दर्शन का ज्ञान कराये जाने का विवरण है। दासगुप्त के अनुसार इन दोनों वर्णनों में काफी साम्य है। लेकिन यह विवरण सांख्यकारिका के विवरण से अलग है।

ओल्डनबर्ग के अनुसार यह विश्वास करना मुश्किल है कि किसी एक दार्शनिक ने सांख्य को एक पूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया और फिर यह कई सदियों के दरम्यान अपने मूल और अपरिवर्तित रूप में चलता हुआ पीढ़ी दर पीढ़ी पहुँचता रहा। उनके अनुसार मूल सांख्य दो धाराओं में विभाजित हो गया 1) महाकालीन -महाभारत में वर्णित, विशेषतः श्रीमद् भगवद् गीता में वर्णित सांख्य। २) शास्त्रीय सांख्य -कारिका में वर्णित सांख्य।

शास्त्रीय सांख्य ही क्यों? महाभारत में सांख्य का जो विवेचन आता है वह भी भाववादी अध्यात्म से प्रभावित ही है।

सांख्य के सिद्धांत: प्राचीन काल में सांख्य को 'प्रधानवाद' के नाम से जाना जाता था।

१) सांख्य दर्शन में 'प्रधानवाद' या 'प्रधान करणवाद' या प्रधान ही प्रथम कारण है या परम सत्य है। यह बात ब्रह्मसूत्र से ही पता चलती है । सांख्य में 'प्रधान' शब्द 'प्रकृति' का पर्यायवाची है। प्रधान, प्रकृति आदि पदार्थ या तत्त्व जो प्रथम अचेतन कारण है । यह अविकसित स्थिति में पदार्थ है जिससे अभी ब्रह्माण्ड उत्पन्न होना है । विश्व की उत्पत्ति का प्रथम कारण। यहाँ प्रत्येक वस्तु के पीछे एक मूल सिद्धांत खोजने का प्रयत्न किया गया है, जिसका नाम है सत अर्थात् अस्तित्व।

परिणाम जैसा होगा वैसा ही कारण होगा । वस्तुएं भौतिक तो उसका कारण भी भौतिक ही होना चाहिए। सांख्य में परिणाम सत्य है तो वेदांत में मिथ्या । परिणाम ही मूल कारण का परिवर्तित सत्य रूप है।

२) तीन गुणों सत्त्व, रजस, तमस से बनी प्रकृति का स्वतंत्र और अनश्वर अस्तित्व।

३) प्रकृति से एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया और विकास क्रम का उद्भव । सांख्य के अनुसार गतिशीलता या परिवर्तन के लिए किसी बुद्धि या चेतना के सिद्धांत की आवश्यकता नहीं । वास्तव में प्रकृति की घटनाओं से पता चलता है कि गति और परिवर्तन सदा भौतिक तत्त्व में होते हैं न कि शुद्ध चेतना में, जिसमें परिवर्तन होता ही नहीं।

इसपर शंकराचार्य का उत्तर है कि जो वस्तु स्वयं गतिहीन है वह फिर भी अन्य वस्तुओं को गति प्रदान कर सकती है । जैसे चुम्बक और लोहा । वैसे ही निश्छल ब्रह्म विश्व को गतिमान बनाता है।

प्रारंभिक सांख्य वास्तव में 'स्वभाववाद' का प्रतिपादन कर रहा था । घांस, जड़ी-बुटी, जल आदि बिना किसी अन्य साधनात्मक कारण के ही अपने स्वभाव के अनुरूप स्वयं को (स्वभावतः) अन्य रूप या दूध में परिवर्तित कर लेते हैं। स्वभाववाद के बिना प्रधानवाद पूर्ण नहीं हो सकता। 'स्वभाववाद' को बहुदा लोकायतिकों की विचाधारा माना जाता है। यह प्राकृतिक नियमों का सिद्धांत है।

सांख्य के अनुसार कारण के अंदर ही परिणाम पहले से विद्यमान है । लेकिन संभावना और वास्तविकता के बीच के अंतर को ध्यान में लेना होगा । दृष्टिगोचर जगत की अपनी समग्रता में 'प्रकृति' में सम्भावना है लेकिन संभावनाएं तो कई हो सकती हैं । अर्थात् इस दृश्यमान जगत को 'प्रकृति' नहीं कहा जा सकता। यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है -बीज के अंदर वृक्ष है , फिर भी वृक्ष बीज नहीं है और न ही बीज को वृक्ष कह सकते हैं । ऐसा ही सम्बन्ध 'प्रकृति' और दृश्य

जगत में है। दृश्य जगत प्रकृति का उत्पादन या परिणाम है। लेकिन प्रकृति को दृष्टिगोचर जगत नहीं मान सकते। न ही दृश्य जगत को मूल प्रकृति। इस भेद को दिखाने सांख्य दार्शनिकों ने 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दों का प्रयोग किया है। अर्थात् ठोस वस्तुएं और मूलभूत प्रथम भौतिक कारण जो अधिक सूक्ष्म और अमूर्त, अस्पष्ट हो।

विकसित होने से पूर्व की आदिम स्थिति में प्रकृति के अंदर तीनों गुण सत्त्व, रज, तम एक दूसरे के साथ पूर्ण संतुलन में थे। विद्वानों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है -प्रत्यक्ष प्रज्ञा (सत्त्व), प्रत्यक्ष ऊर्जस्विता या क्रियाशीलता (रजस) और प्रत्यक्ष जड़ता अथवा गतिहीनता (तमस), तीनों गुण एक दूसरे के साथ सदा ही संयोजन, वियोजन और फिर संयोजन की अवस्था में रहते हैं। प्रकृति के तीनों गुणों के आदि संतुलन के साथ अथवा साम्यावस्था से संसार का विकासक्रम शुरू हुआ। यह जानकारी नहीं मिलती कि प्रारंभिक असंतुलन का कारण मूल सांख्य की दृष्टि से क्या था। (बाद के सांख्य दार्शनिकों ने इस कारण को प्रकृति पर पुरुष का निश्छल प्रभाव बता दिया।)

लेकिन उपरोक्त कारण बताते ही असंगति खड़ी हो गई। 'प्रकृति' की तरह 'पुरुष' भी शाश्वत है इसलिए इसका प्रभाव भी शाश्वत ही होगा। फिर संतुलन बिगड़ने की क्रिया विशिष्ट क्षण में कैसे शुरू हुई?

अगर तीनों गुणों के बीच एक दूसरे के प्रति आकर्षण-विकर्षण, द्वंद्व या फिर प्रकृति के अंदर ही इनके संयोजन-वियोजन की प्रक्रिया शुरू होने का कारण उपस्थित हो, किसी प्रकार यह संतुलन बिगड़ गया और इसके कारण सृष्टि विकास की क्रिया आरम्भ हुई हो, तो कुछ युक्तिसंगत बात हो सकती है। प्रकृति के पार, प्रकृति के नियमों से मुक्त किसी तत्व की खोज हमें युक्तिसंगत स्पष्टीकरण नहीं दे सकती।

ईश्वर के अस्तित्व को न मानना- वेदांत का यह मत कि प्रज्ञावान ब्रह्म इस भौतिक विश्व का कारण है स्वीकार नहीं किया जा सकता चूँकि परिणाम का स्वभाव कारण के स्वभाव से पूरी तरह भिन्न होगा। उन्हीं के अनुसार यह विश्व तो जड़ है, अप्रज्ञावान है, अशुद्ध है। इस कारण ब्रह्म के स्वभाव से एकदम भिन्न है।

सांख्य दर्शन में 'आत्मा' का अस्तित्व एकदम निरर्थक है।

पुरुष की संकल्पना-

सांख्य दर्शन मुलतः प्रधान या प्रकृति का दर्शन था क्योंकि प्रारंभिक वेदान्तियों ने इस सिद्धांत को भौतिकवाद पर सबसे बड़ा हमला करने के लिए उपयोग में लाया । इसके बावजूद सांख्य में पुरुष के लिए स्थान था। यह एक विसंगत संकल्पना थी। विद्वान्, इसका कारण संभवतः मातृसत्तात्मक समाज में 'मानव पुरुष' की स्थिति में खोजने का प्रयत्न करते हैं । मूल सांख्य में 'पुरुष' शब्द का जो भी अर्थ रहा हो , लेकिन वह वेदांत के परम आत्मा वाला पुरुष नहीं हो सकता। लेकिन सांख्य के लिए यह एक जटिल और कष्टदायक समस्या बना रहा । इसके माध्यम से वेदान्तियों ने अपने विचार सांख्य में घुसाने या ईश्वरकृष्ण जैसे बाद के सांख्यवादियों को इसे भाववाद के करीब ले जाने में बड़ी सुविधा हुई। भले ही उस कारण कई विरोधाभास उत्पन्न हुए।

दूसरी बात है, सांख्य का 'पुरुषों के अनेकत्व' का सिद्धांत। इसके आधार इस प्रकार हैं-

१) विभिन्न व्यक्तियों के जन्म , मृत्यु, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के बीच अंतर होता है । अतः यह आत्मा की विशेषता नहीं हो सकती । यह साधारण भौतिक शरीर वाले व्यक्तियों की ही हो सकती है।

२) विभिन्न व्यक्ति अपनी गतिविधियों में एकदूसरे से भिन्न हैं।

३) विभिन्न लोग तीन गुणों के विभिन्न अनुपात के कारण एकदूसरे से अलग हैं । सत्व, रजस, तमस ये गुण प्रकृति अर्थात जिसका स्वरूप भौतिक है , के होने के कारण वे भी भौतिक स्वरूप के ही होंगे और ये जिसके साथ जुड़े हैं उस पुरुष का स्वरूप भी।

यह वेदांत की इस धारणा के विपरीत है कि आत्मा विशुद्ध चेतन और केवल एक ही है, जिसका बोध किसीको नहीं हो सकता । शंकराचार्य के अनुसार पुरुषों के अनेकत्व का यह विचार ही वास्तव में सांख्य को वेद विरोधी बना देता है । वे कहते हैं कि सांख्य का अचेतन प्रधान जगत का कारण नहीं हो सकता। ब्रह्म एक चेतन तत्त्व है।

जगत सत्य या मिथ्या

मुख्य प्रश्न हो जाता है कि अनुभूत जगत को सत्य माना जाए या नहीं ? यह तो दोनों मानते हैं कि यह संसार एक प्रकार का परिणाम है और इस परिणाम का बीज इसके कारण में विद्यमान होता है। केवल प्रश्न है परिणाम को सत्य माना जाए या मिथ्या । दोनों विचार एक दूसरे के विरोधी हैं। अर्थात यह है परिणामवाद और विवर्तवाद के बीच का द्वंद्व।

चरक के अनुसार-

विश्व में छह तत्व (धातु) हैं। पांच तत्व हैं, आकाश, वायु, चेतना जिसे पुरुष भी कहा जाता है।

अन्य दृष्टिकोणों से चौबीस तन्मात्राएँ:- (पंचभूतों का मूल सूक्ष्म रूप) | ये हैं -१० इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रिय+पांच कर्मेन्द्रिय) + मनस + पंचमहाभूत + प्रकृति के आठ प्रकार।

सांख्य के अनुसार ये सभी तत्व मूल रूप से भौतिक हैं। इसमें 'पुरुष' का कहीं काम नहीं है। जब यह विकास प्रक्रिया पूरी हो जाती है तो हम उसे 'सृजन' कहते हैं। चक्रपाणि (चरक के भाष्यकार) ने स्पष्टीकरण दिया है कि 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों एक होने के कारण इन्हें एक माना गया है। अर्थात् पुरुष का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। अर्थात् चरक ने प्रकृति के अव्यक्त पक्ष को 'पुरुष' कहा है और इसे एक तन्मात्रा के रूप में गिना है।

प्रलय के समय यह सभी उत्पाद फिर प्रकृति में लौट जाते हैं और अव्यक्त हो जाते हैं। वहीं चक्र फिर शुरू हो जाता है। अर्थात् सांख्य के सम्बन्ध में चरक की समझ के अनुसार 'पुरुष' प्रकृति का एक अंश मात्र है। वह आदितत्व में अंतर्भूत है।

महाभारत में (xii.३१८) सांख्य के तीन मतों का उल्लेख है।- १)चौबीस तन्मात्राएँ २) २५ तन्मात्राएँ - (ईश्वरकृष्ण-२५ वां पुरुष) ३) २६ तन्मात्राएँ (२६ वां एक सर्वोच्च जीव)

अर्थात् सांख्य का कोई प्राचीन रूप था जिसमें 'पुरुष'को भौतिक तत्व समझा जाता था।

- बुद्धि या चेतना वहीं दिखाई देती है जहाँ शरीर होता है।

सांख्य का मूल और परवर्ति रूप -

जैन भाष्यकार शिलांक ने सांख्य और लोकायत के बीच कोई मूल अंतर न होने की बात कही है।

शंकराचार्य भी कहते हैं कि सांख्य, दार्शनिक लोकायतिकों के कथनों को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं। प्राचीन भारतीय दार्शनिक परंपरा सांख्य को नास्तिक और भौतिकवादी ही मानती है। जैकोबी का भी विचार था कि देश में अति प्राचीन काल से चले आ रहे भौतिकवादी दर्शन का विकास मुलतः सांख्य के रूप में हुआ।

सील के शब्दों में -

"सांख्य दर्शन का, चिंतन के इतिहास में अपना अनोखा स्थान है क्योंकि ब्रह्माण्ड के विकास के सम्बन्ध में सबसे पहले स्पष्ट और व्यापक सिद्धांत इसमें प्रतिपादित किए गए । यह तात्त्विक परिकल्पना मात्र नहीं थी बल्कि एक यथार्थवादी सिद्धांत था जो ऊर्जा के पर्यावरण , परिवर्तन और विकिरण पर आधारित था।" (१३२.२)

मूल सांख्य ने भले ही इन सब सिद्धांतों को पूर्ण विकसित रूप में व्यक्त न किया हो लेकिन इनकी संभावनाएं तो उसमें विद्यमान थीं । इसीके कारण सांख्य दर्शन हमारी दार्शनिक परंपरा को व्यावहारिक विज्ञान के मुलभुत विचार उपलब्ध करा सका।

लेकिन डॉ.राधकृष्णन कहते हैं कि , "हमें सांख्य के विकास के किसी भी चरण में ऐसा कोई लक्षण दिखाई नहीं देता जिसे भौतिकवाद कहा जा सकता है।"

लेकिन सांख्य के महानतम विरोधी शंकराचार्य को भी न चाहते हुए भी बार-बार कहना पड़ा कि सांख्य दर्शन के पक्ष में बहुत से प्रभावशाली तर्क हैं । (on brahm sutr : १.१२ /११.२.१७)

गार्बे ने तो कहा है कि, "सांख्य", बौद्ध काल से पूर्व था, बल्कि बौद्ध दर्शन इसीसे विकसित हुआ। बुद्ध के जन्म स्थान कपिलवस्तु का नाम संभवतः कपिल ऋषि के नाम पर ही रखा गया था। इतिहासकार शास्त्री भी इससे सहमत हैं । उनके अनुसार अश्वघोष ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि बौद्ध धर्म की उत्पत्ति सांख्य दर्शन से हुई है । गार्बे के अनुसार मूल सांख्य जिस क्षेत्र में सबसे पहले विकसित हुआ वह क्षेत्र वैदिक प्रभाव से मुक्त था । उनके अनुसार कपिल बंगों, मागधों और चेरों क्षेत्र का रहनेवाला था । कपिल का गांव कवताक्ष के किनारे पर था । कपिलवस्तु भी उसका निवासस्थान था। इन्हीं क्षेत्रों में मातृसत्तात्मक पद्धति और तंत्रवाद विद्यमान थे।

बादरायण को अपने भाववादी पक्ष की रक्षा के लिए भौतिकवाद का खंडन करना ही था और उसके लिए उसने चुना सांख्य दर्शन , अपने प्रमुख प्रतिस्पर्धी के तौर पर। इससे पता चलता है कि सांख्य का मूल स्वरूप क्या था और भौतिकवाद का प्रभाव कितना था । आंकड़ों की दृष्टि से ब्रह्मसूत्र के ५५५ सूत्रों में से ६० सूत्र अकेले प्रधानवाद के खंडन के लिए हैं और अन्य सभी विरोधी मतों का खंडन ४३ सूत्रों में निपटा दिया गया है। इनमें ४ सूत्र जैन मत के लिए, १७ बौद्ध मत के लिए हैं। सांख्य के खंडन के बाद अन्य मतों के खंडन का कोई महत्व नहीं बचता । वैसे तो सांख्य को वैदिक परंपरा से सम्बद्ध (या आस्तिक) माना जाता है । (यह मान्यता तभी मिली जब सांख्य दार्शनिकों ने सांख्य के मूल सिद्धान्तों को शास्त्रीय परंपरा के सामने समर्पित कर दिया और वेदांत के पक्षवाले अंश उसमें जोड़ दिए) लेकिन ब्रह्मसूत्र उसे जबरदस्त तरीके से अवैदिक

बताता हैं। (तीन नास्तिक दर्शन हैं-लोकायत, जैन और बौद्ध)। ब्रह्मसूत्र में सांख्य का पहला उल्लेख भी भौतिकवादी दृष्टिकोण के उल्लेख से हुआ हैं।

जिम्मर नामक चिंतक के अनुसार भी सांख्य तथा योग की मूल शिक्षा में किन्हीं ऐसी देवी-देवताओं का कोई संकेत नहीं है जो वैदिक देवताओं की तरह सांसारिक बंधनों से मुक्त थे।

शंकराचार्य ने भी सांख्य को पूरी तरह वेद विरोधी कहा , "कपिल का दर्शन, वेद और वेद को मानेवाले मनु के सिद्धांत का विरोधी हैं।"

सांख्यकारिका

मूल सांख्य में जगत की कारणता में पुरुष के लिए कोई स्थान नहीं , वह एकदम निष्क्रिय हैं। इतनाही नहीं तो प्रकृति का ही हिस्सा है। एकमात्र प्रकृति ही बिना किसी पराभौतिक प्रवृत्ति के सभी परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी है। लेकिन कारिका के सांख्य में पुरुष की भाववादी धारणा को घुसेड़ दिया गया। और फिर-

प्रधानवाद में जगत वास्तविक है लेकिन इसमें शुद्ध चेतन पुरुष के अवतरण से अर्थात् पराभौतिक तत्व के अवतरण से जगत के स्वरूप को मिथ्या ठहराए बिना यह सिद्धांत ठहर नहीं सकता था।

ईश्वरकृष्ण ने विकास प्रक्रिया को दो प्रकार से 'पुरुष' के सिद्धांत के साथ जोड़ने का प्रयास किया।

१) एक तो पुरुष के निश्छल प्रभाव से विकास का आरम्भ होना।

२) समस्त रचना प्रक्रिया , चेतन पुरुष के लिए है। तीनों गुणों वाला अचेतन प्रधान , चेतन पुरुष के भोग के लिए, उसके सुख के लिए, स्वभाव से ही नाना प्रकार के विकार धारण कर प्रवृत्त होता है। अब आत्मा तो निश्छल है तो उसमें सुख-दुःख अनुभव करने की क्षमता नहीं है । तो उपभोग कैसा? और फिर उसमें इच्छा कहाँसे आ गई।

कारिका में पुरुष अस्तित्व के लिए यह भी दलील दी गई है कि उसमें पृथक् होने की प्रवृत्ति विद्यमान है। कारिका में इस प्रवृत्ति के लिए "कैवल्य" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है अकेलापन। स्वयं को अलग रखने की , अलग करने की प्रवृत्ति। 'पुरुष' प्रकृति और उसके उत्पादों से अलग होना चाहता है और "कैवल्य" की प्राप्ति करना चाहता है, जिसे मोक्ष या मुक्ति कहा जाता है। सारे अध्यात्म को माननेवाले ज्ञानी, अज्ञानी सभी मुक्ति चाहते हैं।

अगर प्रकृति, पुरुष के भोग के लिए है तो इसका अर्थ हुआ की पुरुष में प्रकृति का भोग करने की इच्छा है। अगर वह प्रकृति का भोग करना चाहता है तो उसके लिए मुक्ति का अवसर कैसा? यदि लक्ष मुक्ति है तो फिर प्रधान का गतिविधियों के साथ उलझना निरर्थक है । चूँकि वह तो पहले भी मुक्त ही था। तो इस सारे गड़बड़झाले में प्रश्न उभरता है कि वह मुक्ति चाहता किससे है।

मुक्ति का अर्थ है, बंधनों में जकड़े हुए का उनसे छूटना। कारिका के दृष्टिकोण के अनुसार तो बंधन में केवल प्रकृति और उसके उत्पाद ही हो सकते हैं । तो फिर प्रकृति 'विकास', पुरुष के बंधन का कारण भी हो और साथ-साथ उसे मुक्ति दिलाने के लक्ष की प्राप्ति का माध्यम भी हो , यह कैसे हो सकता है ? एक और बात , यदि प्रकृति सत्य है और उसका दृश्य जगत में विकास भी सत्य प्रक्रिया है तो वह पुरुष और आत्मा का बंधन भी सत्य हो जाएगा । फिर तात्त्विक दृष्टिकोण से मुक्ति कैसी? मुक्ति तो अविद्या, भ्रम, मिथ्या तत्व से अपेक्षित होती है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र पर किए गए भाष्य में कहा है कि "कैवल्य" का अर्थ है दुःख का पूर्ण रूप से उन्मूलन।

सृष्टि

सृष्टि की मीमांसनीय बात है उसकी एकता और उस एकता के पीछे कारण है नियमबद्धता।
सृष्टि प्रत्यक्ष में तो है ही।

कार्यकारणवादः बर्फ कार्य है और पानी कारण।

तीन प्रकार के कारण-

यह तो निश्चित बात है कि प्रत्येक कार्य को कारण चाहिए । कारण को तीन तरह का बताया गया है। एक घड़े को लीजिए- उपादान कारण है मिटटी। मिटटी का परिवर्तित रूप ही घड़ा है। निमित्त कारण है कुम्हार, जो मिटटी को घड़े का रूप देता है । तीसरा साधारण कारण है-जैसे चक्र, समय, देश-जिनके द्वारा घड़ा बनता है।

परिणामवाद- परिणाम भी एक प्रकार का कार्य ही है।

सृष्टि रचनाः सृष्टि रचना के बारे में चार मत हैं।

नास्तिक मत-

१) सृष्टि अपने स्वभाव से बन गई। इसे बनानेवाला कोई नहीं। बिना बनानेवाले के ही, यह अनादि कल से बनती-बिगड़ती आ रही है।

२) प्रकृति ही सृष्टि का कारण है।

३) सृष्टि की यह रचना आकस्मिक है।

आस्तिक मतः

सृष्टि को रचनेवाली एक ज्ञानमय सत्ता है जो किसी प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए सृष्टि बनाती है और बिगाड़ती है।

स्वभाववादः सृष्टि के परमाणुओं में किसी औरने न दिया हुआ अपना एक स्वभाव है। उसी स्वभाव से प्रेरित होकर वे विशेष रीति से संयुक्त या वियुक्त होते हैं। इसके लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वभाव को छोड़कर और कोई कारण नहीं मिलता। मोर के पंखों को कौन रंगता है?

शिखिनश्चित्रयेत को वा कोकिलानूकः पराकुआजयइत

स्वभाव व्यतिरेकेन विद्यते नात्र कारनाम॥

(सर्वसिद्धांत संग्रह -लोकायतिक पक्षप्रकरणम :श्लोक ५)

प्रकृतिवाद (नास्तिकवाद): सृष्टि में जो कुछ होता है वह सृष्टि के नियमों के अनुसार होता है । ईश्वर नियमों का नियंता नहीं है।

विवर्तवाद (आस्तिक): जो वस्तु न हो फिर भी मालूम पड़े उसका नाम विवर्त है । जैसे सांप नहीं है फिर भी उसका आभास होता है और मृगजल । कुछ दार्शनिकों का मत है , संसार भी वस्तुतः एक भ्रमात्मक कल्पित वस्तु है या कल्पना मात्र है। जब हमारी ज्ञान की आँख खुलती है तो यह संसार रूपी स्वप्न हमारी आँखों से लुप्त हो जाता है। मूल तत्व एक है जिसे ब्रह्म कहते हैं।

क्या इस तर्क के आधार पर प्रत्यक्ष जीवन में हम एक कदम भी आगे बढ़ा सकते हैं? विवर्तवादी संसार को भ्रम मानते हैं फिर भी अपनी वैचारिक स्थापना के लिए इसी दुनिया से दृष्टांत देते हैं।

सृष्टि का स्वरूप

- सारी सृष्टि या सारा अस्तित्व ही परिवर्तनशील है । प्रत्येक वस्तु में स्वभावसिद्धगति ,शक्ति या परिवर्तनशक्ति होती है।

ऊष्मा का जलना यह स्वभावधर्म है। यह एक व्यवस्था या धर्म है। वह ऊष्मा के अस्तित्व की ही एक अभिव्यक्ति है। किसी और ने उसे आरोपित नहीं किया है। यह स्वभाव शाश्वत है।

यह जगत कार्यकारण की अविरत परंपरा है।

व्यवस्था या नियमबद्धता जगत का स्वभाव है। वह बाहर से थोपा गया धर्म नहीं। इससे अलग मानने के लिए, मनुष्य की एक कल्पना के अतिरिक्त कोई आधार नहीं है। क्योंकि अन्यथा मानते ही प्रश्नों की एक अनंत मालिका उपस्थित हो जाएगी।

सृष्टि में अजीव, जीव और चेतन ऐसी द्रव्य की एक से दूसरी उच्च और उच्चतर श्रेणियां हैं।

अजीव: जिसे संवेदना और भान नहीं है ऐसी वस्तु।

जीव: जड़ द्रव्यों में से जीव द्रव्य पैदा हुआ है । स्वयं संचलनशील, चयापचय करनेवाली और स्वजातीय वस्तुओं को जन्म देनेवाली वस्तु उदा. वनस्पति।

चेतन: जीव सृष्टि की अगली पीढ़ी , इसके पास बुद्धि या भान है। उदा. प्राणी, मनुष्य द्रव्य में ही जीवधर्म प्रकट होते हैं। आगे मानसिक गुण उत्पन्न होते हैं। जो भौतिक है वही आत्मरूप बनता है।

अब ऐसे कुछ द्रव्य ज्ञात हुए हैं जिन्हें अजीव भी कहा जा सकता है और जीव भी । वे जीव और अजीव इनके बीच की कड़ी है। उदा. सूक्ष्म रोगजंतुओं का नाश करनेवाली जन्तुविरोधी द्रव्यें (bacteriophage)। ये रासायनिक संयुक्त द्रव्यें ही हैं ऐसा निश्चित किया जा सकता है तो दूसरी ओर प्रोटीन और उसके साथ न्यूक्लिक एसिड का संयोग होकर बना न्यूक्लिओप्रोटीन यही उपरोक्त जीव पिंड भी है। वनस्पति या शरीर पर उनका एक कण पड़ते ही उनकी संख्या अनंत गुना बढ़ जाती है। यह जननशक्ति उनके जीवत्व का प्रमाण है।

यहाँ आध्यात्म के 'आत्मा' की परंपरागत संकल्पना असफल हो जाती है।

जीव विज्ञान के अनुसार उत्परिवर्तन (mutation)और योग्यतम का प्राकृतिक चरण के कारण अर्थात् वंश परंपरा में जानेवाले उत्परिवर्तनों से विभिन्न प्रजातियां बनी है।

विज्ञान का एक और सिद्धांत है। सद्बस्तु का पूरी तरह विनाश नहीं होता। उसी तरह सम्पूर्ण अभाव या शून्य से कोई चीज पैदा नहीं होती। होता है वह केवल रूप परिवर्तन। फिर इस सृष्टि में इससे बाहर के किसी वस्तु के लिए अर्थात् ईश्वर के लिए स्थान कहाँ है ? या इसमें डालने के लिए ईश्वर को आप कहाँ से खींच लाओगें?

इतनी अनुशासनबद्ध सृष्टि हमारे सामने है। वह शिस्तबद्ध ही नहीं है , परम सुन्दर भी है। उसका इसी रूप में अस्तित्व मानने के स्थान पर उससे परे किसी चीज को ढूँढने की क्या आवश्यकता है? लेकिन मनुष्य में एक प्रवृत्ति है -अंग्रेजी में दो वाक्प्रचार है-

"To read between the lines"

"To peep behind the walls"

हम जासूसी उपन्यास पढ़ते हैं। हमें पता है कि यहाँ सारी दुनियां नकली है। फिर भी हमें उत्सुकता रहती है। यहाँ भी वही प्रवृत्ति काम करती है।

ईश्वर को तुम स्वयं नियंत्रित मानते हो (automation)। फिर प्रकृति को ही वैसा मानने में क्या दिक्कत है?

रसायनविद जॉन एलॉल्फ ब्यूलर के शब्दों में, "परमात्मा या उसके विचार को अनावश्यक मानने की अपेक्षा, या उसे तथाकथित अज्ञेय वस्तुओं की कोटि में रखने की अपेक्षा, हमें विश्व के नियमों और व्यवस्था में उसका दर्शन करना चाहिए और उसका आदर करना चाहिए"

Pantheism: एक ऐसा दार्शनिक सिद्धांत जो ईश्वर तथा प्रकृति को समान मानता है । इतना ही नहीं तो प्रकृति को ईश्वर का भौतिकवादी स्वरूप स्वीकार करता है । **Patheism** सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में कभी-कभी भौतिकवादी तथा अनीश्वरवादी विचारों के प्रचारक के रूप में सामने आया । उदा. गिआर्डेनो ब्रूनो व् बेनेडिक्ट स्पिनोजा।

ऋग्वेद का एक सुन्दर सूत्र है। उसमें प्रकृति को 'ऋतशयम योनि' कहा गया है। ऋत याने सत्य, वास्तवता और योनि अर्थात् जन्मस्थान-प्रकृति ही सत्य का जन्मस्थान है।

भागवत में (अध्याय :३३-७-११पृ.१९-२१) में सर्वसमावेशक व्यक्तित्व के धनी माने गए श्रीकृष्ण कहते हैं –“आम तौर पर यह देखा जाता है कि जो लोग बाह्य दुनिया में सत्य की खोज करने में कुशल होते हैं वे इस दुनिया में विद्यमान दुखों से , दुष्प्रवृत्तियों से तथा खिन्नता से अपना बचाव अच्छी तरह कर लेते हैं।”

मानव जाति के सन्दर्भ में, केवल प्रकृति पर निर्भर रहनेवाले अन्य प्राणियों से बिल्कुल भिन्न ऐसी एक विशेषता दिखाई देती है। उनके पास एक विशेष शक्ति जन्म के साथ ही होती है। ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष मिलनेवाले अनुभवों का (समग्रता के विचार के साथ)अर्थ वे जान सकते हैं। अनुलोम और प्रतिलोम मार्गों से तर्कपूर्ण संगती केवल आदमी ही लगा सकता है । यहाँ महत्त्व, ज्ञानेन्द्रियों से मिले प्रत्यक्ष अनुभव तथा तर्क को दिया गया है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों के बाद सृष्टि का स्वरूप

- डार्विन का उत्क्रांति का सिद्धांत है । हो सकता है , नई खोजों के परिप्रेक्ष में उसकी कुछ कमियां उजागर हुई हों । लेकिन आध्यात्मियों द्वारा उसे कूड़े में फेकने लायक होने का जो दावा किया जाता है उस सन्दर्भ में इस वास्तवता को ध्यान में रखना चाहिए कि **Genetics** तथा **Bio-Technology** जैसे प्रगतिशील क्षेत्रों का मूल आधार , उत्क्रांति का सिद्धांत ही है । इस सिद्धांत ने ईश्वरी श्रद्धा के पैरों तले की जमीन ही छीन ली । यादृच्छिक परिवर्तन (**Random Mutation**) और अयादृच्छिक चयन (**Nonrandom-selection**) ये इस सिद्धांत के महत्वपूर्ण मुद्दे हैं। (**Theory of Evolution -1859 -On the origion of species**)

आनुवंशिकता के विषय में ज्ञात नियमों के आधार पर जननशास्त्र (**genetics**) बना है। पशुओं की नस्ल में सुधार, फसलों में वृद्धि जैसे कार्यक्रम इसी शास्त्र पर निर्भर हैं, जिन्होंने मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा बदलाव लाया है।

- माता की बीमारी (**Small pox**) यह देवी माता के प्रकोप के कारण होती है ऐसी , किसी समय, बुद्धिमान लोगों की भी मान्यता थी। बिमारियों की भौतिक मीमांसा करनेवाला औषधी विज्ञान पैदा हुआ। अनुभव के संचित में वृद्धि हुई। देवी माता का कोप और पर्याय से देवीमाता की सत्ता समाप्त हुई। आठ मई उन्नीसों अस्सी को वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन ने इस बीमारी के, दुनिया से पूरी तरह, उच्चाटन की घोषणा की।

आज का विज्ञान

तथ्य बताते हैं कि ब्रह्माण्ड को बांधने में कुछ सहयोगी शक्तियां उत्तरदायी हैं। ये हैं - गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत् चुंबकीय बल, दृढ़ बल और क्षीण बल। विज्ञान, चारों बलों का एकीकरण और अंतिम मूलभूत कण की खोज में , काल्पनिक संकल्पनाओं को छोड़कर , अपने अभियान में निष्ठापूर्वक संलग्न है। डार्क एनर्जी और डार्क मैटर जैसे क्षेत्र अभी भी अज्ञात हैं। लेकिन फिर भी प्रकृति के नए-नए रहस्य मनुष्य को ज्ञात हो रहे हैं।

प्रकृति के रहस्यों और सृष्टि के प्रेरक तत्वों को खोजकर उन्हें अनावृत्त करने और समझने में जो आनंद मिलता है , वह ईश्वर को आँखें मूंदकर मानने या नकारने की शुष्क चर्चा से नहीं मिलता।

हमें मानव समाज को आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध बनाना है तो हमारी बुद्धि पर पड़े सारे दबाओं और बंधनों को दूर हटाना होगा। और कोई विकल्प नहीं है। हमें समता, बंधुत्व, स्वातंत्र्य, करुणा, प्रज्ञा, तर्कवाद की नींव पर खड़ा समाज तो अभिप्रेत है लेकिन प्रत्यक्ष में हम अछूत प्रथा, गरीबी, अज्ञान, लाचारी, अंधश्रद्धा, रूढ़िवाद, परम्पराएं, चमत्कार, बुद्धिस्वातन्त्र्य गंवाने की आदत जैसी बातों की जबरदस्त पकड़ में हैं। इससे बाहर निकलने के लिए उतने ही जबरदस्त संघर्ष की आवश्यकता है।

महान वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग्स का कहना है कि अस्तित्व के रहस्यात्मक अज्ञात से डरों नहीं। उनका अपना जीवन इसका साक्षात् उदहारण है।

एक अन्य चिंतक ने कहा है, भय क्या है? आप की अनिश्चितता को स्वीकार करने की तैयारी नहीं है, जो वास्तवता है। इसी कारण आप अवास्तविक बातों में सहारा ढूँढते हों। एकबार आपने इसे स्वीकार कर लिया तो वही आपके लिए साहसकर्म बन जायेगा।

सृष्टि के घटक

भूतद्रव्य: मनुष्य के चेतना के बाहर तथा उससे स्वतंत्र रूप से विद्यमान वस्तुएं।

- यूनान के पुरातनतम दार्शनिक: दैनिक जीवन के अनुभव तथा प्रेक्षणों पर आधारित जगत विषयक विचार।
- मिलेटस के थालेस(ईसा पूर्व ६२५ -५४७): प्रत्येक वस्तु का मूलतत्त्व पानी।

एफिसस के हेराक्लिटस: प्रत्येक वस्तु का मूलतत्त्व आग।

थालेस के शिष्य अनाक्सीमेनीज: प्रत्येक वस्तु का मूलतत्त्व वायु (ईसा पूर्व ५८८-५२५)।

बाद में इसमें मिट्टी को जोड़ दिया गया और समझा गया कि सब कुछ इन चार तत्वों से मिलकर ही बना है। वही भूतद्रव्य है।

ल्युपिकस (ईसा पूर्व लगभग ५००-४००)+डेमोक्रीटस और उनके वारिस एपिक्यूरस इनके अनुसार विश्व का आधार अदृश्य परमाणु हैं।

आधुनिक विज्ञान १७ वीं और १८ वीं सदी -

भौतिक क्षेत्र: इनमें कणों की भांति निष्क्रियता द्रव्यमान नहीं होता । इनका कोई निश्चित आयाम नहीं होता। अर्थात वे भूतद्रव्य की पुरानी यांत्रिक संकल्पना के अनुरूप नहीं होते । लेकिन अब उनका अस्तित्व अनुभवसिद्ध है।

बीसवीं सदी -

यह प्रमाणित कर दिया गया है कि विशिष्ट दशाओं में मूल कण और क्षेत्र एकदूसरे में परिणत हो सकते हैं। इन्हीं रूपों में ऊर्जा का अस्तित्व होता है । अर्थात भौतिक क्षेत्र भूतद्रव्य का ही विशिष्ट रूप है।

इसपर आत्मगत प्रत्ययवादियों ने भूतद्रव्य के गायब होने की बातें करना शुरू कर दिया। इसपर लेनिन ने उनको उत्तर दिया कि भूतद्रव्य गायब नहीं हुआ बल्कि वे सीमाएं बदल गईं, जिनके अंदर पहले हम उसे जानते-समझते थे।

भूतद्रव्य के विषय में कुछ परिभाषाएँ -

संरचना : एकसमान, समरूप, स्थाई संबंधों, संयोजनों और अन्तर्क्रियाओं को संरचना कहते हैं।

रूप: संरचना के बाहरी पक्ष को उसका रूप कहते हैं।

अंतर्वस्तु: संरचना का भीतरी पक्ष तथा उसके घटक तत्व और प्रक्रियाएं इनको अंतर्वस्तु कहते हैं। घटनाओं का भीतरी पक्ष उनके रूप के माध्यम से ही जाना जा सकता है । चूँकि वस्तुगत नियमों में हमेशा घटनाओं की अंतर्वस्तु समाविष्ट होती है।

प्रणाली: सब जो एक निश्चित ढंग से अन्तर्सम्बन्धित और तदनुसारी नियमों से संचालित हैं, उन्हें एक प्रणाली कहते हैं। हम जिस किसी भी घटना के संपर्क में आते हैं उसे एक प्रणाली माना जा सकता है। मनुष्य का शरीर एक वैद्य के लिए एक प्रणाली है।

गुण-

जब हम अपने दैनंदिन जीवन में विभिन्न वस्तुओं , प्रक्रियाओं के संपर्क में आते हैं तो उन्हें एकदूसरे से अलग पहचानना इसलिए संभव होता है कि स्वयं वस्तुगत यथार्थता में , विभिन्न घटनाओं में एक निश्चित सातत्य और स्थिरता होती है । उनमें दूसरों से अलग पहचान देनेवाले लक्षण दीर्घ तथा अल्प कालावधि के लिए अपरिवर्तित रहते हैं । उनकी इस विशेषता को सामान्यतः "गुण" इस संकल्पना से दिखाया जाता है।

परिमाणः

ऊपर उल्लेखित प्रक्रियाओं या घटनाओं, जो कुछ हद तक स्थाई और अपरिवर्तित होती हैं, किसी दूसरे में परिवर्तित किये बिना भी इस तरह बदला जा सकता है , जिससे वह अपने पहले के निजी रूप में बनी रहे। इस विशेषता को "परिमाण" इस संकल्पना से सम्बोधित किया जाता है।

जैसे किसी व्यक्ति के जीवनकाल में उसके वजन आदि में बदल हो सकता है । यह बदलाव परिमाणात्मक है। लेकिन उसके गुण वैसे ही बने रहते हैं।

समय के साथ किसी भी घटना या प्रक्रिया में कम-अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन होते ही हैं। एक निश्चित कालावधि के अंदर विशिष्ट प्रणाली के स्थायित्व व् अस्तित्व तथा उसके निजरूप के साथ उसकी तद्रूपता को और साथ ही अन्य प्रणालियों से उसके अंतर को बनाये रखनेवाले मुख्य तत्वों, संयोजनों तथा संबंधों को 'प्रवर्ग गुण' या 'गुणात्मक निश्चयकता' द्वारा परावर्तित किया जाता है।

जिन संयोजनों तथा संबंधों के परिवर्तन एक प्रणाली के अलग-अलग अनुगुणों तथा लक्षणों में निश्चित सीमाओं के अंदर रद्दोबदल कर देते हैं लेकिन उसकी गुणात्मक निश्चयकता को नहीं बदलते, उन्हें 'परिमाणात्मक निश्चयकता' कहते हैं।

परिमाणात्मक परिवर्तनों के अध्ययन और वर्णन में गणित का प्रयोग किया जाता है । परिमाणात्मक परिवर्तन ऐसी निश्चित सीमाओं के अंदर ही हो सकते हैं, जिनके परे परिमाणात्मक परिवर्तन गुणात्मक संयोजनों और संबंधों को भंग या विखंडित कर सकते हैं जिससे मुख्य तत्व तथा उपप्रणालियों में गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। इन सीमाओं को 'माप' कहते हैं।

जब इस सीमाओं को लांघने से , पुराने गुणात्मक संबंधों तथा संयोजनों का यह विघटन और इन तत्वों व उपप्रणालियों का नया से प्रतिस्थापन 'छलांग' कहलाता है। यहाँ नया गुण उत्पन्न हो जाता है । यह परिवर्तन परिमाणात्मक परिवर्तनों की पूर्ववर्ती अवधि की तुलना में सापेक्षतः शीघ्रता से होता है । अतः इसे तत्क्षणिक या विस्फोटक माना जाता है । सब गुणात्मक छलांगें, घटनाओं की क्रमिकता में निश्चित क्रमभंग है , अविराम प्रक्रिया में एक व्यवधान है। उदा .के तौर पर बताया जाता है कि एक विशिष्ट तापमान पर बर्फ का पानी में रूपांतरण , आगे अन्य विशिष्ट तापमान पर पानीका भाप में रूपांतरण । यहाँ दोनों परिवर्तनों में वस्तुगत नियमसंगति दिखाई देती है।

छलांग के स्वरूप में जब नया गुण पैदा होता है तो उसके नए परिमाणात्मक पैरामीटर्स और परिमाण तथा गुण के नए माप उसे लागू होते हैं।

ऐसे होनेवाले परिवर्तन विद्यमान अस्तित्व को विकास की ओर ले जाते हैं।

संभावना और वास्तविकता

सम्भावना का वास्तविकता में संक्रमण अनुक्रमिक द्वंद्वात्मक निषेधों की एक प्रक्रिया है। अमूर्त आकारिक संभावना मूर्त , वास्तविक संभावना में और यह सम्भावना यथार्थता में बदल जाती है। अपनी बारी में यथार्थता अपने विकास के दौरान नई संभावना को जन्म देती है। शुरू में अमूर्त और फिर मूर्त संभावना को , जो नई यथार्थता में विकसित हो सकती है , बशर्ते कि कुछ कारण, पूर्ववस्थाएँ आदि उपस्थित हों।

संयोगः अल्पकालिक , अस्थायी, बाह्य परिवर्तनीय तथा शीघ्रता से गायब होनेवाले ऐसे संयोजनों तथा अन्तर्क्रियाओं को हम देख सकते हैं , जिनके बिना भी कोई एक घटना विद्यमान तथा विकसित हो सकती है, उन्हें संयोग कहा जाता है।

आवश्यकताः प्रत्येक प्रणाली और प्रत्येक घटना में ऐसे संयोजन , अंतर्क्रियाएँ और सम्बन्ध, तत्व और उपप्रणालियाँ होती हैं जिनके बिना वह अस्तित्वमान और विकसित नहीं हो सकती, उन्हें आवश्यक कहा जाता है।

विश्व में विभिन्न अंतर्क्रियाशील वस्तुओं की असीम संख्या है इसलिए किसी एक को , जैसा कि कई अध्यात्मवादी कहते हैं , मात्र आवश्यकता कहना गलत है । प्रकृति और समाज में अनेकानेक आवश्यकताएं एकदूसरे को प्रतिच्छेदित तथा परस्पर अंतर्क्रियाएँ करती रहती हैं । ऐसे प्रतिच्छेदनों तथा अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप ही संयोग का जन्म होता है, अतः आवश्यकता और संयोग निरपेक्ष दृष्टि से अलग नहीं किए जा सकते।

प्रकृति के विकास में संयोग की किसी भी भूमिका से इंकार करते हैं उन्हें 'नियतिवादी' कहा जाता है। इसके विपरीत जो लोग किसी भी प्रकार की आवश्यकता से इंकार करते हैं तथा दावा करते हैं कि विश्व में संयोग और विश्रृंखला का ही बोलबाला है उन्हें 'अनियतत्ववादी' कहा जाता है। अनियतत्ववाद किसी भी स्थायी व्यवस्थापक तथा नियामक , संयोजनों और संबंधों से इंकार करता है और मनुष्य को उसके परिवेश की घटनाओं के सम्मुख शक्तिहीन बना देता है।

भूतवस्तु और ऊर्जा के अविनाशी होने का सिद्धांत

अंग्रेज भौतिकविद जेम्स ज्यूल और रूसी भौतिकविद एमिल लैंट्ज़ द्वारा अन्वेषित ऊर्जा के अविनाशित्व और रूपांतरण का नियम।

ऊर्जा अविनाशी और असर्जनीय है। उसे केवल एक रूप से दूसरे में रूपांतरित किया जा सकता और चूँकि आइंस्टाइन के सूत्र $E=mc^2$ के अनुसार भूतद्रव्य भी ऊर्जा में पूरी तरह रूपांतरित किया जा सकता है । हम कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान सम्पूर्ण भूतवस्तु को मिलकर (चाहे वह किसी भी रूप में हों, न सृजित किया जा सकता है, न विनष्ट)

प्राचीन चिंतकों में से कुछ ने कहा था कि शून्य से कुछ पैदा नहीं किया जा सकता लेकिन यह केवल उनका अनुमान था। आज यह वैज्ञानिक दृष्टि से स्थापित सत्य है।

ज्ञानप्राप्ति: बौद्धिक जिज्ञासा

जिज्ञासा मनुष्य की प्रकृति का अंग है।

जिज्ञासा को शांत करने के दो मार्ग हैं-

चारों ओर दिख रही इस सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई, कैसी हुई, इसमें चारों ओर जो हो रहा है वह क्यों हो रहा है, मैं कौन हूँ, आदि बातों की जिज्ञासा मानव मष्तिष्क को आंदोलित करती रही है। इन सारी बातों को वह समझ नहीं पा रहा था। अतः वह इनको, उसकी शक्ति और समझ की पार की किसी शक्ति के दैवी चमत्कार मानने लगा और यह सब करनेवाले का एक आकार उसने अपने मन में बसा लिया और उसे नाम दिया ईश्वर। आगे वह इस कल्पना संसार में इतना उलझ गया कि ईश्वर और उसके इर्द-गिर्द कल्पनाओं का ताना-बाना बुनते-बुनते ईश्वर का अपना ही एक संसार खड़ा हो गया। इसका निर्माता था मनुष्य स्वयं। लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाणों, तर्कों के आधार पर इसका अस्तित्व कभी सिद्ध नहीं हो सका। फिर भी इस ईश्वर की कृपा पाने के लिए, उसे शांत और प्रसन्न करने के लिए मनुष्य कुछ करने लगा और कर्मकांड में उलझ गया।

इसीलिए कहा जाता है कि-

मनुष्य का अज्ञान ही ईश्वर का सृजनकर्ता है।

मनुष्य के ज्ञान का दायरा जहाँ समाप्त हो जाता है वहीं से ईश्वर का क्षेत्र शुरू होता है। लेकिन ज्ञान का दायरा तो लगातार बढ़ रहा है। उसी अनुपात में अलौकिकता का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा है।

दूसरी ओर निरीक्षण से कुछ बातें उसकी समझ में आने लगीं। अधिक जानने के लिए वह स्वयं प्रयत्न करने लगा। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप जन्म हुआ विज्ञान का। विज्ञान का आधार था प्रत्यक्ष प्रकृति से प्राप्त तथ्य और प्रमाण। इन प्रमाणों के आधार पर वह लगातार आगे बढ़ रहा है।

बुद्धि और तर्क

सृष्टि के सजीवों में करोड़ों-करोड़ों प्रजातियां विद्यमान हैं। उनका अपने-अपने ढंग से जीवन चलते रहता है। अंतर है तो उनकी बुद्धि की क्षमताओं में। मनुष्य की बुद्धि का स्तर सर्वोच्च है।

जब मनुष्य को, मान लो आपके तथाकथित ईश्वर ने या जिन्हें इस पर आपत्ति है उनकी दृष्टि में, प्रकृति द्वारा प्रदत्त बुद्धि का वरदान मिला है। तो उसका उपयोग क्यों न करें ?

उसका प्रत्यक्ष उपयोग न करते हुए उसे किसी आले में सजाकर रखें और बिना उसके किसी ऐसी चीज को खोजते फिरे जिसका अस्तित्व संदिग्ध है, तो इस बात को क्या कहें?

किसी भी बात को , जैसे वेद अपौरुषेय हैं या कुछ और को तौलनेवाली , जांचनेवाली, माननेवाली भी तो बुद्धि ही तो है । कई धार्मिक परस्पर विरोधी संकल्पनाओं में से चुनाव करना रहा तो आपको अपने बुद्धि का ही उपयोग करना पड़ेगा।

गीता का दूसरा अध्याय तो , एकमात्र बुद्धि की महिमा गानेवाला गीत ही तो है। शास्त्र कई हैं। उनमें अनगिनत बातें मिलती हैं। तो सत्य क्या है , इसका निर्णय अंत में कौन करेगा ? आपकी बुद्धि ही।

महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में , युधिष्ठिर के मुख से भी व्यासजी ने कहलवाया है, "श्रुतियाँ विविध हैं , परस्पर भिन्न हैं लेकिन तर्क की कहीं समाप्ति नहीं ।" "बुद्धि का माध्यम तर्क ही है।"

ऐतरेय आरण्यक में एक आख्यान है कि जब ऋषि लोक इस दुनिया से जाने लगे तब मनुष्य ने उनसे पुछा कि अब हम लोगों की कठिनाई के समय , उपदेश देनेवाला ऋषि कौन होगा? तब ऋषियों ने उन्हें 'तर्क' दिया और कहा कि यही तुम्हारा ऋषि होगा । तर्क करना बुद्धि का काम है। अपनी बुद्धि पर भरोसा करो, दूसरों का मुँह मत ताकते रहों।

और प्रत्यक्ष अनुभव और तर्क के आधार पर ही हम ज्ञान की ओर बढ़ते हैं।

ज्ञान या विद्या

'सा विद्या या विमुक्तये' ऐसा एक संस्कृत सुभाषित है। अर्थात् मानव का विमोचन कर सके वही विद्या।

#ज्ञान का परिणतिक्रम-

मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव और तार्किक बुद्धि इन दो स्वरूपों में ज्ञान परिणत होता है। प्रत्यक्ष अनुभव यह प्रथम अवस्था तो तार्किक बुद्धि या विचारशक्ति यह प्रथम अवस्था के आधार पर उत्पन्न हुई उच्च अवस्था । प्रत्यक्ष अनुभव में बाह्य विषय और सुखदुःख जैसे मनोभावों की संवेदनाएं अंतर्भूत होती हैं । तार्किक बुद्धि जितनी प्रगल्भ होती जाती है , उतना ही प्रत्यक्ष अनुभव भी स्पष्ट , व्यापक, सूक्ष्म और व्यवस्थित होता है । वस्तु के सत्य का आकलन अधिक कर सकता है । इससे उलटा , अनुभव भी तार्किक बुद्धि की वृद्धि तथा कुशलता के लिए कारण बनता है।

जीव में ज्ञानविकास यह देहविकास के स्तर पर निर्भर होता है | देह जितना अविकसित उसी अनुपात में ज्ञान भी अविकसित होगा।

कोई नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए पुराने ज्ञान की सीमा को लांघना आवश्यक है। इससे पुराना ज्ञान परिष्कृत भी होता है। लेकिन यह कष्टसाध्य प्रक्रिया है।

अंतःप्रज्ञा: कई बार ऐसा दावा किया जाता है कि प्राप्त हुआ ज्ञान अंतःप्रज्ञा से हुआ है | इसके प्रति विशेषज्ञों की राय है कि यह एक अचेतन क्रिया के रूप में प्रकट होती है | जटिल कार्यों के समाधान की प्रक्रिया गोपनीय ढंग से आपके अचेतन मन में शुरू रहती है और वास्तव में केवल अंतिम परिणाम ही मस्तिष्क में अंकित होता है | यह मनुष्य की एक असंदिग्ध तर्कबुद्धिमूलक योग्यता का अंग है। लेकिन इसपर अभी अधिक अध्ययन नहीं हुआ है | इस क्रिया में तार्किक विचार संकुचित हो जाता है। इस कारण उसका स्वरूप अतार्किक दिखाई देता है। लेकिन वह जुड़ी है मस्तिष्क से ही, इस दुनिया के पार किसी तत्व से नहीं, चूंकि उसका आविर्भाव मस्तिष्क में ही होता है।

कल्पना -

आइन्स्टाइन कहते हैं, "कल्पना ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि ज्ञान सीमित है जबकि कल्पना सारे विश्व को अपनेमें समेट लेती है।"

ऐसा कहा जाता है कि विचार, कल्पना की सहायता से विद्यमानता की सीमाओं को लांघता है। ज्ञान की बाधाओं को पार करते हुए अज्ञात तक पहुंचने का रास्ता साफ करता है।

इसकी परिभाषा में कहा जाता है, "यह पहले के अनुभवों को रूपांतरित करते हुए नए विचारों और मानसिक बिम्बों की रचना करने की मानव की क्षमता है | वह ज्ञात को अज्ञात से जोड़ने में सहायक होती है।"

प्राक्कल्पना- कई वैज्ञानिक खोजें अटकलों के आधार पर हुई हैं। यह एक सुझाव के रूप में होती है। या इसे आप वैज्ञानिक पूर्वानुमान कह सकते हैं, जो सिद्धांत निरूपण में सहायक होता है। इसकी रचना के आधार निम्न होते हैं -

१) प्रेक्षण: इससे प्राक्कल्पना का सरलतम प्रकार बनता है। डार्विन ने प्रेक्षण और संग्रहित सामग्री के समाहार के आधार पर जीवित प्राणियों के प्रजातियों के क्रमविकास के विषय में अपनी प्राक्कल्पना प्रस्तुत की थी।

२) सादृश्यता के आधार पर--अनुमानतः जानवरों के साथ सादृश्यता के आधार पर कई यंत्रों का निर्माण हुआ है। पक्षियों के चंचुओं से शल्यक्रिया के यंत्र, उनके पंखों से, हवाई जहाज की कल्पना मनुष्य को सूझी।

प्राक्कल्पना की सत्यता का आधार , व्यावहारिक कार्य ही है । जबकि उसका तार्किक प्रमाण, प्राक्कल्पना के विचारों की विद्यमान ज्ञान के साथ अनुरूपता में निहित होता है।

सत्य के पूर्व -

मनुष्य को विश्व संज्ञान कैसे होता है?

विश्व संज्ञान की दो विधियां -

दर्शन की विशेष शाखा है ज्ञानतत्त्व मीमांसा, या ज्ञानमीमांसा या ज्ञान का सिद्धांत।

मनुष्य अपनी आवश्यकता और लक्ष्यों के अनुसार दुनिया को बदल रहा है । यह तभी संभव हो रहा है जब वह उसके नियमों को समझ रहा है । किसीका विचार कुछ भी क्यों न हो , लेकिन यह वास्तवता है कि विश्व मनुष्य के लिए ज्ञेय है और मनुष्य उसे समझने के लिए सक्षम है।

विश्व की संज्ञेयता के विषय में प्राचीन यूनान के जिन दार्शनिकों ने संदेह व्यक्त किए थे उन्हें संशयवादी कहा जाता है। उनके अनुसार विश्व का वास्तव ज्ञान असंभव है। उनकी दलीलें-

१) मनुष्य के संवेदनात्मक अनुभव उसकी अवस्था पर , उसके संवेदों तथा मनोभावों पर आश्रित है।

२) संवेद भ्रामक होते हैं।

३) उसका मन भी भ्रामक होता है।

४) एकही वस्तु विभिन्न जीवों तथा मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है।

लेकिन संशयवाद की सकारात्मक भूमिका यह है कि संदेह ने विचारशीलता तथा सत्योत्घाटन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।

एक अरबी दार्शनिक अल गझली का दावा है कि चिंतन के द्वारा सत्य का अवबोध होना असंभव है। केवल रहस्यमय अंतःप्रज्ञा, ऊपर से प्राप्त आलोक ही उसे सच्चा ज्ञान दे सकता है।

इसका पराकोटि का रूप है अज्ञेयवाद: इसके एक रूप के अनुसार एक घटना को जानना संभव है लेकिन उसके सार को जानना असंभव। अंग्रेज अज्ञेयवादी दार्शनिक डेविड ह्यूम के अनुसार यदि अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है तो इस बात की कोई गारंटी नहीं कि अनुभव से प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक है। इसपर इमानुएल कांट कहते हैं , "ह्यूम ने अपने ज्ञान के जहाज को संशयवाद की उथली रेत में धंसा दिया और उसे वहीं सड़ने-गलने के लिए छोड़ दिया।"

लेकिन कांट ने भी अज्ञेयवादी प्रवृत्ति को कहाँ छोड़ दिया । कांट के अनुसार-विश्व हमारी चेतना से स्वतंत्र, हमसे बाहर 'वस्तु निज रूप' में विद्यमान है और वह मनुष्य में संवेदनात्मक अनुभव उत्पन्न कर के , उसे प्रभावित करता है । लेकिन वस्तु के बिम्ब और स्वयं वस्तु के बीच एक अंतर होता है और मानव मन इस अंतर को पार नहीं कर सकता । इस कारण मनुष्य, वस्तुओं की अंतर्वस्तु को नहीं जान सकेगा।

तो हेगेल इस पर कहते हैं , "कांट एक ऐसे व्यक्ति की याद दिला देते हैं जो तबतक पानी में पैर नहीं रखना चाहता जबतक कि वह तैरना न सिख ले।" हेगेल भी अन्ततः प्रत्ययवादी ही हैं।

अज्ञेयवाद की अतिवादी अभिव्यक्ति है 'अतर्कबुद्धिवाद'। इसके अनुसार विश्व तर्कहीन है । यह निराशावादी दृष्टिकोण मानव की बुद्धि पर अविश्वास व्यक्त करता है । इसकी प्रतिक्रियास्वरूप कुछ अतर्कबुद्धिवादी दार्शनिक बल तथा संकल्पशक्ति का विचार प्रस्तुत करते हैं जिसने अन्ततः फासिज़्म की वैचारिकी तथा व्यवहार के निरूपणार्थ एक स्रोत का काम किया।

कुछ सिद्धांतकार वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग अपने मतलब के लिए तो करते हैं और साथ में विश्व की ज्ञेयता पर भी संदेह करना जारी रखते हैं।

भौतिकवाद -

यह मानता है कि मनुष्य के संवेदी अंगों (दृष्टि , श्रव्य, घ्राण, स्पर्श आदि अंग) पर बाह्य वस्तुओं की क्रिया के साथ जो शुरू होता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य में संवेदों की उत्पत्ति होती है, जो स्वयं वस्तुओं के बिम्ब या परावर्तन होते हैं । वे चिंतन प्रक्रिया के आधार होते हैं , जो मनुष्य को उन आंतरिक अनुगुणों तथा संबंधों का संज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाते हैं।

अंग्रेज भौतिकवादी दार्शनिक जॉन लॉक , "हम वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान अपने संवेदनों के जरिये ही प्राप्त कर सकते हैं।"

लेनिन: वस्तुएं हमारे बाहर विद्यमान हैं । हमारे अवबोधन और विचार उनके बिम्ब हैं । इन बिम्बों का सत्यापन, वास्तविक और मिथ्या बिम्बों के बीच विभेदीकरण, व्यवहार से होता है।

उत्पादन का अनुभव प्राकृतिक विज्ञानों को जन्म देता है | जैसे १) जहाजरानी की व्यावहारिक आवश्यकता ने खगोलविद्या को जन्म दिया | २) खेती की आवश्यकता ने ज्यामिति को। अर्थात् संज्ञान ज्ञानोपलब्धि की वह प्रक्रिया है, जिसका सीधा लक्ष है सत्य तक पहुंचना और अंतिम लक्ष सफल व्यावहारिक कर्म है।

अनुभववाद -

विश्व का ज्ञान, खास तौर पर वैज्ञानिक ज्ञान पूर्णतया इन्द्रियानुभवों पर निर्भर है। उदा .भौतिकवादी फ्रांसिस बेकन तथा जॉन लॉक और प्रत्ययवादी जॉर्ज बर्कले तथा डेविड ह्यूम - "इन्द्रियानुभव ज्ञान के एकमात्र स्रोत है।"

जॉन लॉक के अनुसार, बुद्धि में ऐसा कुछ नहीं है, जो संवेदनों में निहित न होता हो। (वे मन की भूमिका को नकारते नहीं, फिर भी)

तर्कबुद्धिवाद:

तर्कबुद्धिवाद: (भौतिकवादी स्पिनोजा-प्रत्ययवादी- गोटफ्रीड,लिब्निट्ज़,कांट,हेगेल)

संज्ञान मनुष्य की तर्कबुद्धि की सक्रियता के कारण ही संभव होता है, जो वस्तुओं के सार तक पैठने में सक्षम होती है। जबकि हमारे संवेग विश्व का मिथ्या चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन्द्रियानुभव वस्तु और घटनाओं की केवल बाहरी विशेषताओं को परावर्तित करते हैं और उनमें गहराई तक नहीं पैठते इसलिए वे उनका असली ज्ञान नहीं दे सकते। उनका सार संवेदों से प्राप्त संज्ञान से उद्धाटित नहीं होता, जबकि संज्ञान का प्राथमिक लक्ष वस्तुओं और घटनाओं की आंतरिक प्रकृति (सार) की खोज है। केवल सार का ज्ञान ही वह चीज है, जो मनुष्य के व्यावहारिक कार्यों में उसका मार्गदर्शन कर सकती है। यह प्रदान करता है 'चिंतन'।

यहाँ 'सार' अमूर्त है। वह व्यवहार में कैसा मार्गदर्शक होगा?

बर्ट्रांड रसेल (१८७२ -१९७०): संवेदना

एक प्रकार से संवेदना का सम्बन्ध ज्ञान की प्रक्रिया से है। निश्चित ही संवेदना हमारे लिए ज्ञान-स्रोत का काम करती है। संवेदना को हम न पूर्णतया भौतिक ही कह सकते हैं न मानसिक। वह तो दोनों की सीमारेखा पर स्थित है। एक ओर तो भौतिक जगत को पहचानना है तो दूसरी ओर मानसिक जगत का भी विश्लेषण करना है।

भारतीय दर्शन: उपनिषद् -

ज्ञान दो तरह का होता है -१) निम्नस्तरीय-खंडित और सांयोगिक , इस कारण अप्रमाणिक है। २)तर्कबुद्धि या मन द्वारा दिया हुआ ज्ञान उच्चस्तरीय माना जाता था, जहातक वह रहस्यमय अन्तःप्रज्ञा से पहुँचता है।

आधुनिक प्रत्ययवादी दार्शनिक -तर्कबुद्धिवादी: अंग्रेज दार्शनिक कार्ल पेप्पर-विज्ञान के इतिहास में हमेशा नए ज्ञान का पथ प्रयोग ने नहीं , सिद्धांत ने प्रशस्त किया है। प्रेक्षण ने नहीं, विचार ने किया है।

किसपर विश्वास करें -अनुभव पर या तर्कबुद्धि पर-

१) संवेदों ने अक्सर मनुष्य को धोखे में डाला है । आकाश में सूर्य की गति को देखकर लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि सूर्य पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है जो गलत सिद्ध हुआ।

२) मन भी भ्रम में डालता है

लेकिन स्पष्ट बात यह है कि शिशु में विकसित होनेवाला संज्ञान धीरे-धीरे ही होता है और वह भी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उसे आनेवाले अनुभवों के आधार पर । अर्थात् संवेदों से प्राप्त अनुभव ही मूलतः ज्ञान के स्रोत और आधार हैं।

अवबोधन: एक साकल्य के रूप में वस्तु का एक इन्द्रियानुभव (बिम्ब) होता है।

हम पराध्वनि को नहीं सुन सकते जबकी चमगादड़ इसे सुनते हैं और इसका उपयोग दिशा निर्धारण में करते हैं। हम प्रकाश की अवरक्त और पराबैंगनी किरणों में वस्तुओं को नहीं देख सकते जबकि पतंगे अवरक्त प्रकाश में देख सकते हैं । उसी तरह भावावेगों का स्तर भी हर प्राणी जाति में अलग-अलग है।

संकल्पना:

संकल्पना या विचार, संवेद प्रदत्त ज्ञान का अधिक जटिल रूप है । यह किसी ऐसी वस्तु के बारे में एक मानसिक छाप है जिसका तत्काल अवबोध नहीं होता । वे हमारी स्मृति के कार्यों का परिणाम भी हैं । वे संवेदनों और अवबोधनों के मुकाबले अधिक गहरी और सामान्य तस्वीरें

पेश करती हैं और चिंतन के निकटतर होती हैं | संकल्पनाएं काल्पनिक और वैज्ञानिक भी हो सकती हैं।

सत्य-

संज्ञान का लक्ष सत्य की उपलब्धि है और उसके आधार पर मानवजाति के सम्मुख मौजूद नयी समस्याओं को हल करना है। सत्य की संकल्पना अनेकार्थी है। सत्यता स्वयं वस्तुओं का अपना अनुगुण नहीं, बल्कि मनुष्य के मन में उनका प्रामाणिक परावर्तन है।

मोटे तौर पर 'सत्य' संकल्पना को दो अर्थों में उपयोग में लाया जाता है-

- १) जिन घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है उनका यथार्थ रूप से वर्णन करनेवाले विधान।
- २) कुछ विधानों की सत्यता गृहित मानकर उस आधार पर तर्क शुद्ध ढंग से निकले निष्कर्ष।

कोई विधान तर्क दृष्टि से उचित होगा या अनुचित। इसके बीच की अवस्था संभव नहीं।

परमेश्वर, आत्मा और विद्युत् कण ये तीनों बुद्धि निरूपित संकल्पनाएं हैं। लेकिन इनमें से केवल 'विद्युत् कण' यही एक वैज्ञानिक संकल्पना होगी। क्योंकि उसीपर प्रचीतिक्षमता की कसौटी लगाई जा सकती है।

एक अलग आधार पर सत्य का वर्गीकरण इस तरह भी किया जाता है-

- १) वैज्ञानिक सत्य: यह अनुभवजन्य और अनुभवक्षम होता है | वह पूरी तरह ऐहिक होता है | किसी भी तरह की रहस्यता का अंश उसमें नहीं होता | वह वैचारिक स्वरूप का होता है | वह व्यक्तिगत स्वरूप का न होते हुए सार्वभौमिक स्वरूप का होता है अर्थात् उसका अनुभव कोई भी ले सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कल्पना के आधार पर अंदाजा लगाने के लिए उसमें स्थान ही नहीं होता।

इससे उल्टा-

गूढ़ सत्य: यह सत्य केवल साक्षात्कार या व्यक्तिगत संवेदनाओं पर निर्भर , विधान होता है। इस कारण उसका स्वीकार केवल श्रद्धा के आधार पर ही करना होता है | उसे तार्किक परिभाषा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता | सबूत के आधार पर यह सिद्ध होता है यह नहीं कहा जा सकता | उसके प्रामाण्य की कड़ी जाँच नहीं की जा सकती। 'केवल यह है' इतना विधान कहकर वह चुप हो जाता है। अतः इसे स्वीकारना एक तरह की बौद्धिक गुलामगिरी है।

वस्तुगत सत्य: सापेक्ष सत्य और निरपेक्ष सत्य-

वस्तुगत सत्य, मनुष्य के व्यावहारिक क्रियाकलाप पर आधारित संज्ञान की प्रक्रिया में उपलब्ध होता है। इसलिए यह कहना उचित नहीं होगा की 'सत्य' कोई ऐसी चीज है जो मनुष्य से परे, उसकी चेतना के बाहर होती है । सत्य तथा लोगों के क्रियाकलाप के बीच का संपर्क सूत्र उसकी गत्यात्मक प्रकृति को अभिव्यक्त करता है । सत्य की प्राप्ति एक कष्टसाध्य प्रक्रिया है क्योंकि वह एक ही चरण में नहीं बल्कि शनैः शनैः निरूपित होती है। इसलिए एक तरफ तो कोई सत्य सीमित तथा सापेक्ष होता है । तो दूसरी ओर वस्तुगत सत्य केवल सापेक्ष , इतिहास में सीमित तथा अधूरा ही नहीं होता । इसके साथ ही यह निरपेक्ष भी होता है । प्रत्येक नई खोज के बाद वह पूर्णतर होता जाता है । यह दावा करना गलत है कि सत्य के तीन प्रकार हैं -वस्तुगत , सापेक्ष और निरपेक्ष। वास्तव में, सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य वस्तुगत सत्य के विभिन्न स्तर या रूप हैं। हमारे ज्ञान का स्तर जितना ऊँचा होता है हम निरपेक्ष सत्य के उतने ही निकट होते हैं । लेकिन यह प्रक्रिया अंतहीन हो सकती है। सापेक्ष सत्य में निरपेक्ष सत्य का एक अंश होता है।

हम देखते हैं कि जो बात पहली नजर में निरपेक्ष लगती वह वास्तव में सापेक्ष ही होती है। जैसे -नागपुर महाराष्ट्र की उपराजधानी है । भारत १९४७ में स्वतंत्र हुआ आदि । ये स्थापित सत्य हैं लेकिन इन सत्यों के आगे-पीछे भी कई सत्य हैं । इस कारण तुम इन्हें अंतिम रूप से निरपेक्ष सत्य नहीं कह सकते। ये छोटे-छोटे सत्य हैं अर्थात् कुछ हद तक मौलिकता रहित सत्य हैं। उपरोक्त विधान, नागपुर के विषय में सर्वांगपूर्ण तथा सदा के लिए सत्य ज्ञान नहीं है।

कोई घटना जितनी ज्यादा जटिल होती है, निरपेक्ष सत्य की याने उसके बारे में पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति उतनी ही कठिन होती है। किन्तु इसके बावजूद निरपेक्ष सत्य होता है लेकिन उसे मानव ज्ञान की वांछित सीमा और लक्ष के रूप में समझना चाहिए । प्रत्येक सापेक्ष सत्य हमें उस लक्ष के निकटतर लानेवाला एक कदम है । क्या हम निरपेक्ष सत्य को प्राप्त तथा उसका निरूपण कर सकते हैं?

अज्ञेयवादी कहते हैं, "नहीं" चूँकि हमारा सरोकार केवल सापेक्ष सत्य से है । प्रत्येक सत्य ग्रहण के बाद पता चलता है कि हर सत्य सापेक्ष ही है।

मताग्रही लोग सत्य को निरपेक्ष मानते हैं और उसके सापेक्ष प्रकृति की सीधे-सीधे अवहेलना करते हैं। उनके अनुसार पूर्ण, सर्वसमावेशी और सत्यापनीय केवल 'निरपेक्षीय' सत्य ही हो सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष में सत्य की अपनी वस्तुगतता से सम्बंधित निरपेक्ष प्रकृति इस बात में प्रदर्शित होती है कि वैज्ञानिक विकास की किसी निश्चित अवस्था में निरूपित प्रस्थापनाओं का बाद में विज्ञान की प्रगति होने पर खंडन नहीं किया जा सकता।

सापेक्ष सत्य हमारे ज्ञान तथा यथार्थता के बीच अपूर्ण , आंशिक तथा स्थूल अनुरूपता है। सापेक्ष सत्य निहित ज्ञान को आगे चलकर अधिक विशिष्ट , अधिक सही बनाया जा सकता है । प्राचीन चिंतक अक्सर घटनाओं या प्रक्रियाओं के मात्र बाहरी पक्ष का प्रेक्षण करते हुए उनकी जटिल आंतरिक संरचनाओं के बारे में अतीव काल्पनिक अटकलें लगा लिया करते थे । जब व्यवहार और विज्ञान दोनों ही आगे बढ़ते हैं तो लोग धीरे-धीरे सत्य को जानने लगते हैं । उदा. डेमोक्रीटस ने महज अटकल लगाई थी कि दुनिया परमाणुओं से बनी है , लेकिन भौतिकविद नील्स भोर ने परमाणु संरचना की वस्तुतः खोज की। हम अपने अध्यय विषय के पास किस हद तक पहुँच सकते हैं, यह निरपेक्ष तथा सापेक्ष सत्य के सम्बन्ध का क्षेत्र है।

प्रत्यक्ष में मनुष्य जाति अपने क्रमविकास की प्रत्येक अवस्था में निरपेक्ष ज्ञान से संपन्न नहीं हो सकती। तो साफ है ज्ञान के क्रमविकास का नियम सापेक्ष से निरपेक्ष की ओर उसकी प्रगति का ही नियम है । निरपेक्ष सत्य सापेक्ष सत्यों की अनगिनत संख्या से निर्मित होता है । लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान किसी भी हालत में 'चिरंतन सत्यों' का पूंज मात्र नहीं है । न उसे आध्यात्मिक अर्थवाले निरपेक्ष ज्ञान में परिणत किया जा सकता है । क्योंकि विश्व में सब कुछ परिवर्तित हो रहा है फिर भी प्रत्येक घटना सापेक्षतः स्थायी है। परिवर्तनीयता और स्थायित्व की एकता की समझ रखें बिना जीना संभव नहीं है।

जिस तरह कुछ हद तक प्रत्येक व्यक्ति का अपना सत्य होता है उसी तरह सत्य , वास्तव स्थिति पर भी निर्भर होता है। क्या हम यह दावा निरपेक्ष रूप से कर सकते हैं कि वर्षा उपयोगी है या हानिकारक? इस मामले को किसी भी एक दावे के पक्ष-विपक्ष में , तबतक सुलझाया नहीं जा सकता, जबतक कि ठोस दशाओं को ध्यान में न रखा जाए। वर्षा बुआई के बाद या फसल की वृद्धि के दौरान निश्चित ही उपयोगी है लेकिन फसल कटाई के समय हानिकारक है।

संक्षेप में -

सापेक्ष सत्य: वस्तुगत सत्य की अभिव्यक्ति के रूप को , जो ठोस ऐतिहासिक दशाओं पर निर्भर होता है और ज्ञान के प्रदत्त स्तर पर प्राप्त उसकी सटिकता, परिशुद्धता और पूर्णता की कोटि दर्शाता है, सापेक्ष सत्य कहलाता है।

निरपेक्ष सत्य: किसी घटना के सर्वथा पूर्ण, सटिक, सर्वतोमुखी, सांगोपांग, सर्वांगपूर्ण ज्ञान को निरपेक्ष सत्य कहते हैं।

सत्य और भ्रम:-

हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता केवल व्यवहार ही से साबित और परिपुष्ट हो सकती है । सत्य और मिथ्या ज्ञान के बीच की विभाजक रेखा केवल व्यावहारिक क्रियाकलाप के दौरान ही खींची जा सकती है। यदि हमारा ज्ञान सत्य है और यथार्थता को सही-सही परावर्तित करता है तो हमारे सोद्देश्य क्रियाकलाप सफल होंगे और हम इच्छित परिणाम प्राप्त कर सकेंगे।

सत्योत्तर-

हम जो कुछ बोलते हैं वह या तो सत्य होगा या असत्य लेकिन आठ नवम्बर २०१६ को ऑक्सफोर्ड शब्दकोष में एक नए शब्द को अंतर्भूत किया गया। यह शब्द है 'पोस्ट ट्रुथ'। इसे हिंदी में 'सत्योत्तर' कहा गया है। इस शब्द को विशेषण के तौर पर लिया गया है। इसको विशेष प्रसिद्धि मिलने का कारण है दुनिया में घटित हुई दो घटनाएं । १) ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से **Brexit**। २) अनअपेक्षित ढंग से अमेरिका में ट्रम्प महोदय का राष्ट्रप्रमुख के तौर पर चुना जाना । यह शब्द कुछ नया बना हुआ नहीं है। लेकिन इन घटनाओं के कारण उसे नया अर्थ मात्र प्राप्त हुआ है। वह है "भावना यही तथ्य"। जनमत बनाने के लिए तथ्य से अधिक भावनाओं की महत्ता निश्चित होने जैसी स्थिति।

जब किसी भी तथ्य के प्रति सम्भ्रम पैदा करना हो और लोकमानस को अपने अनुकूल बना लेना हो तो तर्क के स्थान पर भावनिक आवाहन अधिक उपयोगी होता है । वह परिणाम भी त्वरित देता है। ट्रम्प महोदय के भाषणों में तार्किक तथ्यों का दर्शन शायद ही मिला हो लेकिन विजयी वे ही हुए। वैसे यह कोई नयी बात नहीं । कौटिल्य नीति, नित्शे का दर्शन, ग्लोबेल्स का प्रचारतंत्र कोई इससे अलग नहीं था। तर्क अपने आप ही पार्श्व में चला जाता है और भावना तर्क का स्थान ले लेती है।

वैसे भी कहा गया है कि अधूरा सत्य, उधार लिया हुआ सत्य, या अस्तित्व से नाता न होनेवाला सत्य, असत्य से अधिक खतरनाक होता है।

शास्त्र

'सत्य' की खोज करते-करते एक 'शास्त्र' या एक विज्ञान बन जाता है। लेकिन 'शास्त्र' शब्द पर मत मोहित होइए।

आस्तिकता बनाम नास्तिकता, अन्य शब्दों में शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद भी है । शास्त्रवाद पग-पग पर 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग करता है, शास्त्र यह कहता है, शास्त्र वह कहता है। यहाँ शास्त्र का आम अर्थ है , धर्मग्रन्थ। बुद्धिवाद 'बुद्धि', 'विवेक', 'विचार' पर जोर देता है । यूरोप में तो

'शास्त्रवादी' रोमन कैथोलिक और 'बुद्धिवादी' प्रोटोस्टेंट इनमें शुरू में तो वाग्युद्ध हुआ और फिर दारुण शस्त्र युद्ध। इसलिए हम आम तौर पर उपयोग में लाया जानेवाला 'विज्ञान' शब्द ही रखेंगे। लेकिन कोई भी शास्त्र बनाते समय शुरुवात कुछ संकल्पनाओं से होती है।

संकल्पनाएं: संकल्पनाओं की रचना की प्रक्रिया को अक्सर 'अपकर्षण' कहा जाता है। कई सारी वस्तुओं में से एक समान बात को उठा लेते हैं | एक वस्तु को दूसरी से अलग करनेवाले सारे अंतरों को अपकर्षित करते हैं या छोड़ देते हैं | इस प्रक्रिया में विभिन्न स्तरों से गुजरते हुए शब्दों में व्यक्त एक संकल्पना पैदा होती है। वास्तविक जीवन में ये संकल्पनाएं एक दीर्घावधि में विकसित और परिष्कृत होती हैं। इसी कारण संकल्पनाएं मनुष्य में अन्तर्जात या ईश्वर की बनाई हुई नहीं होतीं। वे इतिहास पर आश्रित होती हैं और अपकर्षण के द्वारा रूप ग्रहण करती हैं।

जब संकल्पना के निर्माण करने में समर्थ रचनात्मक क्रियाकलाप , वस्तुओं के वस्तुगत गुणों तथा संबंधों के विरुद्ध आ टकराता है , तो अपकर्षण की प्रक्रिया के दौरान ऐसी असत्य संकल्पनाएं बन सकती हैं जो वस्तुगत यथार्थता को विरूपित, त्रुटिपूर्ण ढंग से परावर्तित करती हैं। कुछ दशाओं में वह प्रत्ययवाद की ओर अग्रसर होती हैं।

संकल्पनाएं कैसी बनती हैं?

प्रत्येक सिद्धांत के आरम्भ में अव्याख्येय पद और गृहितकृत्य आते हैं , यह बात सच है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञान का आरम्भ दुर्बोध और अविज्ञेय होता है | विज्ञान रहस्यता में से जन्म नहीं लेता | अव्याख्येय पद और गृहितकृत्य इन्हें कुछ अर्थ नहीं होता या उन्हें समझ लिया नहीं जा सकता, ऐसा बिल्कुल ही नहीं।

संकल्पनाएं बनाने की दो रीतियाँ हैं-

- १) कई विशिष्ट उदाहरणों को लेकर उनमें अंतर्भूत समान गुणधर्मों का एकत्र निदेश करते हुए। उदा. 'नील' यह संकल्पना कई नीले वस्तुओं में उपस्थित समान गुणधर्म एकत्र कर बनाई गई है।

इस प्रक्रिया को अमूर्तीकरण कहा जा सकेगा | जिसका अस्तित्व है अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव करानेवाला कोई पदार्थ मूर्त होता है। अमूर्तीकरण की प्रक्रिया में हम उसका एक गुणधर्म अलग करते हैं और उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने पर तर्कदृष्टि से वह संकल्पना एक स्वतंत्र बात (**Entity**) बन जाती है।

'नीलापन' या 'जीवन' नाम के पदार्थ प्रत्यक्ष में नहीं हैं। वास्तव में जो कुछ है, वह नीले पदार्थ अर्थात् नीला रंग लिए हुए पदार्थ तथा जीव धारण करनेवाले प्राणी होते

हैं। अमूर्तीकरण प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न की गई जो संकल्पनाएं होती हैं उनके विषय में तो यह बात साफ दिखती है।

२) दूसरी रीति अव्याख्येय पदों का बोध करा देती है।

उदा. अणुविज्ञान के "विद्युत् कण" या "तरंगों का पुंज" या फिर अध्यात्म का "आत्मा", केवल इसी मार्ग से स्पष्ट किये जा सकते हैं। यहाँ उस संकल्पना के प्रतीक के तौर पर किसी भी प्रत्यक्ष पदार्थ को दिखाया नहीं जा सकेगा।

लेकिन इनमें 'विद्युत् कण' या 'तरंगों का पुंज' ये ही वैज्ञानिक संकल्पनाएं हैं। उन्हें प्रचिती क्षमता की कसौटी लगाई जा सकती है। आत्मा पर यह नहीं लगाई जा सकती। ऐसी संकल्पनाएं अमूर्तीकरण की पद्धति से नहीं बनाई जा सकेगीं। अतः ऐसा कोई पदार्थ दिखाया नहीं जा सकता कि जिसके द्वारा उस संकल्पना का आविष्कार हुआ, ऐसा कहा जा सके।

ये बुद्धिनिरूपित संकल्पनाएं हैं। जिन संकल्पनाओं का सम्पूर्ण अर्थ, यह उन्हें जिन गृहितकृत्यों में उपयोग में लाया जाता है, उनके द्वारा ही बताया जा सकता है उन्हें 'बुद्धिनिरूपित संकल्पना' (**Concept by intellection**) ऐसा कहा जा सकेगा।

विवेचन पद्धति

धर्मशास्त्र की विवेचन पद्धति (**Theology**) में मानवी बुद्धि के दायरे में न आनेवाली अतिभौतिक और अतिमानवी शक्ति पर श्रद्धा, यही अंतिम आधार है।

तो इससे उलटा -

प्रकृति के व्यापार, मानवी बुद्धि को आकलन होने लायक हैं। इस कारण उन्हें बुद्धिगम्य स्वरूप में प्रस्तुत करना संभव है (ताकि उनका मनुष्य की भलाई के लिए प्रत्यक्ष उपयोग किया जा सके)। और इसके लिए आधार तर्क होगा। यह होगी किसी निर्णयप्रत पहुँचने के लिए, तर्काधिष्ठित विवेचन पद्धति।

पाश्चात्य देशों में बेकन के समय तक एरिस्टॉटल की निगमन (**Deductiv**) पद्धति ही पारम्परिक तर्कशास्त्र के रूप में चली आ रही थी। इसमें सामान्य से विशेष की खोज की जाती थी।

बेकन की विगमन पद्धति (**Induction**):-

- १) सर्वप्रथम अपनी पूर्व कल्पनाएं या दूषित पूर्वग्रह अलग रखने होंगे।
- २) निर्लेप मन से निरीक्षण के लिए सिद्ध होना होगा।
- ३) मामूली आधार के सहारे तुरंत निष्कर्ष निकालने के मोह से बचना होगा।
- ४) प्रत्यक्ष घटनाओं पर सारा ध्यान केंद्रित करना होगा।

५) उनका निरीक्षण और वर्गीकरण करना होगा।

६) इनके आधार पर सीढ़ी-दर-सीढ़ी बढ़ते हुए उन घटनाओं को नियंत्रित करनेवाले नियम जान लेना होगा।

७) सबसे अंत में, अतिव्यापक और सर्वव्यापक नियमों को निश्चित स्वरूप में प्रस्तुत करना।

विगमन

निरीक्षण से लेकर तो नियम तैयार करने तक जो क्रियाएं की जाती हैं, वे सब मिलकर विगमन पद्धति बनती है। इस प्रक्रिया में जब कुछ घटनाओं के निरीक्षण के आधार पर, उनमें विद्यमान कार्यकारण भाव के प्रति कोई कल्पना या अंदाज मन में तैयार होते जाता है, तब उस कल्पना को 'अभ्युपगम' (**Hypothesis**) कहते हैं। यह 'अभ्युपगम' अगर भिन्न-भिन्न कसौटियों पर सिद्ध हुआ तो ही वह नियम बनता है।

संकल्पना (Concept): उपरोक्त आधार पर-

किसी विशेष विशेषता की या गुणधर्म की हमारे मन में तैयार हुई और व्यवहार में रूढ़ हुई अमूर्त कल्पना यही 'संकल्पना' (**Concept**) है। व्यवहार में उस कल्पना का स्वरूप जड़ रूप में दिख नहीं सकता। उदा. सफ़ेद कपास, सफ़ेद कागज, सफ़ेद दीवार ऐसा हम कहते हैं। लेकिन 'सफ़ेद' या 'सफ़ेदी' ऐसी कोई चीज नहीं है। एक विशिष्ट रंग की कल्पना है। यही 'संकल्पना' है।

भारतीय दर्शन में-

मनुष्य का मस्तिष्क कभी-कभी ऐसी उलझन में पड़ जाता है कि आखिर वास्तवता क्या है?

कोई भी ज्ञान, सच या झूठ और प्रमाण या अप्रमाण निश्चित करने का साधन क्या है, यह तत्त्वचिंतन में एक विवाद्य विषय माना जाता है। भारतीय दर्शन में इस प्रश्न की चर्चा को 'प्रामाण्यवाद' कहा जाता है। गौतम मुनि ने न्यायदर्शन में इन्द्रियों की साक्षी को झूठी न बताकर केवल उसकी परीक्षा के निमित्त कुछ नियम स्थापित कर दिए हैं। इन नियमों द्वारा हम जान सकते हैं कि कौनसी बात सच है और कौनसी झूठ। इसीका नाम उन्होंने 'प्रमाण चतुष्टय' अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द रखा है। इसमें संदेह नहीं कि बहुत सी बातों को हमारी इन्द्रिय नहीं जान सकती या यों कहिए कि बहुत सी बातों को हम इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकते। उसके लिए अन्य कसौटियों को अपनाना पड़ता है।

लेकिन जहाँ तक शब्द प्रमाण का प्रश्न है और आध्यात्मवादी इसका बचाव जिस तरह करते हैं, उसे नहीं माना जा सकता।

आत्मवादी, जीव-आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए सबसे प्रबल तर्क देते हैं, शास्त्र-प्रमाण का। वेदांत सूत्र का तीसरा सूत्र ही है 'शास्त्र योनित्वात्'। हम ब्रह्म का अस्तित्व क्यों माने, तो शास्त्र कहता है इसलिए। और हमने पूछा, हम शास्त्र का कहना माने ही क्यों तो उसपर उत्तर आएगा 'क्योंकि शास्त्र, ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है'। अर्थात् ब्रह्म निर्भर है शास्त्र पर और शास्त्र निर्भर है ब्रह्म पर । वेदों ने शब्दों द्वारा जो भी प्रतिपादित किया वह स्वयंसिद्ध है।

इसपर शब्द प्रमाणवादी दलील देते हैं कि कई चीजें, हम न देखते हैं, न जानते हैं, फिर भी हम उनपर विश्वास कर लेते हैं , किसी के कहने पर। उदा. संसार की जनसँख्या सात अरब है। हम मान लेते हैं क्योंकि उन्हें उस क्षेत्र के विशेषज्ञ या विश्वासपात्र लोगों ने बताया है। संत-महात्मा भी अपने क्षेत्र के वैज्ञानिक ही हैं। वे जब कहते हैं कि ईश्वर है, तो होगा ही। जनसँख्या आदि के विषय में संशय पैदा हुआ तो उसे स्वयं परखा जा सकता है। परखा इसलिए नहीं जाता कि उसकी जरूरत नहीं पड़ती । जनसँख्या के आकड़े गलत हो सकते हैं लेकिन जनसँख्या यह संकल्पना तो वास्तव है । कई अन्य बातों पर भी यह बात बैठती है, जबकि ईश्वर, आत्मा जैसी संकल्पनाओं पर नहीं।

मानवी बुद्धि

मानवी बुद्धि जैविक दृष्टि से उत्क्रांत होती हुई आई है। हमारा अभी का दिमाग यह आदि मानव के दिमाग से कमसे कम तीन गुना बड़ा है।

दर्शन

दर्शन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना नहीं , उसे बदलना है -- भाववादी दर्शन के सर्वोच्च चिंतक डॉ. राधाकृष्णन

दुनिया को केवल समझना नहीं, तो उसे बदलना है -- कार्ल मार्क्स

भाववादी दर्शन तथा भौतिकवादी दर्शन , दो सिरों के सबसे बड़े दार्शनिकों का ध्येय एक ही है, दुनिया को बदलना है। दुनिया को बदलना इसलिए है कि मनुष्य का जीवन अधिक अच्छा बने।

और सारे चिंतन की आधारशीला जिज्ञासा है । प्रथम हमें जगत को समझना होगा , फिर जीवन को उन्नत बनाना है।

अस्तित्व की रक्षा जीवन की प्रथम आवश्यकता है। सांसारिक कष्टों से मुक्ति यही लक्ष रहा है।

असतो मा सद्गमय---असत से सत की ओर चल।

तमसो मा ज्योतिर्गमय-----अंध:कार से प्रकाश की ओर ले चल।

इन सभी बातों के विषय में दो दृष्टिकोणों में मतान्तर होने का भी कोई कारण नजर नहीं आता।

अब एक दृष्टिकोण हमारे दाहिनी ओर है तो दूसरा बाई ओर। हमारे लक्ष की ओर बढ़ने के लिए हमें किस ओर झुकना है, यही निश्चित करना है। इसीलिए चिंतन बढ़ा। इसीलिए दर्शन बने।

वेद विश्व का आदि साहित्य है। लगभग सभी भारतीय दर्शनों का मूल वेद एवं उपनिषद् हैं। वेदकालीन चिंतन हमने देखा। उपनिषदों में होनेवाली अध्यात्म चर्चा से भी हम परिचित हुए। जहाँ तक सांख्य दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा सिरे का भाववादी दर्शन वेदांत है, इनकी चर्चा हम अलग से करेंगे। इनमें जो संकल्पनाएं बनी हैं, दुनिया की अगली चिंतन यात्रा में उनसे मुलतः भिन्न कोई संकल्पनाएं नहीं बनीं। केवल सैकड़ों चिंतकों ने उनपर टिप्पणियां करने के लिए तर्क किए हैं।

वास्तविक दार्शनिक मतों की स्थापना 'तर्क' के बल पर ही हुई हैं। लेकिन भारतीय वैदिक दर्शनों में 'शब्द' या 'आप्त' वचन पर कुछ आवश्यकता से अधिक भर दिया गया।

काल के हिसाब से -

वैदिक काल--वेदों से लेकर उपनिषद् तक।

उत्तर वैदिक काल--वैदिक धर्म के विरोध का समय--चार्वाक , बौद्ध, जैन दर्शन का उदय और उभार।

दर्शन काल (रचना काल) ४०० विक्रम संवत्सर के पूर्व से २०० विक्रम सं. के पूर्व तक। (विक्रम सं. ई.वि.सन से ५७ वर्ष बड़ा है।)

वृत्ति काल: सूत्रों की शब्दावली इतनी अल्प और गूढ़ हैं कि व्याख्या के बिना उनको समझना सामान्यजन के लिए कठिन हैं । इस कारण ३०० वि.सं.से लेकर १५०० वि.सं.के बीच उनपर टिकाएं लिखी गईं।

कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध संशयवाद के विरोध में और उनके तर्कों का उत्तर देने के लिए, वैदिक मत की पुनर्स्थापना करने की दृष्टि से जो विचार मंथन हुआ उसमें से छह दर्शनों का उदय हुआ और बौद्ध प्रभाव कम हुआ।

भारतीय दर्शन

१) नास्तिक-वेदों पर विश्वास न रखने वाले--a) अभौतिकवादी- बौद्ध, जैन b) भौतिकवादी चार्वाक।

२) आस्तिक--@ वेदों के प्रमाणों में विश्वास करनेवाले।

a) वैदिक ग्रंथों पर आधारित -मीमांसा (कर्मकांड प्रधान); वेदांत (ज्ञानकांड प्रधान)।

b) स्वतन्त्र आधारवाले -----१) न्याय २) वैशेषिक ३) योग ४) सांख्य।

इसके बाद के महत्वपूर्ण ग्रन्थ --गीता और ब्रह्मसूत्र।

दर्शन में अंतर्भूत क्षेत्र

A) तत्त्व मीमांसा के आधार पर-

१) भौतिकवादी (**materialist**): भौतिक पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता।

मानसिक दशाओं की सत्ता भौतिक अस्तित्व का ही अति विकसित रूप। वे अस्तित्व से जुड़ी भी हो सकती हैं या कल्पना भी।

२) प्रत्ययवादी (**idealist**): सुख-दुःखादि मानसिक दशाएं या मानस मात्र की स्वतंत्र सत्ता । भौतिक पदार्थ केवल मानस सत्ता के प्रतीति मात्र हैं।

B) प्रमाण -मीमांसा के आधार पर ज्ञान ग्रहण की समर्थता।

C) तर्कशास्त्र: निगमात्मक (deductiv) --सामान्य से विशेष की खोज।

आगमनात्मक (inductive) -विशिष्ट दृष्टान्तों का अध्ययन कर सामान्य सिद्धांत की खोज।

D) आचारशास्त्र: १) आचार या कर्तव्य की मीमांसा २) सुख की प्राप्ति या कल्याण की उपलब्धि ३) मानव जीवन का लक्ष्य।

E) सौंदर्य मीमांसा --१) सौंदर्य -निर्णय a) किसी वस्तु के दर्शन से सुख-दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है। b) सौंदर्य की मनोवांछित व्याख्या।

२) व्यावहारिक सौंदर्य -सौंदर्य का कलारूप में परिवर्तन।

पहले-पहले दार्शनिक मत ईसा पूर्व सातवीं-छठी सदी के दौरान भारत के साथ-साथ यूनान, चीन आदि जगह भी जन्मे। दर्शन की उत्पत्ति आदिम सामुदायिक प्रणाली से वर्गीय दास प्रथावाले समाज में संक्रमण के समय हुई।

प्राचीन चीन और भारत में दार्शनिक तथा नैतिक मतों में आत्मशिक्षा, मन और उसके आवेगों पर नियंत्रण, मानसिक संतुलन, मनुष्य की पीड़ाओं से मुक्ति, आत्म परीक्षण तथा सुधार, सांसारिक भावावेग तथा वासना से मुक्ति आदि बातों पर जोर था।

तो उधर प्राचीन यूनान और रोम का दर्शन कुछ-कुछ उदीयमान वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर आकर ले रहा था। अर्थात् ऐसे ज्ञान के लिए आस्था के स्थान पर प्रमाण का महत्व अधिक था।

मनुष्य की इस प्रकृति के साथ अन्योन्यक्रियाओं में से चिंतन की दो धाराएं निकल पड़ीं। आध्यात्मवादी या जिसे प्रत्ययवादी कहा जाता है ऐसी और दूसरी भौतिकवादी।

आध्यात्मवादी धारा ने इस जगत से पार, सृष्टि से पार कोई तत्व ढूंढने का प्रयत्न किया जो सृष्टि के सारे नियमों-बंधनों से मुक्त होगा। इस प्रत्ययवादी धारा में पायथागोरस और प्लेटो जैसे दार्शनिक पैदा हुए (ईसा पू. ५७० से ईसा पू. ५०० तक)। एरिस्टॉटल भी प्रत्ययवादी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं था।

तो दूसरी ओर भौतिकवाद ने इस जगत से पार किसी तत्व के होने की बात पूरी तरह खारिज कर दी। इस धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं डेमोक्रीटस (ईसा पू. ४६०-३७०)।

फिर सातवीं सदी में इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव के बाद इस्लामी दर्शन अवतरित हुआ । वह अरब देशों में तेजी से विकसित होने लगा । अरबी चिंतकों की कृतियों ने मध्ययुगीन यूरोपीय दर्शन पर जबरदस्त प्रभाव डाला। खासकर स्पेन के चिंतकों ने।

लेकिन इसी मध्ययुगीन काल में, लगभग पांचवीं से चौदहवीं सदी तक ईसाई दर्शन, ईश्वर मीमांसा में ही डूबा रहा।

चौदहवीं-पंद्रहवीं सदियों में एक नया सामाजिक वर्ग, जिसे बुर्जवा वर्ग कहा जाता है, का उदय हुआ। इसके पीछे की चाहत थी सत्ताकांक्षा। इस नए वर्ग ने एक नए संस्कृति को भी जन्म दिया। यही बाद में पुनर्जागरण काल की संस्कृति के तौर पर जानी गई । इस संस्कृति का, उस समय विद्यमान सामंतवाद तथा धर्म को प्रतिष्ठा दिलानेवाली वैचारिक धारा के साथ संघर्ष हुआ और पुरानी धारा नष्ट होती चली गई । ईसाई चिंतन ने मनुष्य को एक लाचार याचक बना दिया था। उससे उभरते हुए इस पुनर्जागरण काल ने मनुष्य को विश्वास दिलाया कि वही अपने आप का भाग्यविधाता है।

एक तरफ वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि हो रही थी । उसके आधार पर तंत्रज्ञान विकसित हो रहा था। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में प्राकृतिक विज्ञानों का और विशेष रूप से भौतिकी, यांत्रिकी और खगोलविद्या का तूफानी गति से विकास हुआ, साथ-साथ भौतिकवाद का भी। लेकिन वह भौतिकवाद यांत्रिक स्वरूप का था।

माक्स के पहले यूरोप में दर्शन का चरम विकास, जर्मन क्लासिकी दर्शन में, मुख्यतः कांट (१७२४-१८०४) और हेगेल द्वारा किया गया लेकिन ये दोनों प्रत्ययवादी ही थे । हेगेल के भूतपूर्व शिष्य लुडविक फायरबाख (ईस.१८०४-१८७२) ने बाद में भौतिकवाद तो अपना लिया । लेकिन उनका यह भौतिकवाद द्वंद्ववाद विरोधी था । समाज तथा मानव इतिहास की दृष्टि से वे प्रत्ययवादी ही थे।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में विज्ञान, यांत्रिकी भावना से ही परिपूर्ण था।

आगे हेगेल का द्वंद्ववाद और फायरबाख का भौतिकवाद इनको शास्त्रीय ढंग से मिलाकर माक्स और एंगेल्स ने अपने क्रांतिकारी दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद को रूप दिया।

इतना ही नहीं तो समाज विकास के नियम ढूँढ निकाले । मनुष्य मुक्ति और सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए मनुष्य की प्रकृति का रूपांतरण ही नहीं तो आमूल सामाजिक परिवर्तन भी आवश्यक है यह दिखाया।

दर्शन के बुनियादी सवाल

१) भौतिक जगत या चिंतन-चेतना इनमें प्राथमिक कौन है?

भौतिकवाद -भूतद्रव्य प्राथमिक और निर्धारक है तो चेतना द्वितीयक।

प्रत्ययवाद -विचार, चेतना प्राथमिक, भूतद्रव्य दुय्यम।

२) क्या विश्व संज्ञेय है और अगर है तो किस सीमातक?

दर्शन का जो विभाग संज्ञान की प्रक्रिया तथा प्राप्त ज्ञान को परखने के तरीकों का अध्ययन करता है, उसे ज्ञान का सिद्धांत या ज्ञानमीमांसा कहते हैं।

द्वैतवाद -

लेकिन जब भौतिक जगत की वास्तविकता को नकारना असंभव हो जाता है तो एक मत ऐसा भी उभरा , जो विश्व में दो मूल उद्गमों-आत्मिक और भौतिक को मानता है । द्वैतवाद का क्लासिक उदाहरण है सत्रहवीं सदी के एक फ्रांसिसी चिंतक रेने देकार्त का दर्शन । इसके अनुसार विश्व में दो प्राथमिक पदार्थ होते हैं - भूतद्रव्य का देशिक पदार्थ और मन का चिंतनशील पदार्थ अर्थात् दैहिक और आत्मिक । लेकिन अपने अंतिम निष्कर्ष में देकार्त इस नतीजे पर पहुंचे कि मन और भूतद्रव्य दोनों ही एक और अधिक सामान्य प्राथमिक उद्गम 'ईश्वर' में आकर मिल सकते हैं।

भारतीय दर्शन में भी प्रकृति और ईश्वर को आदि माननेवाले दार्शनिक मत हैं । उदा .स्वामी दयानन्द जी का मत।

एकतत्त्ववाद --द्वैतवाद विरोधी --यह प्रत्ययवादी हो सकता है या भौतिकवादी भी।

वस्तुगत प्रत्ययवाद

भूतद्रव्य मनुष्य की चेतना से परे तथा उससे स्वतंत्र रूप से विद्यमान है लेकिन वह दुय्यम है।

- दुनिया मन या चेतना पर आधारित है । फिर भी वे दलील देते हैं कि मनुष्य की चेतना निर्दोष नहीं है।

एक अन्य प्रकार की तर्कबुद्धि भी है-निरपेक्ष और अलौकिक -जो मनुष्य के पैदा होने से पहले अस्तित्व में थी और जो चिरंतन रूप में विद्यमान रहेगी । इस सर्वोच्च तर्कबुद्धि के लिए प्रकृति के सब रहस्य और मानव की सारी नियतियाँ गोचर हैं । मानव मन उस दैवी तर्कबुद्धि का महज एक कण, एक विवर्त परावर्तन मात्र है।

इस तरह निरपेक्ष, दैवी तर्कबुद्धि मनुष्य से स्वतंत्र, यानि वस्तुगत रूप से अस्तित्वमान होती है, जबकि मनुष्य स्वयं तथा सारा विश्व इस अलौकिक चित के क्रियाकलाप का परिणाम है। वस्तुगत प्रत्यवाद का सार यही है।

आत्मगत प्रत्ययवाद:

यहाँ भी मन या तर्कबुद्धि उस सबका आधार है जो अस्तित्व में है। लेकिन यहाँ एक अलौकिक, निरपेक्ष, दैवी तर्कबुद्धि का कोई जिक्र नहीं है चूँकि आत्मगत प्रत्ययवादी यह मानता है कि मनुष्य के गिर्द सबकुछ उसके अपने मन का उत्पाद है, याने उसका अस्तित्व आत्मगत है। जब सवेरा होने पर वह जागता है तो हर चीज (उसके सो जाने पर फिर से गायब होने के लिए) प्रकट हो जाने के लिए है। उदा. अठाहरवीं सदी के अंग्रेज दार्शनिक जॉर्ज बर्कले - "विद्यमान होने का अर्थ है अवबोधित होना" और भौतिक जगत के अस्तित्व से ही इंकार।

जो आत्मगत प्रत्ययवादी ऐसे पराकोटिक निष्कर्षों पर पहुँचते हैं और यह मानते हैं कि वास्तविकता में केवल मानवी चिंतन का अस्तित्व है, उनको अहंमात्रवादी कहा जाता है।

लेकिन ---

कांट का ख्याल था कि विश्व वस्तुतः विद्यमान अर्थात् यह मात्र हमारी कल्पना का फल नहीं है। लेकिन उनका दावा था, हम उसके बारे में कुछ नहीं जानते। हम केवल अपने संवेदों के विषय में कह सकते हैं, न कि उसके बारे में, जिसके बारे में वे हैं।

अगर उपरोक्त बातों को वास्तव मान लें तो मानव जाति के विकास को क्या कहेंगे?

विश्व को जानने की सम्भावना -

वस्तुगत और आत्मगत दोनों ही किस्म के प्रत्ययवादियों की मान्यता है कि विश्व ज्ञेय है? लेकिन कौनसा विश्व? वह असली विश्व जिसमें हम रहते हैं - वह सुहाना, महान और व्याघातों से परिपूर्ण जटिल विश्व? जी नहीं। उनका अपना "विश्व" प्रत्ययों और संवेदनाओं का विश्व है, जिसे खुद दार्शनिकों ने गढ़ा है।

वस्तुगत प्रत्ययवादियों के लिए वह शुद्ध प्रत्ययों का विश्व है तो आत्मगत प्रत्ययवादियों के लिए वह स्व-संज्ञान का।

समस्याओं को हल करने की विफलता कभी-कभी मनुष्य को ऐसी स्थिति में ले आती है जहाँ वह कल्पना में उस विश्व का पुनर्निर्माण करता है, एक ऐसी प्रत्यायिक दुनिया बनाता है, जिसमें वास्तविक दुनिया को लीन कर दिया जाए। लेकिन इतिहास साक्षी है कि पिछले दो हजार

सालों में दुनिया की समस्याएं सुलझाने में यह नुस्खा काम नहीं आया । इसके विरोधी विचारों को आधार बनाकर ही दुनिया बेहतर बनी है।

मोटे तौर पर देखा जाए तो अध्यात्म ने शुरू से आज तक , अपने पूरे इतिहास में प्रश्नों के एक ही स्वरूप के समुच्चय का हल ढूंढने का प्रयत्न किया है। विज्ञान ने और वैज्ञानिक दृष्टि ने मनुष्य के जीवन को जो रूप दिया है उसकी तुलना में अध्यात्म अपने ही उठाए हुए प्रश्नों का समाधान दे नहीं पाया। अन्यथा दुनिया की स्थिति में उस दिशा में भी सुधार हुआ होता । इसका कारण है कि उसके प्रश्नों का आधार ही अवास्तविक है । इस कारण उनको हल नहीं किया जा सकता। हर युग में अध्यात्म उन्हीं प्रश्नों की चर्चा नए रूप में प्रस्तुतीकरण के साथ करता रहता है।

किसी ने कहा है कि- सॉक्रेटीस का बलिदान , अन्धविश्वास और देवताओं के प्रति संघर्ष और विश्व की नियति के प्रति आशावाद का प्रतीक था।

लेकिन दर्शन ने ही उस समय विश्व के बारे में बिखरी हुई जानकारी को एक अविभक्त सातत्य में पिरोने का काम किया और विज्ञान के लिए एक सुदृढ़, सैद्धांतिक आधार तैयार किया।

योग दर्शन

'योग' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है । साधारण रूप में योग का अर्थ है- जोड़ना। योग का अर्थ--समाधी--आत्मा का परमात्मा से युक्त होना।

योग दर्शन में 'योग' का अर्थ लिया गया है 'प्रयत्न'। भारतीय आस्तिक दर्शनों में योग दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो मानव जीवन में अध्यात्म , तर्कशास्त्र को महत्व न देते हुए , जीवन के उत्थान के लिए मानव शरीर के व्यावहारिक , प्रयोगात्मक पक्ष पर जोर देता है। इसके सुझाये हुए मार्ग में चित्त और इन्द्रियों को वश में करना है । कामना, वासना, आसक्ति आदि का त्याग है। यह शरीर और चित्त की क्रिया का अभ्यास है। क्लेशों से मुक्ति पाना ही योग दर्शन का उद्देश्य है। योग दर्शन वास्तव में मनोविज्ञान ही है । इसमें सबसे महत्वपूर्ण है 'चित्त'। चित्त की वृत्तियों को रोकना ही 'योग' है। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन ---

अन्य भारतीय दर्शनों की भांति योग दर्शन में भी समस्त इच्छाओं का कारण वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान है । शरीर इसी अज्ञान के कारण है । इसका समर्थक चित्त है और इसका विषय सांसारिक उपभोग है। अविद्या दूर करने का साधन विवेक , ज्ञान-मानसिक क्रियाओं का दमन-योग के द्वारा चित्त की एकाग्रता है । इससे आत्मा अपने आपको शुद्ध रूप में पहचान लेता है।

पूर्व जन्म को इसमें स्वीकृति है।

योग दर्शन में मोक्ष के लिए 'कैवल्य' शब्द का प्रयोग हुआ है।

'ॐ' यह ईश्वर का वाचक है । ॐ जप से चित्त एकाग्र होता है । ईश्वर का अस्तित्व शास्त्र सम्मत होने से, सिद्ध है।

पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त करना अविद्या का काम है।

सुख-दुःख, मनुष्य के कर्मों के ही फल हैं।

सांख्य और योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है । वास्तव में सांख्य के सैद्धांतिक रूप का व्यावहारिक प्रयोग ही योग है । लेकिन योग दर्शन में सांख्य के पच्चीस तत्वों के साथ एक छब्बीसवाँ तत्व जोड़ दिया गया है - 'ईश्वर'।

योग यह भारतीय दर्शन की एक अत्यंत प्राचीन शाखा है । वैदिक साहित्य में इसके तत्व बिखरे हुए हैं। लेकिन इसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय पतंजलि को है । याज्ञवल्क स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता है । पतंजलि योग के प्रवर्तक न होकर प्रचारक है । बुद्ध धर्म के पाली त्रिपिटकों तथा जैन धर्म के संस्कृत ग्रंथों में योग का विवेचन मिलता है । तंत्रों में तो योग का विशिष्ट स्थान है। गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय को तो 'योगी सम्प्रदाय' के नाम से ही पुकारते हैं। नाथपंथी 'हठयोग' के परमाचार्य माने जाते हैं । योग के चार प्रकार हैं - मन्त्रयोग , लययोग, हठयोग और राजयोग। पतंजलि के योग को 'राजयोग' माना जाता है। परंपरा के अनुसार योगसूत्र के रचयिता और व्याकरण महाभाष्य के निर्माता पतंजलि एक ही हैं। तो जैकोबी के अनुसार दोनों व्यक्ति एक नहीं। योगसूत्र की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई मानी जाती है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी क्रियात्मक योग का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है।

कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि योग का प्रादुर्भाव आदिम समाज के लोगों की -जादू-टोने की क्रियाओं से हुआ है । जादू-टोना करनेवाले मांत्रिक को स्वयं को उन्माद की एक चरम स्थिति में लाना होता था । उसे यह अनुभव करना होता था कि उसमें एक असाधारण अतिमानवीय शक्ति आ गई है जिसकी सहायता से वह प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण करने जा रहा है। ऐसी शक्ति कोई भौतिक शक्ति तो हो नहीं सकती। यह केवल मनोवैज्ञानिक अनुभूति ही हो सकती है। इन विभिन्न शारीरिक क्रियाओं का मूल उद्देश्य प्रकृति को अपने नियंत्रण में लाना था । योग का भी यह आधारभूत विश्वास है कि 'अति प्राकृतिक' या दैवी शक्तियाँ प्राप्त करना संभव हैं और बड़े अद्भुत ढंग से प्रकृति के साधारण नियमों को बदला जा सकता है । मानव में मादक पदार्थों के सेवन से भी असाधारण हर्षोन्माद की स्थिति में पहुँचने की प्रवृत्ति रही है । आज के

विज्ञान के परिप्रेक्ष में, ऐसी स्थिति मानसिक विकार से भी आ सकती है। शुरु से ही लोग ऐसी असामान्य स्थिति में आने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। योग उन सबका परिष्कृत रूप है।

योग में बताया गया है कि किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानानुभूति करानेवाले पदार्थों से हटाकर निष्क्रिय बनाया जा सकता है। आगे चलकर मन की क्रिया जिसके सभी कार्य बाह्य जगत के प्रभावों पर निर्भर हैं, रोक लिए जाते हैं। जब ध्यान लगाने की क्षमता इतनी उच्च हो जाती है कि बाह्य वस्तुओं की विचारों की ओर मन का भटकना बंद हो जाता है तब जीव भौतिक जगत से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार भौतिक जगत की सत्यता किसी न किसी प्रकार चेतना से लुप्त हो जाती है। यहाँ इन्द्रिय ज्ञान शून्यता तथा संवेदनहीनता की स्थिति प्राप्त करना होता था जो सामान्य जीवन से उच्च स्थिति मानी जाती थी। इस क्रिया का नाम योग है। यह एक असाधारण स्नायविक आनंदातिरेक की स्थिति होती है।

योगवस्तु के जिन हिस्सों में ईश्वर का प्रतिपादन हुआ है, वे एकदूसरे से असम्बद्ध हैं और वास्तव में योगदर्शन की विषयवस्तु तथा लक्ष के ठीक विरुद्ध हैं।

ईश्वर न तो विश्व की निर्मिति करता है, न सञ्चालन। वह मनुष्यों को उनके कर्मों के अनुसार दंड भी नहीं देता। कम से कम प्राचीन योग, ईश्वर में विलीन होना अपना लक्ष नहीं मानता।

फिर ईश्वर संकल्पना की आवश्यकता ही क्यों है? लेकिन अब ईश्वर का अस्तित्व माना तो इधर-उधर से उसकी उपयोगिता भी बतानी पड़ेगी। तो उसे इस तरह माना गया है- ईश्वर अपनी करुणा दिखाकर मनुष्य की सहायता करता है और मनुष्य उसके प्रति पूरी आस्था रखता है ताकि मोक्षप्राप्ति में आनेवाली बाधाएं दूर हो।

न्याय

ईश्वर, न्याय दर्शन का एक मौलिक तत्व है। ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। ईश्वर की सत्ता का प्रमाण आस वचन भी है।

संसार के प्राणियों के भाग्य में जो अंतर दिखता है उसका कारण हैं हमारे कर्म। इस कारण न्याय पाप-पुण्य को भी मानता है। यह 'अदृष्ट' है। इसी अदृष्ट के द्वारा कर्म के फल का उदय होता है। लेकिन अदृष्ट स्वयं जड़ पदार्थ है, उसमें फल देने की योग्यता नहीं है।

महर्षि कणाद 'मैं हूँ' इस आत्मप्रत्यक्ष प्रत्यय के आधार पर आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभवगम्य मानते हैं। आत्मा अनेक हैं। इस दर्शन के अनुसार चैतन्य, आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा में चैतन्य का संचार तभी होता है जब उसका मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ संपर्क होता है। कुछ नैयायिक ऐसा मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है।

इस कड़ियों में हम मन तक पहुंचकर भी रुक सकते हैं। मनोभावों की अनुभूति के पार आत्मा की संकल्पना का क्या प्रयोजन है?

न्याय दर्शन के संसार रचना सम्बन्धी विचार परमाणुवाद पर आधारित हैं।

न्याय का लक्ष्य यही है कि प्राणी दुःखबहुल संसार से सदा के लिए मुक्ति पा ले। यह संभव है ज्ञान के द्वारा। "नास्तिकता को पापात्मिका प्रवृत्ति बताया गया है"। बुरी प्रवृत्तियों से अपने आपको दूर करना है, सांसारिक इच्छाओं का प्रभाव समाप्त करना है।

#वैसे तो भारतीय दर्शनों में यह आम सहमति है कि बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है।

साधारणतः प्रत्यक्ष ज्ञान को यथार्थ समझा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को झूठा नहीं समझा जाता। इस ज्ञान के यथार्थ के विषय में कोई संदेह नहीं होता। अर्थात् प्रत्यक्ष एक असंदिग्ध ज्ञान है, जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है और यथार्थ है। लेकिन -

इन्द्रिय संयोग के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। जैसे अलौकिक या योगज ज्ञान। सुख-दुःख आदि विषयों का ज्ञान भी इन्द्रिय संयोग के बिना होता है। अतः नैयायिक प्रत्यक्ष ज्ञान को 'साक्षात् प्रतीति' कहकर परिभाषित करते हैं।

#जल्प: वादी-प्रतिवादी के कोरे वाद-विवाद को, जिसका उद्देश्य यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, जल्प कहते हैं।

#किसी भी पदार्थ का मूल्य कर्ता के लिए उपयोगी होने के नाते ही आँका जाता है।

न्याय के तर्क प्रणाली के विकसित रूप को देखते हुए न्यायदर्शन को निश्चित ही भारतीय तर्कशास्त्र (indian logic) का आधारभूत विज्ञान माना जाता है। इसकी महत्वपूर्ण बात है, इसकी शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति।

जन सामान्य में न्याय का अर्थ है, "नियमानुसार व्यवहार करना" (नियमन ईयते)

न्याय विद्या को तर्कशास्त्र , आन्वीक्षिकी भी कहते हैं । आन्वीक्षिकी का अर्थ , युक्तिपूर्वक आलोचना है। इसका विशेष सम्बन्ध तर्क-विज्ञान तथा प्रमाण विज्ञान से है। वात्सायन ने कहा है-

"प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् न्याय": अर्थात् प्रमाणों द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है।

मूल ग्रन्थ: न्यायसूत्र-प्रणेता गौतम ऋषि । न्यायसूत्र की विभिन्न टीकाओं में न्यायसूत्र के रचयिता का नाम अक्षपाद बताया गया है । कई लोग दोनों को एक ही मानते हैं । गौतम का जन्मस्थान बिहार के मिथिला में कमतौल के पास बताया जाता है । लगभग ईस. पूर्व ६०० वर्ष का समय, इस प्राचीन न्याय दर्शन का आरम्भ माना जाता है।

नव्यन्याय: इसका आरम्भ बारहवीं सदी के गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' से हुआ। इसके प्रचार का आरम्भ स्थान भी मिथिला ही है। नव्यन्याय के उत्थान और प्रचार के बाद ही न्याय और वैशेषिक एकसाथ सम्मिलित हो गए जिसे न्यायवैशेषिक मत कहते हैं।

वैशेषिक

वैशेषिक के प्रवर्तक महर्षि कणाद है । कहा जाता है कि वे इतने संतोषी थे कि खेतों से चुने हुए कणों के सहारे ही अपना जीवनयापन करते थे । इसलिए उनका उपनाम पड़ा कणाद । उनका वास्तविक नाम उलूक था । इसलिए यह दर्शन 'औलूक्य दर्शन' के नाम से भी प्रसिद्ध है । कुछ लोगों का विचार है कि कणाद के पिता का नाम उलूक था । प्रशस्तपाद इस सूत्र के रचयिता का वास्तव नाम 'काश्यप' मानते हैं

जैन और बौद्ध ग्रंथों में वैशेषिक दर्शन का उल्लेख मिलता है अतः कुछ विद्वान् इस दर्शन को जैन और बौद्ध दर्शन से पुरातन मानते हैं।

इस दर्शन पर उपलब्ध , सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है कणाद का वैशेषिक सूत्र । इसमें दस अध्याय हैं। प्रत्येक दो विभागों में विभक्त है। इसमें कुल ३७० सूक्त हैं।

वैशेषिक मत न्याय के समान ही है । आत्मा नित्य, सर्वव्यापी और चैतन्य का आधार है। उसका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है।

वैशेषिक ने ईश्वर को अत्यधिक महत्त्व दिया और संसार तथा जीवात्माओं से परे बताया । इसने सर्वत्र 'अदृष्ट' का साम्राज्य बताया। यदि हम कर्मवाद को मानते हैं तो 'अदृष्टवाद' को मानना ही पड़ेगा।

वैशेषिक के अनुसार मोक्ष की अवस्था को सुख की अवस्था नहीं समझा जा सकता । फिर यह अवस्था आपके दिमाग में कौनसा चित्र उपस्थित करती है?

'परमाणुवाद': परमाणुवाद की स्थापना वैशेषिक ने उस समय की थी जब दुनिया में वैज्ञानिक परीक्षण का साधन उपलब्ध नहीं था । आज की तुलना में यह परमाणुवाद भले ही अपरिष्कृत हो लेकिन यह ध्यान में रखना होगा कि केवल तर्क के आधार पर भूतद्रव्य के परमाणुओं की कल्पना की गई है। दूसरी बात ग्रीस के परमाणुवाद और वैशेषिक के परमाणुवाद में अंतर है।

मीमांसा

मीमांसा का अर्थ है: किसी समस्या का तर्क के द्वारा निर्णय । कई प्रसंगों में, किसी वैदिक तथ्य पर मतान्तर होने पर ऋषियों ने यथार्थ का निरूपण करने के लिए , तर्क का ही आधार लिया है।

मीमांसा के चिंतन का प्रमुख विषय 'श्रुति' या वेद है। वेदों में जिस कमर्काण्ड का वर्णन है उसे ही मीमांसा धर्म मानता है। वास्तव में धर्म की व्याख्या है जिसमें इस लोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो । यह मीमांसा भी मानता है । मीमांसा के अनुसार वेदों का विशेष महत्त्व उनके कर्मकांडों के ही कारण है । अतः वेदों की प्रमाणिकता को स्थापित करना भी मीमांसा का प्रमुख कार्य था । लेकिन ऐसा करने के लिए 'शब्द प्रामाण्य' पर जोर देना आवश्यक था । इसी कारण उसने वेदों को अपौरुषेय कहा। वेद न तो मनुष्यों द्वारा न ईश्वर द्वारा रचे गए हैं। अतः उन्हें अपौरुषेय कहा जाता है।

अधिकांश आस्तिक मतों के अनुसार वेदों की प्रमाणिकता इस कारण है कि वे ईश्वर द्वारा कृत हैं।

'शब्द नित्यत्व' की स्थापना मीमांसकों का प्रमुख सिद्धांत है।

मीमांसा के अनुसार वेदवचन और आसवचन में अंतर है। आसवचन द्वारा मिलनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से भी मिल सकता है । लेकिन वेदों के विषय में ऐसा नहीं है । वे स्वयंभू हैं, किसी प्रमाण पर निर्भर नहीं।

वेद से जो वस्तु प्रतिपादित होती है , वह कर्मरूप ही होती है , ज्ञानरूप नहीं। ज्ञान का उपयोग कर्म करने में ही है । यह विचार बहुत व्यावहारिक है । ज्ञान अगर कर्म करने को प्रोत्साहित करता है तभी उसकी सार्थकता है । वास्तविक दृष्टि से , नैतिक दृष्टि से भी कर्मों का महत्त्व अधिक है। सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञानुष्ठान ही है। मन्त्रों के त्रुटिहीन तथा शुद्ध उच्चारण पर विशेष बल है। कई तरह के यज्ञ करने का विधान है।

मीमांसा का यह कर्मकांड पर विचार आगे एक तरह का 'निष्काम कर्म' बन जाता है। यज्ञ करने का मुख्य उद्देश्य पूजा या देवता को संतुष्ट करना नहीं है बल्कि अपनी आत्मा को शुद्ध करना है (पंचिका नामक मीमांसा ग्रन्थ) । लेकिन मीमांसा का 'निष्काम कर्म' और गीता के 'निष्काम कर्म' में अंतर है। क्योंकि गीता के निष्काम कर्म में सारे फलों की इच्छा छोड़कर, कर्म को ईश्वर को समर्पित करना है तो मीमांसा कर्म, कर्तव्य के लिए कर्तव्य है। (अतः पीछे फल पाने की मंशा को कैसे अमान्य किया जा सकता है?)

शबर जैसे मीमांसक का कहना है कि प्याऊ खोलना पुण्य का काम, परोपकार के लिए होते हैं इसलिए अच्छे होते हैं। फिर भी वे धर्म नहीं हैं। यहाँ नीतिविचार, लौकिक दुनिया में विचरण करते-करते अलौकिक दुनिया में पहुँच गया। यहाँ धर्म का अर्थ क्या है यह मीमांसाकार ही समझ सकता है।

जैसा कि ऊपर कहाँ गया है मीमांसा दर्शन में ईश्वर की सत्ता का विवेचन नहीं है। इस कारण साधारण तौर पर इसे अनीश्वरवादी दर्शन माना जाता है। लेकिन परवर्ती मीमांसकारों ने कर्मफल प्रदाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लिया है। जब यज्ञ भी कई तरह के होंगे तो पीछे-पीछे एक की जगह कई देवता भी अवतरित होंगे ही।

मीमांसा के अनुसार सुख, लक्ष तो है लेकिन लौकिक सुख नहीं, पारलौकिक सुख। पारलौकिक सुख पाने के लिए हमें वे कर्म करने चाहिए जो वेद विहित हैं। उनके लिए सामाजिक नैतिकता, जीवन का सर्वोच्च आदर्श नहीं है।

मोक्ष- प्राचीन मीमांसकों के अनुसार स्वर्ग (नित्य तथा निरतिशय आनंद की प्राप्ति) ही जीवन का लक्ष था। इसीलिए कहा गया 'स्वर्ग कामो यजेत'। लेकिन अन्य दर्शनों की भांति इनका लक्ष भी 'मोक्ष' की ओर खिसक गया। उनके अनुसार भी अगर सकाम भाव से कर्म किए जाए तो फलस्वरूप बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जब मनुष्य समझ लेता है कि समस्त सांसारिक कर्म, सुख-दुःख से युक्त होते हैं तो वह वासनाओं का दमन तो करता ही है, उन कर्मों से भी विरक्त होता है जिनसे सुख प्राप्ति होती है। निष्काम कर्म करने से तथा आत्मज्ञान से, संचित संस्कार लुप्त हो जाते हैं। तब मनुष्य भवबंधन से मुक्त हो जाता है। अब मीमांसा के अनुसार मोक्षावस्था, वह अवस्था है जिसमें आत्मा सभी सुख-दुःखों से परे अपने यथार्थ रूप में विद्यमान रहती है।

आत्मा: प्रत्येक जीव में आत्मा अलग-अलग होती है। वह नित्य अविनाशी द्रव्य है। लेकिन चैतन्य आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह विशेष अवस्था में उत्पन्न होनेवाला एक औपाधिक गुण है।

मीमांसा में वर्णित द्रव्यों में से एक मन है। मन अंतरिंद्रिय है तथा भौतिक है।

भ्रम और सत्य: मीमांसक भाष्यकार प्रभाकर के अनुसार प्रत्येक ज्ञान सत्य होता है, कोई ज्ञान असत्य नहीं। रस्सी को सांप समझने जैसी स्थिति में (जिसे हम भ्रम कहते हैं) दो तरह के ज्ञानों का सम्मिश्रण पाया जाता है। एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान और पूर्व काल में प्रत्यक्ष देखे सांप की स्मृति, दोनों भी सत्य हैं। वस्तुस्थिति के मूल में निहित सत्य को समझ कर भ्रम की सत्ता का समाधान करके उसे अस्वीकार कर दिया जाता है | यही प्रभाकर का 'अख्यातिवाद' है।

मीमांसा जगत को नित्य भी मानती है और सत्य भी, आभास नहीं। इस दार्शनिक मत के अनुसार सृष्टि, कर्मों के अनुसार होती है और कर्म पदार्थों के सन्दर्भ में किए जाते हैं। मीमांसा के अनुसार 'कर्म के नियम' के अनुसार ही संसार की सृष्टि होती है।

मीमांसा के अनुसार इस लोक में किए हुए कर्म एक अदृष्ट शक्ति उत्पन्न करते हैं जिसे 'अपूर्व' कहा गया है। यह अपूर्व शक्ति, कर्म का फल भोगने की शक्ति पाकर फलित होती है | कर्मफल के व्यापक नियम के अनुसार वैदिक या लौकिक सभी कर्मों के फल संचित होते हैं। कर्मों के फल ईश्वर इच्छा पर नहीं छोड़े गए हैं | इस संसार का निर्माण जीवात्माओं को कर्मफल का भोग कराने के उद्देश्य से हुआ है | इसी कारण उनका प्रलय के सिद्धांत पर भी विश्वास नहीं है | संसार नाना रूप और अनादि-अनंत है। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते और विनाश को प्राप्त होते हैं।

अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग-नर्क आदि अतीन्द्रिय सत्ताओं को, मीमांसा मानती है।

वैदिक यज्ञ शुरू में बहुत सरल थे। इंद्रा, अग्नि, वरुण, सूर्य आदि देवताओं की स्तुति और आहुति के द्वारा संतुष्ट करने के लिए यज्ञ किए जाते थे। इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट को दूर रखना। धीरे-धीरे ब्राह्मण काल में कर्मकांडों का स्वरूप बहुत जटिल होता गया, यह ध्यान में लेना चाहिए।

मीमांसा का मुख्य ग्रन्थ 'जैमिनी सूत्र' है। इसमें १६ अध्याय तथा ३१८१ सूत्र हैं | लेकिन प्रथम बारह अध्याय ही महत्वपूर्ण हैं। इनका समय ३०० विक्रमपूर्व माना जाता है। इसपर भाष्य है शबर स्वामी का 'शाबर भाष्य'। बादके भाष्यकारों में उल्लेखनीय हैं कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, कुमारिल भट्ट के शिष्य मंडन मिश्र। कुमारिल भट्ट का समय शंकराचार्य के पूर्व का है।

यहाँ 'बृहती' नामक ग्रन्थ का एक वाक्य उद्धृत करना अप्रस्तुत नहीं होगा। - "जो ब्रह्म को जानते हैं, वे यदि इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह सब कुछ जो ज्ञात है, मिथ्या है और जो अज्ञात है वह सत्य है, तो मैं झुककर उससे बिदा लेता हूँ।

वाद-विवेचन

अध्यात्मवाद- दर्शनशास्त्र में पाया जानेवाला एक धार्मिक सिद्धांत जो आत्मा को संसार का आधार और मूलतत्त्व मानता है। इसका पर्यायवाची शब्द है आदर्शवाद या विचारवाद।

अज्ञेयवाद (**Agnosticism**): एक मत जो विश्व को जानने की सम्भावना को अंशतः या पूर्णतः अस्वीकार करता है।

अधिभूतवाद (**Metaphysics**): चिंतन की एक अवैज्ञानिक विधि , जो द्वंद्ववाद की विरोधी है। अधिभूतवाद वस्तुओं और घटनाओं को अपरिवर्तनीय तथा एकदूसरे के स्वाधीन मानता है।

अनीश्वरवाद: दार्शनिक विचारों की एक प्रणाली , जो देवताओं, आत्माओं और परलोक को अस्वीकार करती है और हर प्रकार के धर्म का परित्याग करती है।

अस्तित्ववाद (**Existentialism**): समसामयिक बुर्जवा दर्शन में एक आत्मगत , प्रत्ययवादी धारा , जिसके प्रतिपादक मनुष्य को समाज के तथा दार्शनिक ज्ञान को विज्ञान के विरुद्ध ला खड़ा कर देते हैं।

अहंमात्रवाद: (**Solipsism**) एक आत्मगत प्रत्ययवादी मत जिसके अनुसार केवल स्व (अहम्) का अस्तित्व है, जबकि वस्तुगत विश्व व्यक्ति के मात्र मन में विद्यमान होता है।

आधुनिकवाद: उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में रोमन कैथोलिक धर्म संप्रदाय में पैदा होनेवाला रुझान। इस रुझान में धर्म सम्बन्धी सूत्रों को समकालीन विज्ञान से जोड़ने का प्रयास किया गया था । पॉप पायस x ने सितम्बर १९०७ में धार्मिक आदेश जारी करके इस रुझान की निंदा की थी।

एकत्ववाद: (एकतत्त्ववाद- **Monism**): एक मत जिसमें यह माना जाता है कि सम्पूर्ण अस्तित्वमान जगत का अन्तर्निहित मूल केवल एक है-या तो भूतद्रव्य या फिर आत्मा।

गतिवाद: (**Dialectics**) भौतिक तत्त्व लगातार गतिमान रहता है। उसमें लगातार परिवर्तन होता रहता है , विकास होता रहता है । वह कभी स्थिर नहीं होता । निचली अवस्था से लगातार उच्च अवस्था में जाते रहता है।

एंगेल्स के अनुसार , दुनिया को , तैयार वस्तुओं एक रचना के तौर पर न देखते हुए प्रक्रियाओं की एक अखंड श्रृंखला के रूप में देखना चाहिए।

यह हुआ गतिवाद।

जड़वाद: वस्तुओं के सामान्य सिद्धांत (**Ontology**), जो वस्तु संशोधन में सहायता करते हैं, अर्थात् विज्ञान के लिए आवश्यक हैं |, वे ज्ञान से सम्बंधित सिद्धांत प्रमीतिशास्त्र (**Epistimology**) है। यही जड़वाद है।

इसका प्रथम सिद्धांत है: संवेद्य वस्तु या विषय यहीं जगत है | जगत सत्य है, मिथ्या, माया या काल्पनिक नहीं है।

"जड़वाद ने एक तरह से भारत का हित ही किया है , चूँकि इसके कारण हरेक के लिए जीवन का मार्ग खुला हुआ है।" -स्वामी विवेकानंद (विवेकानंद ग्रंथावली खंड पांच पृ .१०४-१०९)|

टोटमवाद या प्रतीक पूजावाद

मॉर्गन के अनुसार अमेरिका के सारे आदिवासी क्षेत्रों के कबीलों के नाम किसी न किसी जानवर या निर्जीव वस्तु के नाम पर रखे गए हैं और कभी भी किसी व्यक्ति के नाम पर नहीं | समाज की यह प्रारंभिक स्थिति थी | जानवरों या पौधों के नाम रखने की यह प्रथा प्रतीक पूजावाद, या टोटमवाद कहलाती है | टोटम शब्द अमेरिका के 'आजिशवा' जनजाति की बोली के एक शब्द के आधार पर बना है। उस बोली में टोटम शब्द का उच्चारण बहुधा 'डोडेम' किया जाता है और उसका अर्थ है प्रतीक या कबीले का परिचय चिन्ह | 'टोटमवाद' आस्ट्रेलिया की अल्पविकसित शिकारी जनजातियों में अब भी पूर्ण रूप में विद्यमान है तो अमेरिका , मेलानेशिया, अफ्रीका, भारत आदि स्थानों पर यह अपभ्रष्ट रूप में दिखाई देता है।

जनजाति में सम्मिलित प्रत्येक कबीले का सम्बन्ध किसी पशु या पौधे से होता है जो उसका प्रतीकचिन्ह या टोटम कहलाता है | कबीले के सदस्य स्वयं को अपने टोटम जैसा और उसका वंशज मानते हैं | अर्थात् पहले ये लोग प्रतीक पूजक थे | इसके साथ कुछ निषेध और प्रतिबन्ध भी जुड़े हुए थे। जैसे एक ही टोटम चिन्ह वाले कबीले के लोगों की बीच विवाह मना है आदि।

ट्रेपिज्म: किसी बाहरी बात को प्रतिसाद देते हुए जब सजीवों में अपनेआप बदल होता है तब उसे ट्रेपिज्म कहते हैं। मुलतः यह वनस्पतिशास्त्र की कल्पना है।

तटस्थेश्वरवाद: (**Deism**) विश्व के निर्वैयक्तिक आदि करण के रूप में ईश्वर पर विश्वास | विश्व की रचना करने के बाद ईश्वर ने उसे उसीके भरोसे छोड़ दिया है।

तदर्थवाद: किसी मूल चीज के स्थान पर कुछ और करना | ऐसा करने से शायद तत्काल सुभीता तो हो जाती है लेकिन उसके दूरगामी परिणाम भी होते हैं।

द्वंद्ववाद:(Dialectics): प्रकृति, समाज और चिंतन के विकास का विज्ञान जो वस्तुओं और घटनाओं को उनके सारे पक्षों से जांचता है। अधिभूतवाद का विलोम।

शुरू-शुरू में 'द्वंद्ववाद' का तात्पर्य विभिन्न मतों के टकराव के द्वारा सत्य तक पहुंचने के लक्ष्य से वार्तालाप करने की कला होता था । सुकरात-द्वंद्ववादी-प्रत्ययवादी; हेराक्लीटस-द्वंद्ववादी-भौतिकवादी।

(सोफिस्ट -वितंडवादी-शुरू में इसका अर्थ होता था 'प्रज्ञावान' या उस्ताद। जो प्रज्ञानी या वाक्कुशल प्रशिक्षक मामूली वेतन पर विवाद की कला सिखाते थे , उन्हें सोफिस्ट कहा जाता था। ये लोग दुनिया के प्रथम वेतनभोगी अध्यापक थे। लेकिन बाद में इसका अर्थ बदल गया।)

द्वैतवाद:(Dualism)-एक मत जिसमें भूतद्रव्य तथा मन को दो स्वाधीन मूलतत्त्व या आदिस्रोत माने जाते हैं।

नियतिवाद (भाग्यवाद-fatalism):एक मत, जिसके अनुसार विश्व की सारी प्रक्रियाएं , एक सर्वोच्च सत्ता, नियति या भाग्य द्वारा प्रारम्भ से ही पूर्वनिर्धारित हैं।

पैंथेइजम (Pantheism):एक ऐसा दार्शनिक सिद्धांत जो ईश्वर तथा प्रकृति को समान मानता है।

बल्कि प्रकृति को ईश्वर का भौतिकवादी स्वरूप स्वीकार करता है । सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में यह वाद कभी-कभी भौतिकवादी तथा अनीश्वरवादी विचारों के प्रचारक के रूप सामने आया। उदा. गिआर्डनो ब्रूनो और बेनेडिक्ट स्पिनोजा।

प्रत्यक्षवाद (Positivism): बुर्जुवा दर्शन की एक आत्मगत प्रत्ययवादी प्रवृत्ति , जिसका लक्ष एक ऐसे वैज्ञानिक दर्शन की रचना करना है जो भौतिकवाद और प्रत्ययवाद के बीच संघर्ष से परे हो। प्रत्यक्षवाद कई अवस्थाओं से गुजरा है । इसके अधुनातन प्रतिनिधि हैं रुडोल्फ कर्णाप ,बर्ट्रांड रसेल आदि।

प्रत्ययवाद (Idealism):एक दार्शनिक धारा जो दर्शन के मूलभूत प्रश्न पर भौतिकवाद की सर्वथा विपरीत स्थिति को अपनाती हैं । यह इस सिद्धांत से आरम्भ करती हैं कि आत्मिक तत्त्व प्राथमिक है।

फलवाद (pragmatism):परिणाम से साधनों की कसौटी ठहरना , इसे फलवाद कहते हैं । इतिहास की ओर इस दृष्टिकोण से देखने पर इसका अपरिहार्य पर्यवसान तत्त्वशून्य सत्ताग्रासी राजनीति में होता है।

बहुत्ववाद: **(Pluralism)** - एक दार्शनिक मत ,जिसके अनुसार विश्व असंबंधित सत्ताओं के एक समुच्चय पर आधारित है। एकतत्त्ववाद का विलोम।

भूतजीववाद: **(Hylozoism)** - यह मत कि समस्त भूतद्रव्य सप्रमाण है।

भौतिकवाद (**Materialism**) प्रत्ययवाद की विरोधी विचारधारा । भूतद्रव्य प्राथमिक और आत्मिक तत्त्व दुर्य्यम है । इसके प्रकार हैं-स्वतःस्पूरत , अधिभूतवादी तथा गँवारू। इसका उच्चतम रूप है द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद , जो प्रकृति, समाज और मनुष्य के संबंध में संगत दृष्टिकोण रखता है तथा मार्क्सवाद का एक अंग है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद -मार्क्सवाद -लेनिनवाद का समाज वैज्ञानिक सिद्धांत । समाज के कार्यों तथा विकास का संनियमन करनेवाले सामान्य और विशेष नियमों को दर्शानेवाला विज्ञान । मुलतः यह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में निहित नियमों को सामाजिक घटनाओं के क्षेत्र पर लागु करता है। समाज में विचार (राजनीति , अर्थशास्त्र, शासन, धर्म, साहित्य, कला आदि विचार) ये समाज-जीवन की नींव नहीं हैं । तो समाज के अर्थजीवन पर , समाज प्रकृति के साथ संघर्ष कर जीवनयापन किस तरह करता है , धनसम्पत्ति की निर्मिति करता है इसपर उसके विचार , सांस्कृतिक जीवन निर्भर होता है।

इसके विरुद्ध फ्यूरबाख , ब्यूखतर, फोग्ट, मोलशोट आदि का 'ग्राम्य भौतिकवाद' था। इसका स्वरूप यांत्रिक, अगतिकवादी, स्थितिवादी था। वह अमूर्त मानव का विचार करनेवाला था।

तात्त्विक भौतिकवाद- मनुष्य की शक्ति का विकास करना और उसके लिए सृष्टि की सारी शक्तियों की सहायता , विज्ञान और कला इनके माध्यम से लेना , इसे ही तात्त्विक भौतिकवाद कहते हैं।

मताग्रहवाद (**Dogmatism**): ठोस दशाओं , विज्ञान तथा व्यवहार की अपेक्षाओं की उपेक्षा करते हुए अपरिवर्तनीय संकल्पनाओं और सूत्रों के आधार पर सोचने का एक तरीका।

मानवतावाद (**Humanism**)- एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य की प्रतिष्ठा के प्रति सम्मान , उसके निर्बाध विकास तथा सौख्य पर आधारित विचारों का इतिहास सापेक्ष परिवर्तन । इसके अनुसार सामाजिक घटनाओं के आकलन की एकमात्र कसौटी मानव कल्याण है।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद: मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा सर्जित तथा लेनिन द्वारा रचनात्मक ढंग से विकसित दार्शनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनितिक दृष्टिकोणों की एक वैज्ञानिक प्रणाली । मार्क्सवाद का आविर्भाव उन्नीसवीं सदी के मध्य में हुआ । यह मजदुर वर्ग के बुनियादी हितों को व्यक्त करता है।

वितंडवाड-कूतर्कवाद (**Sophistry**): विवाद या तर्कणा में कूटतर्कों का (हेत्वाभासों) अर्थात् सरसरी निगाह से सही जान पड़नेवाली , बाल की खाल निकालनेवाली दलीलों , वाक्छल का जानबूझकर उपयोग करना।

व्यवहारवाद: समसामयिक बुर्जवा दर्शन में उपयोगिता के साथ सत्यता की तद्रूपता के सिद्धांत पर आधारित एक आत्मगत प्रत्ययवादी प्रवृत्ति। इसमें उपयोगिता को व्यक्ति के आत्मगत हितों की तुष्टि माना जाता है। इस वाद के अनुसार महत्त्व की बात यह नहीं है कि विश्व का संज्ञान कैसे हो सकता है बल्कि यह है कि जीवन को अधिक सुविधाजनक कैसे बनाया जाए। वे अनबुझ पहेलियों को बुझाने की कोशिश में अपना सिर नोचना नहीं चाहेंगे।

संकलनवाद (**Electicism**) भिन्न-भिन्न तथा कभी-कभी विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों तक का जानबूझकर तैयार किया हुआ संकलन।

संकल्पवाद (**Voluntarism**): दर्शन की एक प्रत्ययवादी प्रवृत्ति , जो संकल्प को विश्व में अस्तित्वमान समस्त चीजों का प्रधान आधार मानती है।

संशयवाद (**Scepticism**): एक मत जो वस्तुगत यथार्थता के ज्ञान की सम्भावना पर संदेह करता है। संगत संशयवाद, अज्ञेयवाद से कोई अधिक भिन्न नहीं होता।

सर्वात्मवाद (**Animism**): प्राकृतिक पदार्थों तथा शक्तियों में आत्मा मौजूद रहती है, इस प्रकार का विश्वास आदिम समाज के जमाने में ही पैदा हो गया था।

सापेक्षवाद (**Relativism**): मानव ज्ञान की सापेक्षता , सोपाधिकता और आत्मगतता के बारे में एक प्रत्ययवादी मत।

स्थितिवाद (**Metaphysics**): दुनिया स्थिर, निश्चल है। उसमें जो गति दिखती है वह केवल यांत्रिक है। सारी चीजें अलग-अलग और स्वतंत्र हैं। वे एक ही समय पैदा हुई हैं। एक वस्तु से दूसरी वस्तु पैदा नहीं होती। इतिहास में केवल पुनरावृत्ति होती है, विकास नहीं।

यह बेजान, गतिहीनता का दावा है।

हैलोइज्म: एक ऐसी विचारधारा जो पदार्थ को जीवन या अनुभूति की वस्तु स्वीकार करती है तथा जो सजीव या मृत पदार्थ में कोई भेद नहीं करती। यह विचारधारा कभी-कभी (उदा-स्पिनोजा) भौतिकवादी विचारों को व्यक्त करती है।

ज्ञानवाद: (**Epistemology**): ज्ञान का सिद्धांत। दर्शनशास्त्र का वह विभाग जो ज्ञान के स्रोतों, साधनों तथा परिस्थितियों का अध्ययन करता है।

कुछ परिभाषाएँ-

अपाकर्षण: वस्तुओं के कुछ अनुगुणों या उनके बीच के संबंधों की उपेक्षा करते हुए , एक ही अनुगुण या सम्बन्ध पर ध्यान केंद्रित करना।

आत्मगत: मानव चेतना पर आश्रित।

द्वंद्वात्मकता: हेगेल का गतिवाद बताता है कि वस्तु को गति देनेवाला कौन है ? उसी वस्तु में विद्यमान 'परस्पर विरोधी द्वंद्व', चुम्बक के दो ध्रुव के समान। यह प्रत्येक वस्तु में होता ही है। वही प्रत्येक वस्तु को गति देता है , उसे जन्म देता है , उसका विकास करता है , नाश करता है और नए को, अधिक अच्छे को जन्म देता है।

यह विकास कुछ समय तक धीमी गति से चलता है । लेकिन एक वस्तु का नाश होकर नई वस्तु का जन्म होने की क्रिया , एकाएक छलांग, क्रांति के मार्ग से ही होती है। संख्यात्मकता का गुणात्मक रूपांतर एकाएक होता है । पानी गरम करने पर उसका तापमान बढ़ते रहता है । लेकिन एक विशिष्ट तापमान पर वह अधिक न बढ़ते हुए उसका रूपांतर भाँप में हो जाता है । रूप में या गुण में बिलकुल परिवर्तन हो जाता है।

द्वंद्वात्मक विकासवादी दर्शन के अनुसार कोई भी बात, अंतिम, अटल या अनिवार्य नहीं है।

नियम:(Law) घटनाओं का एक आंतरिक , सारभूत, स्थायी, पुनरावर्ती तथा आवश्यक अंतर्संयोजन। वस्तुगत नियमों का संज्ञान, सारे विज्ञानों का प्रमुख प्रयोजन होता है।

पदार्थ:(Substance) सभी वस्तुओं और प्राकृतिक चीजों का आधार व मूलतत्त्व । एक आदर्शवादी की नजर में यह पदार्थ आत्मा या विचार है । जबकि भौतिकवादी की नजर में भौतिक पदार्थ। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अपरिवर्तनशील पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तथा भौतिक पदार्थ को निरंतर विकास और परिवर्तन की अवस्था में मानता है।

परावर्तन: पारस्परिक अंतर्क्रिया के फलस्वरूप अन्य वस्तुओं की विशिष्टताओं को अपनी ही संरचना में पुनर्प्रस्तुत करने का वस्तुओं का एक अंतर्भूत अनुगुण । परावर्तन जैव-अजैव प्रकृति में भी देखा जाता है और समाज में भी। इसका उच्चतम रूप चेतना है।

भूतद्रव्य: एक वस्तुगत वास्तविकता , जो चेतना से परे , स्वतंत्र रूप में विद्यमान है और उसके द्वारा परावर्तित होती है।

वर्ग (सामाजिक): सामाजिक उत्पादन की इतिहासाश्रित प्रणाली में अपने स्थान तथा उत्पादन के साधनों के साथ अपने संबंधों में एकदूसरे से भिन्न लोगों के विशाल समूह।

वस्तुगतः मानव चेतना से स्वतंत्र।

व्याघातः (द्वंद्वात्मक) किसीभी गति का, विकास का आंतरिक स्रोत। व्याघातों का सिद्धांत, द्वंद्ववाद का नियामक केंद्र है।

स्वतंत्रता: "अनिवार्यता का स्वरूप और मर्यादा की पहचान करना यही स्वतंत्रता है"।

"प्रकृति के अपने स्वतंत्र ऐसे नियम हैं | उस नियम द्वारा वह बद्ध है और द्वंद्वात्मक विकास के मार्ग से अनिवार्यता का रूपांतर आजादी में होता है।"-----माक्स

चिंतक

- १) प्लेटो (ईस. पू. ४२८/४२७-३४७)-प्राचीन यूनानी वस्तुगत प्रत्ययवाद के प्रवर्तक।
- २) एरिस्टोटल (ईस. पू. ३८४-३२२) भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच मध्यममार्गी।
- ३) कांट इमैनुएल (१७२४-१८०४ ईस) जर्मन क्लासिकी प्रत्ययवाद के प्रवर्तक।
- ४) देकार्त रेने (१५९६ -१६५० ईस) फ्रांसिसी द्वैतवाद के प्रवर्तक।
- ५) डेमोक्रीटस (लगभग ईस.पू. ४६०-३७०) प्राचीन यूनानी भौतिकवादी | परमाणुवाद के सिद्धांतके एक प्रणेता।
- ६) फ्रेडरिक नीत्से (१८४४-१९०० ईस) जर्मन प्रत्ययवादी, संकल्पवादी दार्शनिक।
- ७) जॉर्ज बर्कले (१६८५-१७५३ ईस) अंग्रेज आत्मगत प्रत्ययवादी।
- ८) जॉन लॉक (१६३२-१७०४ ईस) अंग्रेज भौतिकवादी दार्शनिक।
- ९) ला मेत्री (१७०९-१७५१ ईस) फ्रांसिसी भौतिकवादी।
- १०) शॉपेन हाँवर आर्थर (१७८८-१८६० ईस) जर्मन प्रत्ययवादी।
- ११) सार्त्र ज्यां पॉल (१९०५-१९८०) फ्रांसिसी, आत्मवादी प्रत्ययवाद में अस्तित्ववादी।
- १२) सुकरात (४६९-३९९ ईस पू) यूनानी प्रत्ययवादी।
- १३) स्पिनोजा बारुख (१६३२-१६७७) डच भौतिकवादी दार्शनिक।
- १४) स्पेंसर हर्बर्ट (१८२०-१९०३ ईस) अंग्रेज प्रत्यक्ष्यवादी।

- १५) हेगेल: जर्मन, वस्तुगत प्रत्ययवादी, दर्शन में द्वंद्वात्मक विधि के रचियता।
- १६) हेराक्लीटस (लगभग ईस.पू.५४४-४८३) प्राचीन यूनानी द्वंद्ववादी व भौतिकवादी।
- १७) ह्यूम डेविड (ईस.१७११-१७७६)अंग्रेज आत्मगत प्रत्ययवादी।

द्वंद्ववाद

एलिया के जेनो (ईस.पू.४९०-४३०लगभग) की तर्कणा-

एक तीर उड़ान के किसी भी एक प्रदत्त बिंदु पर होता है और अगले ही क्षण दूसरे बिंदु पर जा पहुँचता है। अतः गति सविराम तथा झटकों के साथ होती है। लेकिन इसके साथ ही साथ वह तीर बिंदु-प्रतिबिंदु क्रमिक ढंग से भी गुजरता है और उसी क्षण पर अपनी उड़ान के प्रत्येक खंड में कई बिंदुओं से होकर निकल जाता है। फलतः गति अविराम और क्रमिक है।

या

अगर तुम्हें किसी फासले को तय करना है तो उसके लिए पहले आधा रास्ता तय कर लेना चाहिए लेकिन उससे भी पहले चौथाई भाग या आठवां भाग तय होना चाहिए । फासले की असीम विभाज्यता के कारण कोई भी फासला तय नहीं किया जा सकता।

जेनो ने गति, समय तथा स्थान के वस्तुगत अंतर्विरोधों को दर्शाया लेकिन उसने नतीजा यह निकाला कि गति है ही नहीं, वह केवल आभास है।

तो फिर गति है क्या ? क्या गति को अविराम तथा क्रमिक परिवर्तनों , या आकस्मिक, सविराम परिवर्तनों में परिणत किया जा सकता है ? या भौतिक जगत स्वयं 'ठोस' और अविराम है या सविराम तथा विच्छिन्न यह जेनों की एक तार्किक पहेली है। कोई भी गतिशील वस्तु किसी विशेष स्थान पर होती भी है और नहीं भी होती।

लेकिन हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तमाम प्राकृतिक प्रक्रियाओं की जड़ में पदार्थ की गतिशीलता विद्यमान हैं। प्रत्यक्ष एरिस्टोटल ने भी उस ज़माने में कहा था , "गतिशीलता से इंकार करके हम प्रकृति के बारे में किसी भी तरह के अध्ययन को असंभव बना देते हैं।" (Metaphysics I, vii 59)

किसी वस्तु विशेष में कोई विशेष गुण है या नहीं , इस ठोस प्रश्न का उत्तर केवल हाँ या नहीं में ही दिया जा सकता है। लेकिन जब कोई वस्तु परिवर्तन की प्रक्रिया में , किसी गुणविशेष को छोड़ रही हो या कुछ अन्य गुण ग्रहण कर रही हो तो उसके बारे में भला क्या कहा जाएगा?

चिंतन के भी मूलभूत नियम तीन माने जाते थे-

१) समानता का नियम (Principium identitatis)--अ=अ

२) अंतर्विरोध का नियम (**Principium contradiction**)--इसमें " अ , अ नहीं है " | वह तो केवल पहले नियम का प्रतिकूल रूप है।

३) खारीजशुदा मध्य का नियम।

इसके अनुसार दो परस्पर विरोधी निर्णय जो अपना अलग-अलग स्थान रखते हों , दोनों ही गलत नहीं हो सकते। अर्थात् " 'अ 'या तो 'अ ' है या 'अ 'नहीं है।"

इन दोनों निर्णयों में से किसी एक की सत्यता आवश्यक रूप से दूसरे की असत्यता प्रदर्शित कर देती है। इसलिए न तो कोई मध्य है और नहीं हो सकता है।

अर्थात् प्रत्येक ठोस या विशिष्ट प्रश्न जिसे प्रत्यक्ष रूप से समझा जाता हो-का उत्तर हमें 'हाँ' या 'ना' में देना चाहिए। हम 'हाँ' और 'ना' दोनों में उत्तर नहीं दे सकते।

इसी कारण अध्यात्म यह कहता आया है कि एक ही तत्व में दो परस्पर विरोधी गुण नहीं हो सकते और इसी कारण उसने उदाहरण के तौर पर विचार और भौतिक पदार्थ जो मूलतः एकदूसरे से एकदम ही भिन्न स्वभाववाले मालूम होते हैं और हम , दोनों के साथ उतने ही जुड़े हुए पाते हैं तो इनके बीच का तात्त्विक विद्यमान अंतर्विरोध का समाधान आंतरिक में से एक अर्थात् अस्तित्व, पदार्थ, प्रकृति को हटाकर किया , उसे भ्रान्त या दुष्यम स्थान देकर या 'माया' बताकर किया। लेकिन दो में से एक सम्बद्ध तत्व को हटाने का अर्थ अंतर्विरोध का समाप्त होना नहीं होता।

सतरहवीं सदी से प्रकाशिकी के क्षेत्र में एक विवाद चल पड़ा था कि क्या प्रकाश निर्बाध और तरंगनुमा है और इसीलिए तरंगों के नियमाधीन होता है या बाधित , कणिकीय और इसीलिए कणों के नियमाधीन होता है ? प्रकाश के दो परस्पर विरोधी सिद्धांत बन गए- तरंगीय और कणिकीय। इनमें से कौन सिद्धांत सही है -इस प्रश्न को लेकर अनेकानेक वाद-विवाद हुए और दोनों के पक्ष में युक्तियाँ पेश की गईं । अंग्रेज वैज्ञानिक आयज़ेक न्यूटन ने प्रकाश की प्रकृति को विच्छिन्न, खंडित तथा कणों का एक प्रवाह साबित करने के लिए कई प्रयोग किए । दूसरी तरफ हॉलैंड के वैज्ञानिक क्रिश्चियन हाइजीन ने प्रकाशिकीय विवर्तन तथा व्यतिकरण सम्बन्धी खोजों को आधार बनाकर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकाश किसी एक अविच्छिन्न माध्यम में तरंग सम गति से चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दो निष्कर्षों में से कोई एक ही सत्य हो सकता है। किन्तु विज्ञान के विकास में यह तथ्य निखरकर सामने आया कि यह 'विलक्षण' घटना एक व्याघाती द्वंद्वात्मक प्रकृति की है। बाद में यह साबित कर दिया गया कि प्रकाश एक ही काल में तरंग की और कणों की गति है। उन्नीसवीं सदी में यह प्रमाणित कर दिया गया कि तरंगें केवल दृश्य प्रकाश की ही नहीं, बल्कि विद्युतीय, चुंबकीय तथा अन्य कई प्रक्रियाओं की भी लाक्षणिकता

है। यह साबित हो गया कि प्रकाश , बिजली और चुम्बकत्व एक ही चुंबकीय क्षेत्र के दोलन हैं । उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के संधिकाल में नयी-नयी खोजों का तूफान सा आ गया और यह असंग्दिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया गया कि अविच्छिन्न चुंबकीय क्षेत्र साथ ही विच्छिन्न , खंडित और कणिकीय घटना भी है।

ऐसी वास्तविकताओं की कारण मीमांसा आप कैसी करेंगे ? जो अनुभव होता है उसका बुद्धिमान्य स्पष्टीकरण क्या दिया जा सकता है ? इसपर अन्य तरीके से सोचना होगा । उसका स्पष्टीकरण देता है द्वंद्ववाद।

द्वंद्ववाद: वैज्ञानिक विश्लेषण

वास्तव में कोई भी वास्तविक वस्तु , घटना या प्रक्रिया कभी भी स्थिर , पूर्णतः स्थायी, अपनी सारी उपप्रणालियों तथा तत्वों के बीच पूर्ण संगति में कभी भी नहीं होती । इससे भी अधिक उनके बीच कमोबेश विषमता या विसंगति अवश्यमेव होती है और यह प्रत्येक घटना तथा प्रक्रिया की कार्यात्मकता और विकास की सबसे महत्वपूर्ण शर्त है।

जब एक घटना (प्रक्रिया) के अन्तर्सम्बन्धित पहलुओं और उपप्रणालियों के बीच विसंगति अनिवार्य नहीं होती और महत्वहीन होती है , तो उनके अंतर की बात कही जाती है , किन्तु जब यह अनिवार्य और महत्वपूर्ण होती है , और पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है , तो कहा जाता है कि ये पहलू या उपप्रणालियाँ प्रतिपक्षी हैं।

प्रतिपक्षों के बीच , परस्पर प्रतिपक्षी अंशों , अनुगुणों , उपप्रणालियों आदि के बीच सम्बन्ध को व्याघात कहते हैं। ऐसे व्याघातों को विकास का स्रोत मानना चाहिए।

विरोधियों के बीच का संपर्क सूत्र घनिष्ठ और अटूट होता है , उसके परे उनका अस्तित्व नहीं। यांत्रिकी में इसके उदहारण है , क्रिया-प्रतिक्रिया , गणित में धन और ऋण , रसायन और जैविकी में संयोजन-वियोजन आदि।

इसी तरह विभिन्न संकल्पनाओं और विचारों का टकराव और उनके बीच विसंगतियों तथा व्याघातों का समाधान भी हमारे ज्ञान के विकास का सत्य स्रोत प्रमाणित होता है।

विकास का मुख्य स्रोत आंतरिक व्याघातों के समाधान की प्रक्रिया है।

घटनाओं या प्रक्रियाओं के अन्तर्सम्बन्धित , किन्तु विरोधी पहलुओं और उपप्रणालियों के बीच केवल अंतर्वेधन तथा अंतररूपान्तरण के सम्बन्ध ही नहीं होते , बल्कि प्रतिपक्षों के संघर्ष के सम्बन्ध भी होते हैं। ये सम्बन्ध अंतर्विरोधों (व्याघातों) की उत्पत्ति तथा वृद्धि की तरफ ले जाते हैं

जिसके फलस्वरूप एक निश्चित अवस्था पर वस्तु का अपने पुराने रूप में बने रहना तथा कार्य करना असंभव हो जाता है। इन व्याघातों की समाधान की वस्तुगत आवश्यकता पैदा हो जाती है और उसीसे नयी घटना, नया विषय, एक नया अनुगुण आदि पैदा होते हैं। अर्थात् प्रतिपक्षों का संघर्ष और उनके बीच विद्यमान अंतर्विरोधों की उत्पत्ति, वृद्धि और खास तौर पर उनका समाधान किसी भी विकास का चाहें वह कहीं भी और किसी भी रूप में क्यों न हो, वास्तविक स्रोत है। इसलिए जीवन के व्याघातों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए।

जो व्याघात विकास पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं और जिनका समाधान मुलतः नयी घटनाओं और प्रक्रियाओं की उत्पत्ति की और ले जाता है उन्हें बुनियादी व्याघात कहते हैं। इनके सिवा अन्य सारे व्याघात गौण और गैरबुनियादी होते हैं।

प्रतिरोधी व्याघातों से भिन्न अप्रतिरोधी व्याघातों के समाधान में प्रतिपक्षों में से किसी एक का उन्मूलन करने की जरूरत नहीं होती। उनका समाधान नियमतः शांतिपूर्ण तरीके से विभिन्न रूपों में संभव है।

(दर्शन क्या है? किरिलेंको कोर्शोनोवा: प्रगति प्रकाशन मास्को: द्वंदवाद क्या है?)

द्वंदवाद क्या है?

गति -परिवर्तन -विकास

प्रत्येक वस्तु गतिमान है। प्रकृति चिरंतन गति से भरी हुई है-इस वास्तवता को सभीने माना है।

प्रत्ययवादी हेगेल ने कहा - विश्व विरोधी शक्तियों की अंतर्क्रिया के फलस्वरूप विकसित होता है। लेकिन उन्होंने इस विकास को एक निरपेक्ष प्रत्यय "विश्वात्मा" के साथ जोड़ दिया।

प्रत्येक वस्तु या घटना उसमें अन्तर्निहित व्याघातों के कारण विकसित होती है।

क्या गति का अस्तित्व है और होगा तो इस गति का कारण क्या है?

इस चिंतन के फलस्वरूप विश्व को समझने के उपागम की दो विरोधी विधियां बन गयीं-दो विरोधी दृष्टिकोण - द्वंदवाद और अधिभूतवाद।

कार्यकारण भाव

- डेमोक्रीटस ने अन्तर्सम्बन्ध के सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप कार्य - कारण सम्बन्ध के विचार का सैद्धांतिक दलीलों में उपयोग किया । उन्होंने कहा कि प्रत्येक चीज के पीछे उसका अपना कारण होता है। बिना कारण के कुछ नहीं होता। यह एक प्राकृतिक आवश्यकता है।

सत्रवीं - उन्नीसवीं सदियों की यांत्रिक भौतिकी में कार्यकारण सम्बन्ध की व्याख्या एक अपरिवर्तनीय, अपरोक्ष तथा कठोर आवश्यकता के रूप में की गई थी। जैसे एक गेंद जिस रफ्तार से बिलियर्ड की मेज पर चलती है , उसका निर्धारण गेंद पर पड़े आघात तथा उसके द्रव्यमान से होता है। आघात का बल तथा गेंद के द्रव्यमान की गणना जितनी सूक्ष्मता से की जाएगी , उतनी ही सटीकता से गेंद की रफ्तार तथा प्रत्येक विशिष्ट क्षण पर उसकी स्थिति का अनुमान लगाया जा सकेगा। हम ब्रह्माण्ड के सारे पिंड के द्रव्यमान तथा वेग का बिलकुल सही मूल्य निर्धारित कर के भविष्य के किसी भी क्षण में उसकी स्थिति का निर्धारण कर सकते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व में सब कुछ पूर्वनिर्धारित है । यह नियतिवादी दृष्टिकोण है , अर्थात् भाग्यवाद और प्रारब्ध पर विश्वास।

अधिभूतवाद (Metaphysics)

यह शब्द असाधारण यूनानी दार्शनिक अरिस्टॉटल(ईसा पु.३८४-३२२)की प्रमुख दार्शनिक कृति का शीर्षक है। उनके प्रति सम्मान के कारण कई सदियों तक दर्शन को 'अधिभूतवाद' कहा जाता था। कालांतर में इन शब्दों के अर्थों में आमूल परिवर्तन हो गया । लेकिन इसका शाब्दिक अर्थ है "भौतिकी के बाद।"

हेगेल ने अधिभूतवाद को गति के बारे में ऐसा दृष्टिकोण बताया जो द्वंद्ववाद के विपरीत है। सत्रहवीं सदी में अधिभूतवाद ने भौतिक घटनाओं और उनके अन्तर्सम्बन्धों के एक आवश्यक अनुगुण के रूप में जो गति होती है उससे स्वयं को पृथक् कर लिया था लेकिन बीसवीं सदी में उसके लिए यह संभव नहीं रहा। यद्यपि द्वंद्ववाद तथा अधिभूतवाद दोनों ही गति को मान्यता देने लगे हैं लेकिन उनकी व्याख्या अलग-अलग हैं। द्वंद्ववाद के लिए यह स्वविकास है तो अधिभूतवाद उसे स्थानांतरणों, बढ़ती-घटती या चक्रिक गतियों में परिणत कर देता है और स्वविकास को ठुकरा देता है।

द्वन्द्ववाद----

शुरू-शुरू में इस शब्द का अर्थ विरोधी दृष्टिकोणों की तुलना के जरिए किसी विवाद के दौरान सत्य तक पहुंचने की कला या नियम, माना जाता था।

अधिभूतवाद के सम्मुख दूसरी ओर गति में परिवर्तनों की भूमिका को अतिरंजित रूप भी दिया गया। मसलन प्राचीन यूनानी दार्शनिक और हेराक्लीटस के शिष्य क्रातिलास ने कहा , "एक ही नदी में हमारा दो बार प्रवेश करना असंभव है , क्योंकि जब हम उसमें प्रविष्ट होते हैं तो हम और नदी दोनों बदल रहे होते हैं ।" उन्होंने निष्कर्ष निकला कि ज्ञान अलभ्य है । हर चीज गति में है तो उसके बारे में कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती । यह दृष्टिकोण द्वन्द्ववाद को उसके प्रतिपक्ष अधिभूतवाद में परिवर्तित कर देता है।

विकास का सर्पिल स्वरूप-

एक वृत्त परिधि में किसी एक बिंदु को ले लीजिए और उससे दक्षिणावर्त घूमना शुरू कर दीजिए, जब सारे वृत्त का पूरा चक्कर लग जायेगा तो हम वृत्त की परिधि के सारे बिंदुओं से होकर गुजर चूकेंगे। इस अर्थ में वृत्ताकार गति के दौरान हर चीज पूर्णतः आवर्तित होती है और ऐसा कोई बिंदु नहीं बचता, जहाँ से हम पहले गुजरे न हो।

दूसरी तरफ यदि हम एक सीधी रेखा में कोई भी बिंदु लें और उससे किसी भी एक दिशा में चल पड़े , तो हम उस बिंदु पर कभी वापस नहीं लौटेंगे । पुरातन के साथ , अर्थात् गति के प्रारंभिक बिंदु के साथ हमारा सम्बन्ध पूर्णतः समाप्त हो जाएगा । गति की ये दोनों ज्यामितिक पद्धतियां गति की अधिभूतवादी संकल्पना के सुस्पष्ट उदहारण हैं । अधिभूतवादी दृष्टिकोण से विकास या तो वृत्ताकार गति है , जिसमें सारी अवस्थाएं पुनरावर्तित होती हैं , या सीधी रेखा में गति है , जिसमें पुनरावर्तन पूर्णतः अनुपस्थित होता है । किन्तु इन अवस्थाओं के बीच कोई पारस्परिक निर्भरता नहीं होती। पुरातन और नूतन के संबंध टूट जाते हैं और अतीत तथा वर्तमान भविष्य के साथ जुड़े नहीं होते।

विकास की द्वंदात्मक संकल्पना को एक उर्ध्व सर्पिल में गति से सर्वाधिक अच्छी तरह से दर्शाया जा सकता है। सर्पिल की किसी एक कुंडली में एक आरंभिक स्थिति ले लीजिये और एक बिंदु 'क' को सर्पिल में ऊपर की तरफ आगे बढ़ाइए, एक कुंडली से दूसरी में संक्रमण करता हुआ। बिंदु 'क' से एक तरफ तो प्रारंभिक स्थिति से इस तरह से अधिकाधिक दूर होता जाएगा , मानो वह सीधी रेखा हो और उस पर वापस नहीं लौटेगा । दूसरी तरफ, प्रत्येक कुंडली के साथ वह एक ऐसी स्थिति से गुजरेगा , जो प्रारंभिक स्थिति का प्रक्षेपण वस्तुतः उसका एक पुनरावर्तन होगा , किन्तु पूर्ण नहीं, आंशिक॥

विकास का स्वरूप सर्पिल होता है , उसमें हमेशा कुछ नूतन होता है और साथ ही पुरातन की ओर एक प्रतीयमान वापसी भी होती है।

दो प्रतिपक्षों की एकता , नूतन का उद्भव और पुरातन के लाक्षणिक कुछ अनुगुणों के संरक्षण की विशेषताएं बतलानेवाली सबसे महत्वपूर्ण संकल्पनाओं को द्वंद्वात्मक निषेध और सातत्य कहा जाता है।

द्वंद्वात्मक निषेध क्या है?

यह एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक पुराने गुण का पूर्ण उन्मूलन नहीं होता , बल्कि उसमें जो चीज सर्वाधिक मूल्यवान व सारभूत है तथा घटना के और अधिक विकास को सुनिश्चित बनाने में समर्थ है , उसे संरक्षित रखा जाता है , उसकी पुष्टि की जाती है , वह नए गुण का अंग बन जाती है। इस तरह एक द्वंद्वात्मक निषेध गुणात्मक संक्रमण के दौरान होता है । यह यांत्रिक मूलोच्छेदन नहीं है। उदा. एक बीज को उपयुक्त, अनुकूल दशाओं में बोने पर उसमें अंकुर फूटता है और वह एक डंठल और विकासमान पौधे में बदल जाता है । यह एक निषेध है , लेकिन इसके फलस्वरूप बीज गायब नहीं होता । विकसित होने में समर्थ इसकी सारी क्षमताएं पौधों की कोशिकाओं में प्रविष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत बीज जब चक्की में पीस जाता है तो वह यांत्रिक ढंग से विनष्ट हो जाता है।

मार्क्स के पहले के दर्शन में विकास की प्रक्रिया में निषेध की भूमिका को सर्वाधिक गहन रूप में हेगेल ने विकसित किया । प्रत्ययवादी होने के नाते उन्होंने प्रत्ययों के विकास की जाँच की।

स्थापना-प्रतिस्थापना--

यहाँ स्थापना का द्वंद्वात्मक निषेध भी होता है । प्रतिस्थापना में आगे और प्रतिस्थापना के फलस्वरूप एक और छलांग लगती है और नया निषेध अर्थात् निषेध का निषेध पूरा होता है। इस दूसरे निषेध के परिणामस्वरूप निरपेक्ष प्रत्यय के विकास की तीसरी अवस्था आती है।

वाद-प्रतिवाद-संवाद के समान ही यह चलता है।

- एक गुणात्मक अवस्था से दूसरी में होनेवाला प्रत्येक संक्रमण पूर्ववर्ती अवस्था का द्वंद्वात्मक निषेध होता है , जिसमें प्रत्येक मूल्यवान तथा जिवंत चीज संरक्षित होती है , प्रतिधारित होती है और बदले हुए रूप में , नए गुण में समाविष्ट हो जाती है। इस संरक्षण और प्रतिधारण को सामान्यतः सातत्य कहते हैं।

प्रगति क्या है?

पहले जो मात्र संभव था वह यथार्थ में बदल जाता है , उलटे जो यथार्थ था उसमें फेरबदल हो जाते हैं या वह खत्म होकर नयी संभावनाओं के लिए रास्ता छोड़ देता है।

प्रत्येक बार जब किसी सामाजिक प्रणाली का पतन होता है , तो उसके विचारक और रक्षक कहते हैं कि यह प्रगति नहीं, सबकुछ तबाह होने जा रहा है। उदा. उद्योग में स्वचालीकरण तथा रोबोटिकरण, एक तरफ इससे उत्पादकता बढ़ाती हैं तो दूसरी तरफ बेरोजगारी।

निषेध के निषेध का द्वंद्वात्मक नियम -

हेगेल के कृतित्व से उपजे इस नियम को परम्परानुसार निषेध के निषेध का नियम कहते हैं। इस नियम के अनुसार -

१) विकास के दौरान ऐसा नूतन लगातार उत्पन्न होता रहता है , जो पहले विद्यमान नहीं था और जो पुरातन का द्वंद्वात्मक निषेध होता है।

२) निषेध के दौरान प्रत्येक मूल्यवान और जिवंत चीज संरक्षित रहती हैं और परिवर्तित रूप में नूतन में सम्मिलित होती हैं । पुरातन के केवल उसी अंश का उन्मूलन होता है जो गतावधिक होता है और विकास में बाधा डालता है।

३) विकास में पहले की बीती अवस्थाओं की एक निश्चित वापसी और पुनरावर्तन होता है किन्तु एक नए और उच्चतर स्तर पर और इसलिए उसका स्वरूप वृत्ताकार या रेखिक नहीं तो सर्पिल होता है।

४) विकास की प्रक्रिया के दौरान पुराने से नए में संक्रमण के समय वस्तुगत स्वरूप की प्रगतिशील तथा पश्चगामी प्रवृत्तियां होती हैं । सारी घटना का परिवर्तन प्रगतिशील होता है या पश्चगतिक, यह इस बात पर निर्भर होता है कि इस द्वंद्वात्मकता से सम्बंधित दो प्रवृत्तियों में से कौन प्रभावी है।

५) कोई भी गुणात्मक छलांग सारतः घटना के प्रमुख आंतरिक व्याघातों का समाधान होती है । आंतरिक बुनियादी व्याघातों का समाधान किसी भी विकास का असली स्रोत होता है। अतः जीवन के व्याघातों की अनदेखी नहीं करनी चाहिए।

एक द्वंद्वात्मक निषेध यह बतलाता है कि पुराने से नए में छलांगनुमा संक्रमण में संरक्षण या निरंतरता का और साथ ही उन्मूलन और विनाश का एक घटक विद्यमान होता है।

आवर्तन

सृष्टि में आवर्तन तो होता है लेकिन प्रत्येक आवर्तन में पदार्थ का या किसी भी प्राणी का स्थान वहीं नहीं रहता , जो पहलेवाले आवर्तन में था । उसका कारण यह है कि केंद्रबिंदु एक नहीं रहता, केंद्रबिंदु खिसकता रहता है। आवर्तन ठीक गोलाकार चक्र में न होकर शंख के घेरे के रूप में होता है जहाँ वृत्त खुला रहता है।

विज्ञान और अध्यात्म

हम विज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान इनकी विशेषताओं पर दृष्टि डालेंगे-

विज्ञान यह दुनिया में हो रही घटनाएं और गतिविधियां इनका बुद्धिनिष्ठ , कार्यकरणाधिष्ठित आकलन होने के लिए मानव ने की हुई क्रियाओं का फल है । विज्ञान यह अनुभवों का संचित है। अनगिनत मनुष्यों के अपरिमित परिश्रमों की परिणति है।

आदमी पर भय , अज्ञान और उस कारण निरर्थक कल्पनाओं का विशेष प्रभाव था । लेकिन विज्ञान यह मनुष्य ने शुरू की हुई ज्ञान की खोज है । विशुद्ध विज्ञान यह मानव कल्याण के उद्देश्य से ली गई 'सत्य की खोज' है -(स्वामी रंगनाथानन्द :विज्ञान और अध्यात्म।)

ज्ञान की वृद्धि के साथ , मनुष्य की प्रकृति के साथ होनेवाली अन्योन्यक्रियाओं का स्वरूप बदल गया और इंसान विज्ञान की तरफ मूड़ गया।

किसीभी विज्ञान शाखा की एक तात्त्विक रचनाकृति होती है। उसका एक आरम्भ बिंदु होता है। विज्ञान में जो सिद्ध नहीं हुई हैं लेकिन जिनकी सत्यता गृहित मानी गई है, ऐसे विधानों के समुच्चय से विज्ञान की शुरुवात होती है। ये विधान सिद्ध किए हुए नहीं होते, इसका अर्थ यह कि अन्य विधानों के निष्कर्ष के तौर पर उनकी निर्मिति नहीं की गई है । निष्कर्ष के तौर पर उन्हें निकालना संभव होता तो जिन दूसरे विधानों के निष्कर्ष के तौर पर वे उभरते , उन्हींको आरम्भपद प्राप्त हुआ होता और आम तौर पर स्थिति पूर्ववत हुई होती और इसका कोई अंत नहीं रहता। ऐसी स्थिति के कारण ऐसे कुछ विधानों से विज्ञान का आरम्भ होगा यह स्पष्ट है । ऐसे विधानों को विज्ञानशाखा के 'गृहितकृत्य' (**postulate**) कहा जाता है।

इन गृहितकृत्यों को आधार बनाकर केवल तर्कशुद्ध पद्धति से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इन निष्कर्षों का सर्वकष स्वरूप याने 'सिद्धांत' या 'प्रमेय'।

सबसे महत्पूर्ण बात यह है कि इन निष्कर्षों की प्रत्यक्ष प्रचिती ली जा सकती है । इस कारण केवल सिद्धांत की वास्तवता ही नहीं तो गृहितकृत्यों की वास्तवता भी स्थापित हो जाती है।

इतना ही नहीं तो उनको आधार बनाकर अभीतक ज्ञात नहीं हुई बातों की ओर अंगुलीनिर्देश किया जा सकता है। इस दूसरे तरह के निष्कर्षों को 'प्राक्वथन' (**prediction**) कहा जाता है।

विशिष्ट विज्ञान उदा. पदार्थविज्ञान यह एकात्म होता है चूकिं उसमें अंतर्भूत सिद्धांत एकदूसरे के साथ सुसंवादी होते हैं।

इससे उल्टा आध्यात्मिक क्षेत्र में , एक ही बात के प्रति प्रस्तुत किए जानेवाले विचार अलग-अलग ही नहीं तो बला के विसंवादी होते हैं।

वैज्ञानिक सिद्धांत के विकास के भी स्तर होते हैं।

विज्ञान की विविध शाखाओं में जो पद्धति उपयोग में लाई जाती है वह कम-अधिक अंतर से सब जगह एक ही होती है । उसी तरह वैज्ञानिक सिद्धांत का प्रामाण्य जिसपर निर्भर होता है वे कसौटियां भी सब जगह समान होती हैं । उस कारण विज्ञान के सभी सिद्धान्तों को खड़ा करने में एकसूत्रता दिखाई देती है और उसमें से एक निश्चित सिद्धांत ही सामने आता है। आस्तिक क्षेत्र जैसे एक ही चीज के पचासों रूप सामने नहीं आते।

अगर कोई नया सबूत उपलब्ध हुआ तो शास्त्रीय सिद्धांत में उसके अनुसार बदल हो सकते हैं। उसे बाजु हटा दिया जा सकता है या किसी अधिक व्यापक सिद्धांत में जज्ब कर लिया जाता है। इस तरह वैज्ञानिक सत्य यह अंतिम नहीं होता और विज्ञान कभी वैसा दावा भी नहीं करता।

जोर-जबरदस्ती या अप्रामाणिकता से मतपरिवर्तन यह निश्चित ही अनुचित है । अपने दोषों का या कमियों का सतत निराकरण करते रहना यह वैज्ञानिक पद्धति की खास विशेषता है।

अध्यात्म अधिकतर , दुनिया को दो वर्गों में विभाजित करता है । दुनिया का बाहरी मायिक स्वरूप और दूसरी असंवेद्य सत्य वस्तु। असंवेद्य है फिर भी मनुष्य को उसके सत्य होने के प्रति विश्वास है। तो विज्ञान की दृष्टि से दो वर्ग हैं , ज्ञात प्रकृति और अभी तक ज्ञात न हुई प्रकृति। अज्ञात यह ज्ञात से संलग्न रहनेवाला विश्व का हिस्सा है । वह आज नहीं तो कल ज्ञात होता रहेगा। प्राथमिक समाज स्थिति में विद्यमान विश्व विषयक कल्पनायें और प्रगत समाज में उपलब्ध समान्तर कल्पनाएं इनमें महदन्तर है।

प्रयोग (experiment) या व्यवहार (practice), यही ज्ञान की प्रामाणिकता की कसौटी है चूँकि सामान्य सिद्धांत और वस्तुस्थिति का वह मध्यस्थ होता है। व्यक्त वस्तु को गौण ठहरानेवाली और मानवी प्रयत्नों या श्रम को ज्ञानमीमांसा में से अलग कर देनेवाली तात्त्विक विचारधारा मनुष्य की प्रगति के लिए बड़ा धोखा पैदा करती है।

भविष्यकालीन अनुमान यह भूतकालीन अनुभवों पर निर्भर होते हैं।

दस मुँहवाले राक्षस का हमें भास होता है या सपना आता है । इसे हम भ्रान्ति कहते हैं। वास्तव में यह भी पूर्वानुभूत वस्तु-अनुभव पर निर्भर है । इसके पृथक हिस्से सत्य हैं लेकिन उनकी जुड़ाई विपर्यस्त रूप में की गई है। यही कई आध्यात्मिक संकल्पनाओं के बारे में होता है।

आध्यात्मवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि विज्ञान की नई खोज के साथ विज्ञान के पुराने सिद्धांत असत्य सिद्ध हो जाते हैं। विज्ञान की राह में कहीं स्थिरता नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, विज्ञान की यात्रा अल्प सत्य से बृहद सत्य की ओर है। नया सिद्धांत पुराने को असत्य नहीं ठहराता। उसकी नींव पर वास्तवता का विस्तार होता है। विज्ञान दुराग्रही नहीं है। वह पूरी तरह ऐहिक और अनुभवनिष्ठ है। इस सन्दर्भ में आध्यात्मिक ज्ञान की स्थिति उलटी है। वह केवल आग्रही और आग्रही है। विज्ञान का आशय तो अंततः ज्ञान ही है। जिज्ञासा के कारण मानव खोजें करता है उसे अस्तित्व के विषय में कच्चे-पक्के उत्तर मिलते हैं। उन्हें निरीक्षण की कसौटी पर परखा जाता है। जो इन कसौटी पर उतरते हैं, उन्हें स्वीकार किया जाता है। बाकी अमान्य हो जाते हैं। बुद्धि और आगे बढ़ती है। यह अनंत प्रक्रिया है।

आध्यात्मवादी कहते हैं कि विज्ञान अधूरा है अतः किसी वैज्ञानिक को ईश्वर आदि पर बोलने का अधिकार नहीं। हॉकिंस जैसे वैज्ञानिक ने ईश्वर जैसी संकल्पना को नकार दिया है। यहाँ यह ध्यान में लेना होगा कि न मानते हुए भी, विज्ञानक्षेत्र को किसी आध्यात्मवादी की जरूरत नहीं पड़ी लेकिन अध्यात्म ने कई वैज्ञानिकों का जीना कठिन किया था। ब्रूनो जैसे को तो जिन्दा जला दिया था।

सारे विज्ञान, विश्व का वास्तव और स्वतंत्र अस्तित्व गृहित मानकर और उसके यथार्थ ज्ञान की सम्भावना गृहित मानकर प्रवृत्त होते हैं। कई आध्यात्मिक विचार इसके विरोधी हैं।

तंत्रज्ञान-विज्ञान पर आक्षेप -

शास्त्र के सिद्धांत का जब व्यवहार में उपयोग किया जाता है तब तंत्रज्ञान जन्म लेता है, जैसे -

विद्युत् चुंबकीय तरंगों से सम्बंधित ज्ञान और नियम -शास्त्रीय सिद्धांत का हिस्सा तो

रेडिओ, उस आधार पर निर्मित तंत्रज्ञान।

- तंत्रज्ञान ने मनुष्य का जीवन बहुत ही सुखमय बनाया है।

लेकिन इसी तंत्रज्ञान के कारण मानव की आझादी की बलि ली जा सकती है। राज्यकर्ताओं के हाथ में सत्ता का अमर्याद केन्द्रीकरण होने के कारण स्वातन्त्र, समता, बंधुता जैसे मानवीय मूल्य धोखे में आ गए हैं। इसके उदा. हम देख ही रहे हैं। बात यहीं पर नहीं रुकती। आज ऐसी स्थिति आ गई है कि एक गलती के कारण सारी मानव जाति नष्ट न हो जाए।

ऐसी स्थिति में यह उपदेश दिया जाता है कि पूरी तरह अध्यात्म की शरण में चला जाए। लेकिन वास्तवता यह है कि जहाँ एकाधिकारवादी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है वहीं विध्वंस की संभावना भी बढ़ जाती है । हजारों सालों से अस्तित्व में रहा अध्यात्म बीसवीं सदी के महाविनाशक प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों को रोक नहीं सका । पिछले तीन सौ सालों का इतिहास यह बताता है कि जिन-जिन समाजों में औद्योगिक क्रांति के पूर्व, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के उदारमतवादी आंदोलन हुए उन-उन समाजों में अधिनायकवादी प्रवृत्ति का उभार न्यूनतम है । स्वाभाविक तौर पर विध्वंसक प्रवृत्तियाँ भी न्यूनतम हैं । वहाँ आज आम तौर पर मानवमूल्यों के प्रति आस्था है । सत्ता का केन्द्रीकरण इतने विकृत रूप में नहीं हुआ है । उदा. फ्रांस, डेनमार्क, न्यूज़ीलैंड आदि।

अतः समस्या है, तंत्रज्ञान की संहारकता नष्ट कर , उसे मानववरदायिनी बनाने की। यह मुलतः मनुष्य के सांस्कृतिक उत्थान की समस्या है । यह इतिहास इसका साक्षी है कि जहाँ कहीं भी ऐसी स्थिति बनी है वह अध्यात्म के माध्यम से ही बनी है , यह जरूरी नहीं । उलट ऐसी स्थिति बौद्धिक गुलामगिरी से मुक्त हुए समाजों में ही अधिक बनी है।

- वास्तव में तंत्रज्ञान ने मनुष्य का जीवन जितना बदल डाला है उससे कई गुना महत्व इस बात का है कि उसने मनुष्य के विश्वविषयक और जीवनविषयक दृष्टिकोण में क्रांतिकारी बदलाव लाया है।

तंत्रज्ञान ने यही रूप लेना चाहिए , यह विज्ञान निश्चित नहीं करता । विज्ञान तो एक विमोचक शक्ति है । उसने मनुष्य की आजादी का दायरा विस्तृत किया है । हाँ, तंत्रज्ञान दोनों दिशाओं में जा सकता है।

बढ़ता ज्ञान ही मनुष्य की बुद्धिमत्ता में वृद्धि करता है , जो भावनाओं की परिपक्वता में परिणत होता है और एक संतुलित मनुष्य का आविर्भाव हो सकता है । लेकिन इसके लिए आवश्यक है जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति , सामाजिक सुरक्षितता और वैचारिक स्वतंत्रता ये मूलभूत बातें।

प्रकृति मानवीय सुख-दुःखों के प्रति उदासीन है। उसके अपने नियम हैं। इस कारण मनुष्य के जीवन की गतिविधियों पर मर्यादाएं आ जाती हैं । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्रकृति के हाथ में खिलौना है। मनुष्य विज्ञान के माध्यम से ही प्रकृति के रहस्य जानकर इन मजबूरियों से अपने आपको मुक्त कर ले सकता है । नियमों का पता चला तो उन्हें तोड़ा जा सकता है ऐसा नहीं। लेकिन उनका उपयोग अपने जीवन को , नया मोड़ देकर, उसे सुसह्य बनाने के लिए किया जा सकता है, उसे अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है। यही मनुष्य की वास्तव स्वतंत्रता है जिसे केवल

विज्ञान ही अंजाम दे सकता है । विकल्पों में से उचित का चयन कर के । हम हवाई जहाज में उड़ते हैं तो गुरुत्वाकर्षण के नियम का भंग कर के नहीं तो उसे उचित सम्मान देकर ही।

मनुष्य पाप में, दुःख में गले तक डूबा हुआ है और इसलिए उसे अध्यात्म की शरण में आना चाहिए यह बतानेवाले तो कई धर्माचार्य , संत, बाबा इस धरती पर पधारे। लेकिन उनमें से किसीने भी, इस दुनिया को , इस तथाकथित दलदल में से निकालने के लिए कोई कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया जैसा विज्ञान ने किया । अध्यात्म हजारों सालों से अस्तित्व में होकर भी एक अर्थपूर्ण दुनिया बनाने में असफल रहा। फिर उसकी उपयोगिता का दावा किस आधार पर ? आज मनुष्य का जीवन सहनीय बनाया है केवल विज्ञान ने।

अगर आध्यात्मिक संकल्पनाओं की वास्तविकता होती तो मनुष्यबुद्धि के विकास के साथ, उसकी इन संकल्पनाओं पर निर्भरता बढ़नी चाहिए थी, लेकिन प्रत्यक्ष में हो उल्टा रहा है।

विज्ञान की पीड़ा

वैज्ञानिकों का प्रदर्शन -

९ अगस्त २०१७ के दिन देश के भिन्न- भिन्न शहरों में वैज्ञानिकों द्वारा मोर्चे निकाले गए। अविश्वसनीय! लेकिन किसलिए?

पिछले कुछ वर्षों में विज्ञान और तंत्रज्ञान पर किए जानेवाले व्यय में सरकार ने कमी की है। उस कारण राष्ट्रीय प्रयोगशाला, आय.आय.टी, एन.आई.टी. जैसी सभी संस्थाएं प्रभावित हो रही हैं। अनुसन्धान और विकास पर होनेवाले वैश्विक खर्च में भारत का हिस्सा केवल २.१% है जबकि यूरोप का हिस्सा २४.५ % है। (लो.समाचार :१४-८-२०१७ पृ.४)। हमारी आबादी दुनिया की आबादी के छठे हिस्से से भी अधिक है। अतः आर्थिक विकास के साथ यह प्रतिशत बढ़ाना चाहिए। उल्टा वह कम हो रहा है। क्या हमारे पास पैसे की कमी है ? हम तो धार्मिक उत्सवों पर पूरे देश में अरबों रुपये उड़ा देते हैं। ऐसी स्थिति में हम चीन की बराबरी कैसे कर सकते हैं?

पिछले वर्ष केंद्र सरकार ने, माननीय पंतप्रधानजी को वैज्ञानिक सलाह देनेवाली समिति को भंग करने का निर्णय लिया था।

विज्ञान और तंत्रज्ञान मानव जीवन को अधिक सहनीय बनता है। विकास की शुरुवात होती है, तुरंत आवश्यक ऐहिक आवश्यकताओं से। विकास का अर्थ है अधिक अच्छा जीवन , अच्छी शिक्षा, अच्छा स्वास्थ्य, अच्छी आर्थिक प्राप्ति और जीवन में अधिक सहनीयता। इस कारण भविष्य में विज्ञान को महत्व देने का और कोई विकल्प नहीं है और शासन इस विषय में अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता।

- इस कारण उपरोक्त मोर्चे की प्रथम मांग है कि देश के सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GDP) का ३% अनुसन्धान तथा १०% शिक्षा पर खर्च होना चाहिए।

वैज्ञानिकों ने उपस्थित किया हुआ अन्य मुद्दा है, जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करने के लिए प्रयत्न करने का। शब्द प्रमाण नहीं तो तर्कशुद्ध विचार, विश्लेषण पद्धति और प्रयोगसिद्धता ये बातें भविष्य के समाज का वैचारिक हिस्सा बनें, ऐसा प्रयत्न करना यह सभी का कर्तव्य है और यह बात भारतीय संविधान की धारा ५१क भी हमें बताती है।

लेकिन इसके स्थान पर -

पिछले कुछ समय से छद्म-विज्ञान को, वैज्ञानिक बुरखा पहनाये, अवैज्ञानिक विचारधारा को प्रस्थापित करने का प्रयत्न बड़े सुनियोजित ढंग से किया जा रहा है, ऐसा इस वैज्ञानिक परिवार का मत है। पुराणों में वर्णित बासी बातों को नया छौंका देकर, उनका महिमामंडन करते हुए, उन्हें नई पीढ़ी के सामने परोसा जा रहा है। गणेशजी का जन्म यह दुनिया में प्लास्टिक सर्जरी का प्रथम उदाहरण, भारत भूमि में हजारों साल पहले आकाश में घुमनेवाले हवाई जहाज, जैसी बातें सोशल मिडिया के मार्फत बड़े जोर-शोर से फैलाई जा रही हैं, बड़े-बड़ों के भाषणों में ही नहीं तो पाठ्यपुस्तकों में अंतर्भूत की जा रही हैं। पिछले वर्ष राष्ट्रीय वैज्ञानिक परिषद् (Indian Science Congress) में, प्राचीन भारत में 'विमानविद्या' इस विषय पर एक तथाकथित शोध प्रबंध पढ़ा गया। और तो और, मध्यप्रदेश सरकार ने सरकारी अस्पतालों में डॉक्टरों के साथ-साथ ज्योतिषियों को बिठाकर, रोगियों की कुंडली बनाकर, उस आधार पर उपचार करने की योजना घोषित की।

यह बात अपने देश में ही नहीं तो विश्व स्तर पर भी हो रही है।

- धर्म प्रेम वैज्ञानिकों का -

वैज्ञानिकों के धर्मप्रेम के विषय में तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी (बीसवीं सदी के महाराष्ट्रियन चिंतक और कॉमरेड एम.एन. रॉय के अनुयायी) जैसे चिंतक ने अपने 'जड़वाद अर्थात् अनीश्वरवाद' इस किताब में लिखा है -

"विज्ञान की बौद्धिक भूमिका ठीक ढंग से जिसके ख्याल में आएगी, उसके दिमाग में ईश्वर और धर्म के लिए स्थान हो ही नहीं सकता। अगर होगा तो वह एक व्यवस्थित चिंतनधारा के लिए विसंगत बात होगी और परंपरागत श्रद्धा द्वारा कायम रखी गई कल्पना होगी।"

इस कारण उपरोक्त मोर्चे की मांग है कि जिनका केवल वैज्ञानिक आधार है ऐसी ही बातें शालेय अभ्यासक्रम में अंतर्भूत की जाएं और वैज्ञानिक आधार पर देश की नीतियां तय की जाएं।

अगर किसी समय, भारत विज्ञान में आगे होगा, तो यह हम सब के लिए बड़े गर्व की बात है। तिब्बती आध्यात्मिक धर्मगुरु दलाई लामा ने कहा भी है कि नालंदा विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की जानेवाली शिक्षा की अनूठी विशेषता यह थी कि वह तर्क पर आधारित थी । लेकिन सारी दुनिया के साथ ज्ञान और चीजों की लेनदेन करनेवाला भारत दुनिया से पिछड़ इसलिए गया कि पुरोहितशाही ने ज्ञान के रास्ते बंद कर दिए। 'संशयात्मा विनश्यति' यह अपना ब्रीदवाक्य बना लिया। लेकिन आज हम जिसका दावा कर रहे हैं, अगर ऐसा विज्ञान भूतकाल में हमारे पास था तो उसका कोई हल्कासा पुरातात्विक सबूत तो मिलना चाहिए । इतना उत्खनन आज तक हुआ है, उसमें कोई एक भौतिक टुकड़ा । अगर नहीं तो दुनिया विश्वास कैसा करेगी ? केवल तुम्हीं अपने खयाली पुलाव में मस्त रहों।

ऐसी स्थिति में २२-४-२०१७ को दुनिया के भिन्न-भिन्न शहरों में १० लाख से अधिक वैज्ञानिक, शिक्षक, विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किए थे । भारत में हुआ उपरोक्त प्रदर्शन, उसी की एक कड़ी थी।

उपरोक्त ढंग के छद्म विज्ञान के कारण और आज प्रसार माध्यम द्वारा किये जा रहे प्रचार के कारण, पहले ही अंधश्रद्धा में डूबी जनता में क्या सन्देश जायेगा?

कई बार शास्त्रीय सत्यों को अलग-अलग दबाओं के नीचे, पीछे हटने पर महबूर किया जाता है।

किसी बात का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण समझ में आया तो श्रद्धा-अश्रद्धा का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। उदा. पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है यह अब सिद्ध हो चुका है तो यहाँ अब अलग सोच की या श्रद्धा-अश्रद्धा की बात कहाँ से उठेगी?

विज्ञान चुपचाप अपना कार्य करता है और वह भी मानवता की भलाई के लिए, बिना किसी के साथ कोई संघर्ष किए। क्या अध्यात्म और विज्ञान की कार्यप्रणालियों में कोई अंतर नहीं दिखता?

विज्ञानों का वर्गीकरण -

मोटे तौर पर विज्ञान को दो हिस्सों में वर्गीकृत किया जा सकता है -

१) प्राकृतिक विज्ञान: इस वर्ग में तटस्थता के साथ ही सूक्ष्मता के स्तर तक प्रयोग और निरीक्षण संभव है चूँकि प्रकृति में होनेवाली गतिविधियाँ, क्रिया-प्रतिक्रियाएं ये नियमबद्ध होती हैं और इस कारण इन नियमों को गणित की भाषा में व्यक्त करना संभव होता है।

२) सामाजिक विज्ञान: समाज यह मानव की निर्मिति है। अतः इसकी रचना में या कार्यप्रणाली में उतनी सटीकता नहीं होती। व्यक्ति और समूह के व्यवहारों में एक ही स्थिति में अंतर देखने में आता है। समूह का स्वभाव और व्यवहार इनके विषय में सटीक भविष्यवाणी करना लगभग असंभव सी बात है। सामाजिक विज्ञानों में गृहीत बातें, जानकारी, संकलन और विश्लेषण पद्धतियां, सिद्धांत इनके विषय में समाजशास्त्रियों में मतान्तर देखने को मिलते हैं । लेकिन यह अराजकता की स्थिति नहीं है। इसमें निरीक्षणों तथा सांख्यिकी के आधार पर सामान्य नियमों को आकार दिया जाता है।

जिस दिन वैज्ञानिकों द्वारा एक संयुक्त बयान जारी किया गया था , जिसमें देश में असहिष्णुता का वातावरण बढ़ने और विज्ञान तथा तार्किकता की सोच को कुंद किए जाने पर चिंता जताई गई थी। उसी श्याम एक टी.व्ही.चैनल पर इस बयान पर सार्वजनिक बहस हो रही थी। बहस के दौरान इस बयान पर टिप्पणी मांगने पर -----के प्रवक्ता ने वैज्ञानिकों के बयान को कई बार बचकाना कहकर खारीज कर दिया। इसे राष्ट्रविरोधी तक करार दिया।

यह देखकर कोई भी हक्का-बक्का रह जाएगा । जिस बयान को एक टुच्चासा प्रवक्ता बचकाना और राष्ट्रविरोधी कह रहा था उसपर चार शीर्ष अनुसन्धान केंद्रों: बंगलुरु स्थित इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस , नेशनल सेंटर ऑफ बायोलॉजिकल रिसर्च , मुंबई के टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, हैदराबाद की सेंटर फॉर सेलुलर एंड मॉलिक्यूलर बायोलॉजी इनके वर्तमान या पूर्व निदेशक शामिल थे । इन वैज्ञानिकों में से कइयों ने भारत में उच्च स्तरीय अनुसन्धान संस्थानों के पोषण के लिए पश्चिम में प्रतिष्ठित और आकर्षक नौकरियों को छोड़ दिया था लेकिन उस विशिष्ट प्रवक्ता के लिए सारे राष्ट्रविरोधी और बचकाने थे।

वैज्ञानिकों के विषय में ऐसी सोच रखनेवालों की पकड़ से देश मुक्त हो ऐसी सदिच्छा ही व्यक्त की जा सकती है । कोई आश्चर्य नहीं कि जिस समाज के ऐसे प्रवक्ता हैं उस समाज को पश्चिम की जूठन पर ही निर्भर रहने की नौबत आये । वैज्ञानिक आम तौर पर किसी भी राजनितिक विचारधारा से आपमें आप को दूर ही रखते हैं और सार्वजनिक बयानबाजी से भी । फिर भी यह नौबत क्यों आयी ? वे अपने काम में ही डूबे रहते हैं ।-----
(लो.स.:वैज्ञानिकों की अनदेखी ठीक नहीं :रामचंद्र गुहा)

छद्म विज्ञान

नए भरती हुए प्राध्यापकों के लिए विद्यापीठ अनुदान आयोग ने बनाए प्रशिक्षण कार्यक्रम में 'जीवन विद्या एक परिचय' नामक किताब का पठन करना है। अमरकंटक के किसी विद्वान् की लिखी यह किताब है। किताब में उद्धृत कुछ बातें -

मृत्यु के बाद भी जीवन का अस्तित्व होता है।

विज्ञानवाद के कारण मनुष्य अस्थिरता की ओर चल पड़ा है।

गलत विचार नष्ट करने के लिए 'समाधी' यह एकमात्र विकल्प है।

डार्विन केवल और केवल मनुष्य के शरीर का विकास समझ पाया।

फ्रायड मनुष्य को समझ ही नहीं सका।

इसमें आत्मा क्या है आदि संकल्पनाओं के विषय में भी विवेचन है।

उपरोक्त पुस्तक प्रशिक्षण के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ है। नवनियुक्त प्राध्यापक के लिए एक वर्ष के अंदर यह प्रशिक्षण पूरा करना अनिवार्य है। (फैकल्टी इंडक्शन प्रोग्राम)-----लोकसत्ता

- आज जो-जो वैज्ञानिक खोजें हुई हैं वे सब हमारे वेदों में थीं , पाश्चात्य लोगों ने उन्हें चुराया और अपने नाम पर खपाया । ऐसा मानना यह घोर आत्मवंचना तो है ही साथ में यह मानना भी है कि हमारे पूर्वजों ने सौपी थाती में वृद्धि करना तो दूर हम उसकी रक्षा भी नहीं कर सके । शवविच्छेदन संकल्पना का आदि पुरुष सुश्रुत को माना जाता है। इसके आधार पर एकत्र हुई जानकारी को संकलित कर हेनरी ग्रे इस वैद्यशास्त्र के अंग्रेज तज्ञ ने '**Anotomy of Human Body**' यह ग्रन्थ १८५८ में प्रसिद्ध किया । लेकिन मध्ययुग में तो हमारे यहाँ शव को छूना भी अपवित्र मानते थे । भारत में विद्वानों की कमी नहीं थी। लेकिन वे व्यस्त थे पुराण , चमत्कारों से भरे ग्रन्थ लिखने में। उपरोक्त ग्रन्थ आज भी उस विषय का आधारभूत ग्रन्थ माना जाता है । हमारे त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियों ने बनाई आयुर्वेद पद्धति दुनिया की एक श्रेष्ठ पद्धति है लेकिन हम आज भी मानते हैं कि उसमें किसी तरह का अनुसन्धान, उन महात्माओं का अपमान होगा। तो फिर ज्ञानवृद्धि कैसी होगी?

प्राचीन भारत में विज्ञान

ईसा.पू.३००० से लेकर तो ईसा पश्चात छठीं सदी तक भारत में विज्ञान के प्रति काफी काम हुआ।

मेहरगढ़ में हुए उत्खनन के आधार पर प्राचीन भारत में मानव सभ्यता का इतिहास लगभग आज से ७५०० वर्ष पूर्व तक जाता है । यह स्थान अब पाकिस्तान में है । वह कृषि करनेवाला तथा पशुपालक समाज था । वहां मिट्टी की ईंटों के घर , अनाज भंडार , ताम्बे के हथियार आदि मिले हैं।

इसके बाद का कालखंड है ईसा. पू .(३३००-१७००) का। हड़प्पा और मोहनजोदारो की सिंधु संस्कृति का। सुनियोजित शहर रचना का यह समय था।

इसके बाद के समय दरम्यान यहाँ अंकगणित , बीजगणित, खगोलशास्त्र का विकास हुआ। ज्ञान प्राप्त करने सारी दुनिया से लोग यहाँ आते थे।

पांचवीं सदी का आर्यभटः दशमान पद्धति की खोज , पृथ्वी गोल होने की और अपने अक्ष के गिर्द घूमने की बात, पाय की परिष्कृत कीमत आदि बातों का अन्वेषक उसे ही माना जाता है।

यहीं परंपरा आगे ले जानेवालों में वराहमिहिर (छठीं सदी) , ब्रह्मगुप्त (सातवीं सदी) , महावीर आचार्य (नवीं सदी) और भाष्कराचार्य (बारहवीं सदी) हैं।

शून्य की संकल्पना को भारत की ही देन माना जाता है।

ईसा पू.२४०० के दरम्यान गुजरात के लोथल में दुनिया का प्रथम बंदरगाह बना ऐसा माना जाता है।

ईसा की दूसरी सदी में रसायनशास्त्र के महान आचार्य नागार्जुन हुए।

भारत में कपास का उत्पादन ईसा.पू. तीसरी सहस्राब्दी में तो वस्त्रोद्योग सिंधु संस्कृति दरम्यान विकसित हुआ।

ईसा पश्चात दूसरी सदी : चरक।

महान शस्त्रक्रिया तज्ञ सुश्रुत ---सुश्रुत ने १०६ शस्त्रक्रिया उपकरणों की रचना की थी । यह उन्होंने इन निरीक्षणों के आधार पर की थी कि भिन्न-भिन्न मांसाहारी प्राणी शिकार को फाड़ने के लिए अपने जबड़ों का उपयोग किस तरह करते हैं।

तंत्रवाद का विज्ञान के लिए योगदान

तंत्रवाद या उसके अनुयायी तांत्रिक लोग शरीर के अंदर आंतरिक सत्य की खोज करते हुए किसी आध्यात्मिक सिद्धांत पर नहीं पहुंचे । उन्होंने मानव देह के भौतिक पक्ष पर ध्यान केंद्रित करते हुए स्नायु प्रणाली का पता लगाया और यह जान लिया था कि चेतना का निवास मस्तिष्क में है। (चरक-सुश्रुत के अनुसार चेतना का स्थल हृदय है) । शरीररचना विज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान के क्षेत्र में, हमारे देश में प्रमुख योगदान तांत्रिकों का ही है । इसका कारण है उनकी रुचि मनुष्य के शरीर के भौतिक स्वरूप में ही थी।

तांत्रिकों के शरीर रचना सम्बंधित मत के अनुसार दो नाड़ियां, सुषुम्ना नाड़ी के दोनों ओर समान्तर चलती हैं । सुषुम्ना नाड़ी नितम्ब से लेकर तो मस्तिष्क तक जाती है । इसी कारण सामान्यतः इसीको रीढ़ की हड्डी माना जाता है । सुषुम्ना के अंदर एक और नाड़ी मानी जाती है वज्राख्या। इसके बीच एक और नाड़ी है, चित्रिणी। संक्षेप में यह चित्रिणी मुख्य सुषुम्ना नाड़ी का अंतरतम भाग है। ऐसी धारणा है कि सुषुम्ना नाड़ी के सात अलग-अलग स्थानों पर सात पद्म अर्थात् कमल हैं। आधुनिक भाषा में यह स्नायुजाल है । प्रमुख नाड़ी सुषुम्ना पर नारीत्व के सात स्थान हैं। तंत्रों में सात शक्तियों, कुण्डलिनी, वाणिनी, लाकिनी आदि का उल्लेख है। प्रत्येक शक्ति एक-एक पद्म में विराजमान है। (तंत्रों में शक्ति का निश्चित अर्थ स्त्री या नारी है)। इन सात पद्मों के निश्चित आकार के चिन्ह हैं । इन चित्रों में अधिकांश पद्मों के अंदर एक त्रिकोण दिखाई देता है । सुषुम्ना नाड़ी के सबसे उपरवाले पद्म को सहस्रदल पद्म (हजार पंखुडियों वाला कमल) कहते हैं।

तंत्रवाद की योगसाधना , इसकी मनोदैहिक क्रियाएं हैं । तंत्रवाद की योगसाधना को शतचक्रभेद कहा जाता है। तांत्रिक सिद्धांत अर्थात् क्रिया के दो पक्ष हैं । एक है बाह्य पक्ष जिसका सम्बन्ध ब्रह्माण्ड से है और दूसरा है आंतरिक, जो मानव देह से जुड़ा हुआ है। तांत्रिक क्रियाओं की सिद्धि इन्हीं दो रूपों में व्यक्त होती है। आप अपनी आंतरिक सुप्त शक्तियों का विकास करके सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं या फिर बाह्य प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण करके अपनी आंतरिक शक्तियों की ओर बढ़ सकते हैं।---तंत्रों के अनुसार ब्रह्माण्ड और मानव देह एक ही समान सिद्धांतों और समान तत्वों से बने हैं तथा दोनों में एक ही प्रकार की शक्तियां सक्रीय हैं , इसलिए शरीर की आंतरिक शक्तियों को विकसित कर के आप ब्रह्माण्ड की शक्तियों को अपने पक्ष में कर , उनपर नियंत्रण कर सकते हैं। आप अपने अंदर सभी शक्तियों को विकसित तथा व्यक्त कर सके तो बिना किसी अन्य यंत्र के आप अपनी सभी इच्छाएं पूरी कर सकते हैं । प्रकृति और शरीर दोनों की सुप्त शक्तियों के

बीच एक अनोखा सम्बन्ध है। जिन क्रियाओं के आधार पर इस घनिष्ठ सम्बन्ध का ज्ञान होता है, इसे स्थापित किया जाता है और नियंत्रण में लाया जाता है, उन क्रियाओं को 'तंत्र साधना' कहते हैं। इसका आधार है देहतत्त्व । इसलिए सारे तंत्रवाद में देह से सम्बंधित प्रश्नों पर ही अर्थात् भौतिक पक्ष पर ही गहन रूप से ध्यान केंद्रित किया गया है।

इसीको आगे बढ़ाते हुए तांत्रिकों का रसविद्या और रसायनशास्त्र के क्षेत्र में बड़ा भारी योगदान रहा। रे की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री' से इस विषय में काफी जानकारी मिल सकती है। रासायनिक ज्ञान की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण तांत्रिक ग्रन्थ आठवीं शताब्दी का है जिसका नाम है 'रसरत्नाकर'। रे ने जिन अन्य ग्रंथों का आधार लिया उनमें रसार्णव, काकचांदेधारी मततंत्र, रसेन्द्रचूडामणि, रसप्रकाश सुधाकर आदि हैं । रे ने स्वयं कहाँ है कि सभी ग्रंथों को सूचिबद्ध करना संभव नहीं, फिर भी उनकी सूचि में दो दर्जन ग्रंथों के नाम हैं । इनमें से कुछ तो आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं लेकिन तिब्बती भाषा में वे सुरक्षित हैं।

तांत्रिकों ने प्रयोगशालाओं के लिए कई उपकरणों का अविष्कार किया है । वे उनको प्रत्यक्ष उपयोग में लाते थे। इन उपकरणों का नामकरण उनकी उपयोगिता और क्रिया के अनुसार मिलता है। जैसे दोल यंत्रम, स्वेदनी यंत्रम, ढेकी यंत्रम, पातन यंत्रम, विद्याधार यंत्रम, अधःपातं यंत्रम, तिर्यक पातन यंत्रम, धूम यंत्रम, कोष्ठी यंत्रम, वालुका यंत्रम आदि-आदि। इनके प्रत्यक्ष चित्र 'हिस्ट्री ऑफ केमिस्ट्री इन अन्सिएंट एंड मेडियल इंडिया' नामक पुस्तक में मिलते हैं।

भारत की छह दार्शनिक प्रणालियों के अनुसार 'मुक्ति' मृत्यु के बाद ही मिलती है। लेकिन तंत्रवाद के अनुसार मुक्ति का अर्थ है, देह का विकास और उसे पूर्णता तक पहुंचाने का प्रयत्न।

विद्वानों के अनुसार नालंदा , उदात्तपुर, विक्रमशिला तथा मगध विद्यालय आदि तंत्रवाद विकास के प्रमुख केंद्र थे और वहां के पाठ्यक्रम में रसविद्या एक अनिवार्य विषय होता था । अनुमान के अनुसार वहीं से इसका प्रसार दक्षिण भारत और तिब्बत में हुआ।

दक्षिण भारत -

तमिल साहित्य में ऐसी बहुत सारी कृतियां उपलब्ध हैं जो काव्य रचनाएं हैं लेकिन उन्हें उस समय के महान दक्षिण भारतीय तांत्रिकों की कृतियां माना जाता है । तमिल में इन्हें 'सित्तर' कहा जाता है। इसका अर्थ होता है तंत्रज्ञान के महान ज्ञाता। जिनका उल्लेख मिलता है ऐसे सित्तरों की संख्या अठारह है। इनमें एक नाम है 'बोगर'। कहा जाता है यह वास्तव में चीनी था जो तीसरी शताब्दी में भारत आया था। उसने रसायन और औषधी पर कई ग्रन्थ लिखे । वह पटना, गया में भी रहा। लेकिन उसने दक्षिण भारत जाकर वहां के सित्तरों से तंत्रवाद की दीक्षा ली और स्वयं एक सित्तर या ज्ञाता बन गया। शायद वह अरब होते हुए चीन लौटा।

एक और सितर है 'पुलिपानी'। ऐसा कहा जाता है कि वह बोगर के साथ ही चीन से भारत आया था । लेकिन तमिलनाडु में ही बस गया । उसने जादू-टोना , औषधी विज्ञान और रसविद्या से सम्बंधित कई ग्रंथ लिखे । तमिल सितरों की अधिकांश कृतियां , पाण्डुलिपि रूप में दक्षिण भारत के पुस्तकालयों में बिखरी पड़ी हैं । श्री रेड्डी नामक व्यक्ति ने उनमें से २७ पाण्डुलिपियों पर विस्तृत टिप्पणियां प्रकाशित की हैं । अन्य ३८ पाण्डुलिपियों का उल्लेख किया है । वैसे तमिल सितर, शंकर के भाववादी दर्शन के कट्टर विरोधी थे।

भाववादी दर्शन या प्राचीन धर्म ऐसा योगदान इसलिए नहीं कर सके चूँकि उनका सारा ध्यान वास्तव अस्तित्व के स्थान की जगह काल्पनिक संकल्पनाओं की रचना पर था।

दूसरा इससे भी महत्वपूर्ण कारण था अविवेकपूर्ण धार्मिक विश्वास । जैसे किसी भी शव को हाथ लगाना अपवित्र माना जाता था । यह काम केवल निम्न जातियों के सुपुर्द था जैसे डोम , चांडाल आदि। वे तो यह अपवित्र काम करते-करते मनुष्य शरीर रचना के ज्ञानी बन गए लेकिन उन्हें इस ज्ञान का उपयोग करने की भी मनाही थी । परिणाम यह हुआ कि पूरा समाज ही अज्ञानी रह गया। कहते हैं कोलकाता मेडिकल कॉलेज जब शुरू हुआ तो डॉक्टरी शिक्षा के लिए छात्र नहीं मिल रहे थे।

एक और बात की ओर ध्यान दिलाया जाता है। वह है तंत्रवाद और चीन के ताओवाद के बीच रही बहुत अधिक समानता । जिस तरह भारत में तंत्रवाद ने विज्ञान को आगे बढ़ाने में योगदान दिया उसी तरह चीन में भी वहां की विज्ञान वृद्धि को ताओवाद का ही बड़ा सहारा मिला।

मिथक

'मिथक' एक संकर शब्द है, जो अंग्रेजी के 'मिथ' शब्द में 'क' प्रत्यय के संयोग से बना है। 'क' प्रत्यय की यह विशेषता होती है कि उससे बननेवाला शब्द समानार्थी होता है । मिथ शब्द में 'रहस्य'(mystery), धर्म (theology), इतिहास तथा प्राक्कल्पना (hypothesis) के तत्व निहित होते हैं। अतः इनके संयुक्त रूपक को 'मिथक' कह सकते हैं।

डॉ .रमेश कुंतल मेघ की व्याख्या के अनुसार , "यह मानव जाति का सामूहिक अनुभव है। मिथक प्रागैतिहासिक घटना या आस्था है।"

यह ऐतिहासिकता का अतिक्रमण है। अतः इसमें न किसी क्रम, गति, विकास या परिवर्तन की अनिवार्यता है। उनके स्थान पर केवल रूपांतरण है (metamorphosis) है, धर्म तत्वों में।

भले ही लोककथाएं और किवंदंतियां , मिथक सामाजिक चेतना का हिस्सा होती हैं , लेकिन उन्हें इतिहास मान लेना या उनके आधार पर इतिहास लिख लेना अवैज्ञानिक है । हर बात का

तर्कसंगत आधार होना आवश्यक है । लेकिन "इंडियन कौंसिल ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च" के तत्कालीन नवनिर्भूत चेयरमैन का मानना है कि भारत एक अनवरत सभ्यता है और इसमें पुरातात्विक प्रमाणों पर ही आधारित इतिहास लेखन संभव नहीं है । प्रमाणों को खोजने का अर्थ होगा गावों की खुदाई और जनता को विस्थापित करना । हमें लोककथाओं पर ही आश्रित रहना होगा। (लो .स .१४-८-२०१४ 'इतिहास बोध के लिए चाहिए तर्कसंगत सोच': विश्वनाथ सचदेव)।

छद्म विज्ञान

एक शीर्षक: मुंबई विज्ञान कांग्रेस में आखिर पढ़ा गया विवादस्पद पर्चा: ७००० साल पहले भारत में थे विमान: (लो.स .५-१-२०१५) -

१०२ वीं भारतीय विज्ञान कांग्रेस में आज आखिरकार वह विवादस्पद पर्चा पढ़ ही दिया गया जिसमें पौराणिक कथाओं के वर्णन (मिथक) को इतिहास से मिलाने की कोशिश की गई है । 'ये विमान एक देश से दूसरे देश ही नहीं तो एक ग्रह से दूसरे ग्रह पर भी जाते थे ।' यह परचा एक पायलट प्रशिक्षण संस्थान के सेवानिवृत्त प्राचार्य ने 'संस्कृत के माध्यम से भारतीय विज्ञान 'विषयक संगोष्ठी' में पढ़ा। उन्होंने अपने समर्थन में प्राचीन वैदिक सूत्रों का तथा ऋग्वेद सहित ९७ संदर्भग्रंथों का उल्लेख किया जिनमें तथाकथित प्राचीन विमानन तकनीक का उल्लेख है । लेकिन वैज्ञानिकों ने इस प्रयास की ही आलोचना की । चूँकि यह दावा वैज्ञानिक साक्ष्यों पर नहीं तो मिथकीय कहानियों पर आधारित है । अतः यह प्रयास १०२ साल पहले स्थापित भारतीय विज्ञान कांग्रेस के मूल उद्देश्य से ही भटकाव है।

दोबारा २०१८ के भारतीय विज्ञान कांग्रेस के एकसौछठें फगवाड़ा अधिवेशन के मंच से जिन बातों का उल्लेख एक विद्यापीठ के कुलगुरु द्वारा किया गया वे निम्न थीं -

- १) टेस्टट्यूब बेबी तंत्र के माध्यम से कौरवों का जन्म (स्टेम सेल थेरपी सहित)
- २) रावण का पुष्पक विमान (भिन्न भिन्न प्रकार के चोवीस विमान थे। लंका में कई हवाई अड्डे थे।)
- ३) महाभारत के समय के मिसाइल्स (विष्णु का सुदर्शन चक्र)।
- ४) विष्णु के दस अवतार याने डार्विन का उत्क्रांति सिद्धांत।

उपरोक्त अनुभव के बाद इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसिएशन ने यह निर्णय लिया कि अगले वर्ष से अधिवेशन में प्रस्तुत होनेवाले भाषणों का पूर्व परीक्षण किया जाएगा।

नवम्बर २०१४ के अंत में हमारे माननीय पंतप्रधान आस्ट्रेलिया गए थे। वहां हमारे गृहमंत्री जी ने एक भाषण में वहां के जनों को ज्ञात करवाया कि वैज्ञानिक वेर्नर हैज़ेन्बर्ग ने अपना प्रसिद्ध 'अनिश्चितता का सिद्धांत' वेदों से लिया था (लेकिन उनके मंत्रालय के कुछ अति उत्साही शिष्यों ने हैजेनबर्ग का नाम भी नहीं सुना होगा लेकिन प्रेस विज्ञप्ति तो निकालना था। तो उन्होंने अनिश्चितता के सिद्धांत के साथ आइज़नहावर का नाम चिपका दिया | (इंडिया टुडे ३ दिसंबर २०१४)

अनिश्चितता का सिद्धांत तब प्रस्तुत हो सका जब वैज्ञानिक परमाणु के अंदर नाभिक के कणों तक पहुंचे और जो वेद लगातार शाश्वतता की खोज में ही व्यस्त थे वे अनिश्चितता के सिद्धांत तक किस रास्ते से पहुंच गए ? प्राचीन ग्रंथों की पुराणगाथाएँ और आधुनिक वैज्ञानिक खोजें एक ही तराजू के दो पलड़ों में कैसे बैठेंगी?

ऐसा पता चला है कि गुजरात कुछ समय पहले नौ पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं और वे अतिरिक्त पठन के लिए स्कूलों में मुफ्त वितरित की हैं | कहा यह जा रहा है कि ये पुस्तकें विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति से परिचित कराएंगी | इन किताबों के लेखक ----- है जो एक पुराने स्वयंसेवक है और शिक्षा बचाव समिति के अध्यक्ष है।---इनमें से एक पुस्तक में लिखा है, गौ सेवा करने से राजा दिलीप को पुत्र प्राप्ति हुई | दूसरी में है कि वैदिक काल में हमारे यहाँ 'अनश्चरथ' याने कारें चला करती थीं, आदि-आदि।

एक समाचार के अनुसार अखिल भारतीय अभियांत्रिकी शाखा के अभ्यासक्रम में ऐसी खोजों का अंतर्भाव किया गया है जिस कारण वैदिक समय के अन्वेषण, ऋषि-मुनियों के सिद्धांत आदि का भी अध्ययन इस शाखा के छात्रों को करना होगा | जैसे अगस्त ऋषि ने पानी के ऑक्सीजन और हैड्रोजन इन घटकों की खोज की थी। न्यूटन के गति नियमों की खोज वास्तव में कणाद ऋषि ने की थी। ऋग्वेद में गुरुत्वाकर्षण की खोज अंतर्भूत है। आदि।

लेकिन अभ्यासकों की मांग है कि इस किताब को वापस लिया जाए चूँकि उपरोक्त जैसे दावों के लिए कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है | इसके लिए होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन संस्था के एक महोदय ने ऑन लाइन मुहीम भी चलाई है।

इस वर्ष से अभियांत्रिकी शाखा के लिए पुरे देश में एक ही अभ्यासक्रम की रूपरेखा लागू की गई है। इसमें 'इंडियन नॉलेज सिस्टम' यह विषय अंतर्भूत है। इस विषय के लिए किताबों की सूची में 'एसेंस ऑफ़ इंडियन नॉलेज ट्रेडिशन' इस विषय के लिए 'भारतीय विद्या सार' यह किताब है। इस किताब के कारण भी विवाद खड़ा हुआ है।

२४ फरवरी २०१९ के दिन औरंगाबाद में राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के दौरान तमाम डॉक्टरों की उपस्थिति में एक सांसद महोदय ने दावा किया कि वे नाड़ी देखकर , मन्त्रों और भभूत के जरिए लोगों की बिमारियों का इलाज करते हैं। वे भभूत या तो खाने के लिए या फिर तकिये के नीचे रखने के लिए देते हैं। इससे कई बीमारियां ठीक हुई हैं। महोदय विज्ञान के स्नातक हैं।

रामटेक के कुलगुरु कालिदास संस्कृत विद्यापीठ ने अमेरिका के फ्लोरिडा वि.वि. के सहयोग से और वेदांग ज्योतिषी विभाग की ओर से (विद्यापीठ अनुदान आयोग द्वारा प्रायोजित) आयोजित कार्यक्रम में गर्भलिंग निदान को ज्योतिष्यशास्त्र के चौखट में सजाकर उसका समर्थन किया गया। यह देखकर अधिकतर उपस्थितों को आश्चर्य का धक्का ही लगा । (लोकसत्ता -९-१२-२०१८)

रामटेक संस्कृत विद्यापीठ में ज्योतिष्य विभाग भी है लेकिन उसमें प्रवेश लेनेवालों छात्रों की संख्या अत्यल्प है।

एक टी.वि.शो में किये गए दावे के अनुसार राम का जन्म ७१२९ वर्ष पूर्व १० जनवरी को दोपहर के १२ बजे हुआ था। मिथकों में आए वर्णन तथा ज्योतिष्य की गणना को आधार बनाकर सॉफ्टवेयर द्वारा यह तिथि निकाली गई है। फिर रामायण काल लाखों साल पहले का है इस दावे का क्या?

आज हमारे देश में विज्ञान और तंत्रज्ञान की स्थिति

आज हमारे देश में संख्या की दृष्टि से दूसरे क्रमांक के वैज्ञानिक और तंत्रवैज्ञानिक हैं । आज भी IIT के विश्वस्तरीय माने जानेवाले एक तिहाई छात्र विदेशों में चले गए हैं , जिसे विज्ञान विभाग १३ अरब डॉलर का नुकसान मानता है । ----(दूसरी ओर)-----भूमंडलीकरण की आंधी में भी हम नई तकनीक के नाम पर पश्चिम की पुरानी तकनीक का आयात करते हैं। विदेशों से किए हुए समझौतों की संख्या २० हजार से भी अधिक है । विशेष क्षेत्र छोड़ दिए तो हमने स्वयं विकसित की तकनीकें काफी कम हैं।

लेकिन जब डॉ. हरगोविंद खुराना और डॉ. एस. चंद्रशेखर जैसे इसी देश में पैदा हुए वैज्ञानिक विदेश जाते हैं तो नोबेल पुरस्कार पाते हैं। (लो.स.२ मार्च २०१२ :निरंकार सिंह)

इसका कारण साफ है , हमारे देश में बौद्धिक विकास के लिए खुला वातावरण नहीं है । हमारी सोच कुन्द है।

कनाडा में प्रति हजार व्यक्ति के पीछे १८० और रूस में १४० वैज्ञानिक हैं, जबकि भारत में केवल ८ ।

इसरायल जैसा छोटा देश अपनी **G.D.P** का ५% विज्ञान पर खर्च करता है। तो हम बड़ी मुश्किल से १%। (विज्ञान से विरक्ति की वजहें :लो.स.)

शिक्षा के व्यवसायीकरण ने शुद्ध विज्ञान के प्रति रुचि में कमी आयी है।

जागतिक टैलेंट रैंकिंग में भारत ५३ वे स्थान पर है । (प्रथम १० देशों में -स्विट्ज़रलैंड, डेनमार्क, नॉर्वे, ऑस्ट्रिया, नीदरलैंड, कनाडा, फ़िनलैंड, स्वीडन, लक्ज़ेम्बर्ग, और जर्मनी है)

विज्ञान जाग्रति के प्रति -

केरल शास्त्र साहित्य परिषद् केरल में जन-विज्ञान आंदोलन का अग्रिम दस्ता है । परिषद् का नारा है- सामाजिक क्रांति के लिए विज्ञान । साथ ही परिषद् का अनुभव यह बताता है कि सारा अभियान तात्कालिक आर्थिक वातावरण और विकास गतिविधियों से जुड़ा होना चाहिए । वह बच्चों के लिए बुनियादी विज्ञान पत्रिका 'यूरेका' तो हाईस्कूल छात्रों के लिए विज्ञान मासिक 'शास्त्र केरलम' प्रकाशित करता है। इनका वितरण दस हजारों में है। वयस्कों और ग्रामीणों के लिए अलग पत्रिकाएं हैं। परिषद् सारे राज्य में वैज्ञानिक विषयों पर हजारों की संख्या में कक्षाएं भी लगाती हैं जिनमें स्वास्थ्य संसद का भी अंतर्भाव है । इस तरह वह अपने और जनो के कच्चे अनुभवों को जोड़कर प्रकृति के साथ जीने के नए तरीके, नई भाषा, नई पद्धतियां बनाने का प्रयत्न करती है।

आज पुरे देश में ऐसी गतिविधियों की आवश्यकता है।

हमारे देश में महाराष्ट्र , बंगाल, केरल तथा तमिलनाडु केवल इन्ही प्रान्तों में वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा वैचारिक स्तर पर विज्ञान प्रसार की विस्तृत परंपरा दिखाई देती है । महाराष्ट्र में 'मराठी विज्ञान परिषद् ' यह विज्ञान प्रसार करनेवाली सबसे पुरातन संस्था है । आज वैज्ञानिक संज्ञाओं का भारतीय भाषाओं में प्रतिरूप प्रतिपादित करनेवाले शब्दकोष उपलब्ध हैं । आजादी के बाद, वैज्ञानिक स्तर पर पिछड़े देश को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा करने की शुरुवात करने का श्रेय भारत के प्रथम पंतप्रधान पं. जवाहरलाल नेहरू की दूरदृष्टि को है , जिसमें उन्हें साथ मिला इस उद्देश्य के प्रति समर्पित वैज्ञानिकों का।

जीवन उत्पत्ति और चेतना

अध्यात्म का दावा है कि जड़ भौतिक से जीवन या चेतना उत्पन्न हो ही नहीं सकती । दोनों एक दूसरे से पूरी तरह भिन्न तत्व हैं।

दक्षिण अमेरिका के चिली और पेरू देशों में 'एटाकामा' नामक रेगिस्तान है। उसे पृथ्वी पर पोलरेतर प्रदेशों में सबसे सुखी जगह, माना जाता है। वहां दशकों में कभी तो हलकी-फुलकी वर्षा होती है। वहां का पर्यावरण मंगल ग्रह के समान होने की बात मानी गयी है । अतः बर्लिन टेक्निकल विद्यापीठ वैज्ञानिकों की टीम ने २०१५ -२०१७ के दरम्यान वहां के पर्यावरण तथा वहां जीवन की संभावना, विषय पर संशोधन किया । दल नेता डिक-सुल्झ-मकुच के अनुसार उनका वहां ऐसे जीवाणु से सामना हुआ जो सैकड़ों ही नहीं तो हजारों वर्षों तक सुप्त स्थिति में पड़े रह सकते हैं। लेकिन मामूली वर्षा के संपर्क में आते ही उनमें जीवन प्रस्फुटित होता है । (ग्लफ न्यूज:१-३-२०१८)। अन्य शब्दों में यह निर्जीव तत्व में उचित परिस्थिति प्राप्त होते ही सीधे जीवन प्रस्फुटित होने का मामला है।

जैविक क्रमविकास

प्राचीन यूनान में एक दार्शनिक हुए एम्पीडोक्लीज। वे डॉक्टर, कवि, वक्ता, वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने जीवित अँगियों की उत्पत्ति पर एक साहसिक कल्पना, सर्वप्रथम प्रस्तुत की थी और जैविक क्रमविकास के आधार के रूप में प्राकृतिक चयन की बात को उठाया था । उन्होंने मानव शरीर की संरचना में बड़ी दिलचस्पी ली थी।

इसके अतिरिक्त भी उन्होंने बताया था कि चन्द्रमा , वायु संघनन के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आया है। प्रकाश एक निश्चित गति से फैलता है। उस समय यह एक निश्चित ही अति बुद्धिमत्ता पूर्ण अनुमान था।

अब जैविक विकास का पूरा चित्र ही उपलब्ध है । इसे बनाने में दो महान खोजों का महत्व है।

१) १९ वीं सदी के तीसोत्तरी दशक में जैविकविद थियोडोर श्वान और वनस्पति वैज्ञानिक मैथियाज श्लेदेन ने जीवित अँगियों के विकास का अध्ययन करते समय कोशिका की खोज की , जो सारे पेड़-पौधों और प्राणियों की संरचना का आधार है।

२) अंग्रेज प्रकृति वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित क्रमविकास का सिद्धांत । "पौधों से लेकर मनुष्य तक सारी प्रकृति एक अनवरत प्रवाह और क्रमिक विकास की स्थिति में है । "जीव सृष्टि के ऐतिहासिक उत्क्रांति का विचार उन्होंने सर्वप्रथम रखा। सारे जीव एकसाथ पैदा नहीं हुए तो एक से दूसरा , दूसरे में से तीसरा ऐसी साफ-साफ कड़ियाँ हैं । मानव इसमें सर्वोच्च बिंदु पर है। डार्विन भौतिकवादी थे। उन्होंने निसर्गशास्त्र को गतिवादी भौतिकवाद की नींव प्राप्त करा दी।

सरलतम अंगी एक कोशिकीय है। जीवन का और अधिक परिष्कृत होना यह एक जटिल , लम्बी ,व्याघातक विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को 'जैविक क्रमविकास' कहते हैं। क्रमविकास के दौरान जीवित अंगी अधिक जटिल और परिष्कृत बनते गए । पर्यावरण तथा जीवन की सारी दशाएं धीरे-धीरे बदलीं इस कारण अँगियों की वही किस्में जीवित बची रहीं जो इन परिवर्तनों के लिए सर्वोत्तम ढंग से अनुकूल थीं । पर्यावरण के प्रति अनुकूलन दो प्रक्रियाओं पर आधारित है -

१)पुष्ट-दर पुष्ट संचालित होनेवाले अनुगुण तथा विशेषताएं अर्थात् आनुवंशिकता

२) परिवर्तनशीलता।

जीवन संघर्ष के दौरान अंगी अधिक जटिल और परिष्कृत होते गए और इसी प्रक्रिया में एककोशीय से बहुकोशीय अँगियों में संक्रमण हुआ । बहुकोशीय अँगियों की कोशिकाओं के समूह और अंग भिन्न-भिन्न कार्य के लिए विशेषीकृत हुए । समय व्यतीत होते-होते तंत्रिका-कोशिका नामक कोशिकाओं के विशेष समूह उत्पन्न हुए, जिनके जिम्मे परावर्तन का कार्य आता है। इसका अर्थ है पर्यावरण के असर के प्रति अनुक्रिया करने की अंगी की क्षमता । इसमें वह एक निश्चित समय के अंतराल में अपनेको इस ढंग से परिवर्तित कर लेता है कि वह उस प्रभाव के प्रति बेहतर ढंग से अनुकूलित और अपनेको जीवित तथा सुरक्षित रखने में समर्थ हो जाता है। उत्तेजना का आधार भौतिक जैवविद्युतीय प्रक्रियाएं हैं।

जीवित अँगियों का विकास

निष्क्रिय अनुकूलन: इसका अर्थ है एक जीवित अंगी अपने अस्तित्व के लिए केवल पर्यावरण में उपलब्ध अनुकूल दशाओं को ही चुनता है किन्तु उनकी संरचना करना तो दूर , उन्हें खोजता भी नहीं। पौधों सहित सभी बहुकोशिकीय अँगियों में उत्तेज्यता होती है । खिड़की में रखा हुआ जिरेनियम का पौधा, प्रकाशित पक्ष की तुलना में, अप्रकाशित पक्ष की अपनी पत्तियों को, हार्मोनों की गति के जरिए उस दिशा की ओर मोड़ लेता है , जहाँ उसे उसकी जीवन क्रिया के लिए आवश्यक और सौर प्रकाश, उसपर पड़ता है । यह भी एक प्रकार का चयनात्मक , फिर भी निष्क्रिय अनुकूलन है क्योंकि पौधा न तो प्रकाश की खोज में निकल पड़ता है और न ही प्रकाश की कमी होने पर उसकी रचना करता है।

जब तंत्रिका तंत्र अधिक जटिल हो गया और मस्तिष्क की उत्पत्ति हो गई तो धीरे-धीरे निष्क्रिय से सक्रीय में संक्रमण होने लगा । क्रमविकास की अगली अवस्था में अधिक विकसित प्राणियों में (मत्स्य, कीट, जलस्थलधारी, स्तनपायी) एक जटिल बहुशाखीय तंत्रिकातंत्र बन गया। अर्थात् तंत्रिका आवेगों को अन्य अंगों तक संचारित करने , पूर्ववर्ती प्रभाव के विषय में सूचना संग्रह (स्मरण) करने और पर्यावरण से प्राप्त संकेतों की प्रोसेसिंग करने तथा उनमें फेरबदल करने के विशेष कार्य करने लगा।

उच्चतर जानवरों में सक्रीय अनुकूलन , जैसे अपने निवास के लिए पर्यावरण का सक्रीय उपयोग, अधिक अनुकूल दशाओं की खोज तथा अपनी जीवन क्रिया के लिए , चाहे सीमित पैमाने पर ही क्यों न हों , पर्यावरण को अनुकूलित करने में निहित है । लेकिन उनकी गतिविधियों में कोई योजना नहीं होती और वे बाह्य वास्तविकता को अमूलतः रूपांतरित नहीं करते । जानवरों के व्यवहार के अनेक रूप , क्रम विकास के लाखों वर्षों के दौरान विकसित होते हैं । वे अनुवंशिकता द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचारित होते हैं । व्यवहार के इन अन्तर्जात रूपों को सहजवृत्ति कहते हैं । वे अत्यंत जटिल हो सकती हैं। किन्तु जीवन की स्थितियों में तीव्र परिवर्तन होते ही, ये प्राणी अपने ही सहज वृत्ति के बंदी हो जाते हैं और नयी स्थितियों के अनुकूल अपने आप को ढालने में अक्षम हो जाते हैं । इसके अलावा वे उन दशाओं को निर्णायक ढंग से बदलने तथा उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुसार अनुकूलित करने की स्थिति में नहीं होते , भले ही उच्चतर में विशेष तंत्रिका कोशिकाओं से विशेष अंगों की रचना हुई हो । लेकिन जब मनुष्य जैसे प्राणी का उद्भव हुआ, तो वही पर्यावरण के सारे परावर्तनों तथा उसके साथ अंतर्क्रिया के नियंत्रण का कार्य करने लगा और वह अंग बना मस्तिष्क।

चेतना

- चेतना, भूत द्रव्य के दीर्घकालिक विकास का उत्पाद है।

श्रम की प्रक्रिया में मनुष्य प्रकृति का मानवीकरण करता है और अक्सर ऐसी वस्तुओं का भी निर्माण करता है , जिनका प्रकृति में अस्तित्व नहीं होता । कुछ निश्चित संक्रियाओं को सैकड़ों, हजारों वर्षों की अवधि में करोड़ों बार दोहराकर , मनुष्यों ने अंगों , सर्वोपरि हाथों को परिष्कृत किया और इसी के साथ मानव मस्तिष्क भी विकसित हुआ। इस प्रकार श्रम की प्रक्रिया, मानसिक क्रियाकलाप के उच्चतम रूप याने चिंतन और चेतना का आधार बनी।

- वस्तुओं के बिम्ब हमारे मस्तिष्क में हैं और इस अर्थ में आत्मगत हैं । लेकिन उनको व्यक्त करने वाली भाषा भौतिक है । भाषा का जन्म समाज में हुआ । भाषा के दो प्रमुख कार्य हैं- १) चेतना की अभिव्यक्ति २) सूचना का सम्प्रेषण।
- मस्तिष्क सजीव भूतद्रव्य का उच्चतम, सर्वाधिक जटिल और संघटित रूप है। जब मनुष्य में बीमारी या चोट लगने के कारण तंत्रिकाएं क्षतिग्रस्त हो जाती हैं , तब अनुसांगिक कार्य बुरी तरह गड़बड़ा जाते हैं । इससे असंदिग्ध तौर पर स्पष्ट हो जाता है कि , मानसिक क्रियाकलाप अपनी प्रकृति से ही, भौतिक मस्तिष्क के कार्यों का परिणाम है।

अभी तो वैद्यक शास्त्र की प्रगति के कारण (**MRI, EEG, SCAN**) हम जानते हैं, कि मस्तिष्क में १८० भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं । न्यूरोन्स के रूप में इन क्षेत्रों में , आपस में संपर्क और सूचनाओं का आदान-प्रदान होता है । इन न्यूरोन्स की भौतिक स्थिति के अनुसार हमारे मनोभाव , हमारा व्यक्तित्व और हमारी कल्पनाएं बनती हैं । तंत्रिका तंत्र भौतिक है और इसकी क्रिया में जिनकी महत्वपूर्ण भूमिका है , वे जैव विद्युत् आवेग भी भौतिक है, जो कई भौतिक रासायनिक परिवर्तनों को उभारते हैं।

चिंतन को अपरिष्कृत रूप में उद्धृत किया था फ्रांसीसी यांत्रिक भौतिकवादी जूलियन लामेंट्री (१७०९-१७५१) ने। उनके अनुसार मनुष्य एक विराट घड़ी की तरह है और जटिल यंत्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है । तो १९ वीं सदी के कुछ गँवारू भौतिकवादियों ने (कार्ल वोक्त, लुडविग बुख्नर , जैकब मोलेशोट आदि) दावा किया था कि चिंतन और चेतना भौतिक है। चिंतन मस्तिष्क से उसी तरह श्रवित होता है, जैसे जिगर से पित्त।

लेकिन फ्रांसिसी भौतिकवादी देनी दिदेरो (१७१३ -१७८४) ने आत्मगत भौतिकवादियों के इस प्रश्न का कि यदि भूतद्रव्य अजैव है तो उससे एकदम ही भिन्न स्वरूप वाली चेतना कहाँ से आई, उत्तर देते हुए अनुमान लगाया था कि भूतद्रव्य के अपने आधार में ही एक विशेष अनुगुण है जो मुलतः संवेदनों से मिलता-जुलता है । इसीसे संवेदन की क्षमता और बादमें चिंतन का जन्म हुआ। अपने अनुमान के समर्थन में उन्होंने चूजे और अंडे का उदाहरण दिया । अंडे में संवेदन और विश्व के प्रत्यक्षण की क्षमता नहीं होती, जबकि उसीसे उत्पन्न होनेवाले चूजे में होती है। इससे उन्होंने तर्क दिया कि संवेदन की क्षमता अजैव भूतद्रव्य से उत्पन्न हुई । १८वीं सदी के विज्ञान को आज की तुलना में जीवन और चेतना के विषय में बहुत कम जानकारी थी । इस कारण दिदेरो इस सम्बन्धी शतप्रतिशत प्रामाणिक सिद्धांत नहीं दे सके। लेकिन उनका कार्य लेनिन ने पूर्ण किया। इस सिद्धांत को 'परावर्तन का सिद्धांत' कहते हैं।

परावर्तन का सिद्धांत

परावर्तन भूतद्रव्य का सार्विक, मूलभूत, अविभाज्य तथा वस्तुगत अनुगुण है। यह उतनाही वस्तुगत है जितना कि उसके दूसरे (जैसे गति, काल, देश आदि) है। इसके अलावा देश और काल में भौतिक घटनाओं की गति के बिना परावर्तन असंभव है। यह परावर्तन हर भौतिक वस्तु का (परावर्तन के विषयी) का अपने साथ अंतर्क्रियाशील अन्य भौतिक वस्तुओं (विषयों) के प्रभाव के प्रति अनुक्रिया करने का एक विशेष गुण है। भौतिक विश्व के दीर्घकालिक क्रमविकास तथा भूतद्रव्य की गति के रूपों की बढ़ती हुई जटिलता के दौरान यह अनुगुण अंततः मानव चेतना तथा चिंतन में विकसित हो गया। चेतना परावर्तन का उच्चतम रूप है।

उसी तरह ऑगस्ट फोरेल ने २६-९-१८९४ को विएना में हुए जर्मन प्रकृतिवादियों और चिकित्सकों के छठे अधिवेशन में पढ़े प्रबंध में कहा था, "प्रमस्तिष्कीय क्रिया का आंतरिक प्रतिबिम्ब चेतना है।"

थॉमसन चेतना का और एक पहलु उजागर करते हैं। मानव की चेतना सामाजिक प्रतिबिम्ब है, समाज का उत्पाद है। इसी कारण वह समय-समय पर बदलती रहती है और एक ही बाह्य विश्व, संस्कृति के भिन्न-भिन्न स्तरों वाले लोगों को इतना भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

इसे भारतीय परिप्रेक्ष में भी समझा जा सकता है। सांख्य में तीन तत्व माने जाते हैं। सत्त्व (शुभ्रता, आनंद आदि), रजस (गति, संवेदन, पीड़ा आदि) और तमस (बाधा, प्रमाद आदि)। जिसे हम चेतना कहते हैं उसमें भलेही सत्त्व का प्राबल्य रहता हो फिर भी प्रत्यक्ष में उसमें कुछ तो रजस और तमस के अंश विद्यमान होने चाहिए। तो फिर चेतना या चिंतन एक अप्रत्यक्ष मस्तिष्कीय प्रक्रिया से विहीन कैसे हुआ?

चेतना या चिंतन मस्तिष्कीय प्रक्रिया है यही मत ज्ञान के भौतिकवादी सिद्धांत का मूल आधार है। चेतना का अर्थ इससे अलग क्या है? स्वतंत्र विचार, कार्य के मार्ग का चयन स्वयं करना आदि।

विचार

विचार के पूर्व अनुभूति आती है। हम प्रारम्भ करते हैं वस्तुओं के गुणों का ज्ञान प्राप्त करके। फिर विचारचक्र शुरू होता है।

जोजेफ डिटज के अनुसार विचार भौतिक है। लेकिन लेनिन ने इस दृष्टिकोण को गवारं, सरलीकृत और इस कारण भूतद्रव्य तथा चेतना के बीच सम्बन्ध का मिथ्याकरण कहा। वे विचार को भूतद्रव्य से अलग नहीं मानते। लेकिन यह मानते हैं कि भूतद्रव्य के विकास के नियमों से संचालित तथा आवश्यक परिणाम के रूप में, मन या चेतना,

भूतद्रव्य के विकास की उच्चतर अवस्थाओं उसका सर्वोच्च उत्पाद है और विचार , संवेग तथा संकल्पशक्ति आदि उसके उत्पाद।

हक्सले के अनुसार,"निश्चित ही विषय सम्बन्धी तथ्यों से परिचित कोई भी व्यक्ति आजकल इस बात में संदेह नहीं करता कि मनोविज्ञान की जड़ स्नायविक प्रणाली के रचना विज्ञान में है। जिन्हें चित्तवृत्तियाँ कहते हैं वे मस्तिष्क के कार्य हैं।

फायरबाखः स्वयं अपने लिए मैं मनोवैज्ञानिक वस्तु हूँ किन्तु किसी दूसरे के लिए मैं शरीर विज्ञान की वस्तु हूँ।

शेलिंग ने पहले ही कहा है कि चित्त सदा एक टापू की तरह रहेगा, जहाँ पदार्थ के सागर से छलांग लगाए बिना पहुंचा नहीं जा सकता।

मानसिक घटनाएं

१) ज्ञान **knowledge** २) इच्छा **desire** ३) भावना **feeling**

हमारी चेतना में दो वृत्तियाँ प्रधान रहती हैं -१) भावमय वृत्ति २) ज्ञानमय वृत्ति दोनों ही प्रकार की वृत्तियों में संवेदनाओं के रूप रहते हैं । भावमय वृत्ति की स्थिति में वे उजागर नहीं रहते जबकि ज्ञानमय वृत्ति की स्थिति में उजागर रहते हैं।

डेविड ह्यूम ने मानसिक अनुभूतियों को दो वर्गों में विभक्त किया है।

१) विचार अथवा कल्पना (**idea**): ये यथार्थ में हो भी सकते हैं और नहीं भी। लेकिन मूल आधार तो प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप विधान ही हैं।

२) संस्कार (**impression**): सब सजीव अनुभूतियाँ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से होती हैं । ह्यूम कहते हैं ; ऐसा एक भी उदाहरण प्रस्तुत करें जो यह निर्दिष्ट करे कि हमारे विचार पूर्वानुभूति से अर्थात् संस्कारों से प्रादुर्भूत नहीं हैं।

रसेल के अनुसार: किसी भी मानसिक घटना के मूल में संवेदना रहती है । संवेदनाओं के आधार पर मानसिक घटनाएं भौतिक जगत से जुड़ी हैं।

डी.एन.ए.

आज जीव के होने की पहचान जिसे माना जाता है वह डी.एन.ए. यह भी तो नाइट्रोजन का आमलारी घटक डी ऑक्सीराइबोज नामक शर्करा और फॉस्फेट ग्रुप से बना हुआ है। (१९५२ में जेम्स वाट्सन और फ्रांसिस क्रीक इन्होंने डी एन ए के चक्राकार रचना की खोज की थी) । डी.एन. ए में जींस या जनूकें होती हैं । प्रत्येक मनुष्य में उनकी विशेष रचना होती है । यही बात, व्यक्ति को दूसरों से अलग पहचान दिलाती है। जनूकें अगली पीढ़ी में संक्रमित होती हैं। अपत्य के रूप में जनूकों का सातत्य इसे ही पुनर्जन्म माना जा सकता है । अपत्य के रूप में माता-पिता का पुनर्जन्म होता है।

कट्टरता और उदारता का द्वंद्व

सनातन शब्द का परंपरागत अर्थ है प्राचीन। लेकिन इसकी उत्पत्ति देखी जाए तो सनातन की परिभाषा होगी, "सनातन वह है जो पुनर्नवीन होता है, प्रतिदिन नवीन होता है।"

"सनातनो उत एवं पुनर्नवीनं"

- कट्टरता, असुरक्षा की भावना से उत्पन्न होती है। असुरक्षा की भावना से रहित समाज उदार होता है।

इस्लाम में भी यह द्वंद्व देखा जा सकता है। ईरान, दक्षिण-पूर्व एशिया के इंडोनेशिया, मलेशिया जैसे देशों में उसे किसी बड़े प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। उसमें असुरक्षा का भय नहीं रहा। अतः उसका स्वरूप उदार ही रहा। ईरान में उसने इस्लाम पूर्व के रुस्तम सोहराब जैसे नायकों को अपने इतिहास पुरुष मान लिया तो दक्षिण पूर्व एशिया में रामायण-महाभारत की कहानियों को अपनी सांस्कृतिक विरासत में शामिल कर लिया।

भारत का समाज छोटे-छोटे राज्यों में बंटा था। ये राज्य आपसमें लड़ते रहते थे। दूसरी बात थी, समाज जातियों में बंटा होने के कारण उनमें जो शोषण व्यवस्था थी, उस कारण पूरा समाज एकत्र नहीं आ पाता था। इस कारण वह बाहर से आये अतीव आक्रमक मुस्लिमों द्वारा तो पराजित हो गया। लेकिन जहाँ तक अत्यंत प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की बात है, स्वयंपूर्ण ग्रामीण जनजीवन की बात है, वह अत्यंत समृद्ध था। मुस्लिम इसमें सेंध लगाकर उसे तोड़ने में सफल नहीं हुए। इस वजह से शायद उन्हें यह कमी हमेशा खलती रही हो और यहाँ का समाज उन्हें शासक तो मानता रहा लेकिन अपने से अलग एक आक्रमक के रूप में। इस कारण ये दो समाज कभी एकजान न हो सके। यहाँ इस्लाम एक अल्पसंख्यक धर्म के रूप में ही बना रहा, छह सौ साल राज करने के बाद भी। एक छोटासा वर्ग ही इस्लाम की तरफ मूड़ सका, सारे प्रयत्नों के बावजूद।

हिन्दू समाज में वेद-उपनिषद काल में विषमता की जननी, जाति व्यवस्था इतनी कठोर नहीं थी। उसमें निम्न स्थिति में जन्मा व्यक्ति भी ऋषि पद प्राप्त कर सकता था। लेकिन पुराण-स्मृति काल में जाति व्यवस्था कठोर होती गयी। बाद के समय में पैदा हुए कुछ धर्मों, सम्प्रदायों ने, भक्ति आन्दोलनों ने भी इस व्यवस्था पर चोट करने की कोशिश की।

लेकिन जहाँ तक मुस्लिमों के विषय में मानसिकता का संबंध है उनसे पराजित होने का शल्य, उनमें हमेशा बना रहा । इस प्रकार इस्लाम और हिन्दू धर्म , दोनों एकदूसरे के प्रति असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहें । इस्लाम अल्पसंख्यक होने के कारण कट्टरता की ओर झुका रहा।

मस्तराम कपूर जैसे चिंतकों ने इसे इस तरह प्रस्तुत किया है -

"अकबर के साम्राज्य को बड़ी चुनौती नहीं मिली तो वह उदारता की ओर बढ़ा ।
औरंगजेब के साम्राज्य को चारों ओर से खतरा पैदा हुआ तो वह कट्टरता की ओर झुका।"

पाश्चात्य समाज बदलता रहा । पिछली सदियों में वहां प्रगतिशीलता की ओर ले जाने वाले आंदोलन लगातार होते रहें। दूसरे विश्व युद्ध के बाद तो यूरोप उदारता, मानवता, लोकतंत्र की ओर काफी आगे बढ़ गया। इसका उदहारण है जर्मनी। दूसरे महायुद्ध के दरम्यान लाखों ज्यू लोगों का संहार इसी देश में हुआ था । लेकिन पाश्चिमात्य लोगों ने इतिहास से काफी कुछ सीखा है । आज सीरिया से आनेवाले मुस्लिम शरणार्थियों को मानवता के आधार पर सारे यूरोपियन देशों ने सहायता करनी चाहिए इसकी सबसे अधिक पैरवी जर्मनी की चांसलर मार्केल ही कर रही है । जबकि मुस्लिम आतंकवादी ही आज दुनिया में आतंक मचाये हुए हैं।

अतिरेकी आदर्शवाद से अधिनायकवाद जन्म लेता है यह इतिहास है। आदर्शवाद को सिरे तक खींचने से सिद्धांत की अमूर्तता का वास्तवता के साथ रिश्ता टूट जाता है और वास्तवता का रूपांतर आभासी वास्तवता में हो जाता है और यही आभासी रिश्ता दुनिया के साथ स्थापित होता है। ऐसी दुनिया में मनुष्य अपने 'स्व' को सहलाते रहता है।

वैसे भी रुढ़िवादिता और लोकतंत्र का आपसमें मेलजोल कैसे हो सकता है?

यह आवश्यक नहीं कि नई उभरनेवाली विचारधारा प्रगतिशील ही हो । लेकिन अधिकतर नई धाराएं समाज में सुधार करने के उद्देश्य से ही शुरू हुईं। पुरानी, जो अपनी सार्थकता खो चुकी हैं ऐसी बातों के विरोध के साथ। लेकिन यह वास्तवता है कि कुछ समय बाद यह विचारधारा भी अपनी सार्थकता खो देती है। उसमें भी फिर कट्टरता के जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं । इतिहास में यही प्रक्रिया चलती रहती है।

जब कट्टरता और आक्रमकता की प्रवृत्तियां पैदा होती हैं तो वह प्रणाली विकास में बाधक हो जाती है। उसी तरह कट्टरता का उभरना किसी समाज को जड़ता की ओर ले जाता है।

कट्टरता, सलमान रश्दी, संजय लीला भंसाली, दीपिका पादुकोने जैसों का सिर काटकर लानेवालों के लिए करोड़ों के बक्षीसों की घोषणा करती है। तस्लीमा नसरीन से स्थाई जीवन जीने

का हक छीन लेती है। एम्.एफ.हुसैन जैसों को मजबूर कर देती है कि वे अपनी मिटटी से अपने आपको निर्वासित कर लें। वह केवल इसलिए कि इन लोगों ने तर्क का उपयोग किया था लेकिन उसके कारण किसीको कोई नुकसान नहीं पहुंचाया था । लेकिन समाज को करोड़ों , अरबों से लूटनेवालों के प्रति समाज आंदोलित नहीं होता।

मार्च २०१८ में 'दहशतवाद के विरुद्ध संघर्ष में सहिष्णुता, उदारता तथा संवाद' इस विषय पर' अबुधाबी नेशनल एक्सिबिशन सेंटर' में दो दिन का सम्मलेन हुआ। उसमें यह स्पष्ट हुआ कि दुनिया के १०८ देशों में किसी न किसी रूप में आतंकवाद का अस्तित्व है।

लेकिन इसपर आम सहमति थी कि आतंकवाद की ओर लोगों के आकर्षित होने का कारण वास्तव में समाज में व्याप्त असमानता, बेरोजगारी जैसे भौतिक और सामाजिक कारण हैं। धर्म की तो केवल आड़ ली जा रही है। धर्म के आधार पर इस प्रश्न का समाधान होना नहीं है। समाधान तो भौतिक दुनिया में ही ढूँढना होगा । अफगानिस्तान के आंतरिक मामलों के उपमंत्री मेजर जनरल मसूद अजीजी ने आगे कहा , 'समाज में कुछ लोग अति शक्तिशाली हैं तो कुछ सभी दृष्टि से वंचित। यह स्थिति लोगों को आतंकवाद की ओर ढकेलती है। लोग अपने अधिकारों के संघर्ष के लिए एकत्रित होने के स्थान पर धर्म के नाम पर जल्दी एकत्र हो जाते हैं, इस कारण धर्म का दुरुपयोग हो रहा है। लेकिन इस कारण संघर्ष का स्वरूप वास्तव के स्थान पर विद्रूप हो जाता है।

असहिष्णुता

सर्वप्रथम बौद्धिकता पर २००४ वर्ष में हमला किया गया था और वह था पूना के भंडारकर संस्था पर किया गया हिंसक हमला।

सत्य की खोज आपपर एक विराट दायित्व बोध का भी उत्तरदायित्व सौंपती है । हाँ, प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता इस विराट दायित्वबोध को वहन करने की नहीं होती। अतः उनके लिए, समाज के पथ-प्रदर्शक कुछ बिम्बों का निर्माण कर देते हैं। बादमें ये बिम्ब ही कट्टरता के प्रतीक बन जाते हैं।

वर्ण और जाति

यह स्थापित हो चुका है कि दुनिया का हर समाज कबीलों अर्थात् जनजातियों की अवस्था से होकर ही विकसित हुआ है। प्रारम्भिक वैदिक जन भी इसके लिए अपवाद नहीं हो सकते।

कहा जाता है कि 'गोत्र' विशुद्ध रूप से ब्राह्मणीय व्यवस्था है लेकिन कोई ब्राह्मण अगर 'कश्यप' गोत्र का है तो यह नाम 'कच्छप' या 'कछुए' से बना है। इसका अर्थ हुआ, इस गोत्र के सभी लोग एक ही मूल पूर्वज के वंशज हैं। लेकिन विद्वान् इसे कच्छप कबीले की अतिजीविता का द्योतक मानते हैं जो टोटमवाद से जुड़ा है।

जनजातीय समाज के प्रारम्भिक चरण में श्रम विभाजन केवल स्त्री और पुरुष के ही बीच था। किन्तु पशुपालन, कृषि, दस्तकारी के विकास से निश्चित व्यवसाय परंपरागत होते गए। कबीलों में श्रेणियों का उद्भव हुआ। श्रेणी की सदस्यता केवल उसमें जन्म लेने से ही नहीं मिल जाती थी। वैसे अति पुरातन कबीलों में आम तौर पर अन्य श्रेणियों के लोगों को भी सम्मिलित कर लिया जाता था।

प्राचीन भारत की सूत (रथवाहक), वेणु (बंसरी बजानेवाले), नट (नर्तक), कैवर्त (मछुए) आदि जातियां या तो वास्तविक व्यावसायिक कबीले थे या व्यावसायिक जातियों के रूप में, हस्तशिप में लगे कबीलों के अवशेष थे।

स्लेटर के विचार के अनुसार, "व्यावसायिक वर्ग जादू, धार्मिक अनुष्ठान अर्थात् अपने व्यवसाय के रहस्यों को बनाए रखने की स्वाभाविक इच्छा के कारण सगोत्रीय बन गए।"

उत्पादन के आधार पर कामगार संघ यूरोप में भी बने थे। लेकिन उनका रूपांतर जन्मगत जातीय व्यवस्था में नहीं हुआ। वास्तव में किसी समय वर्ण व्यवस्था यह व्यवसाय पर ही आधारित और लचीली थी। लेकिन बाद में वर्ण से लोग जाति में, जाति से उपजाति में विभाजित होते रहे। सबसे अधिक अमानुष व्यवहार के लक्ष्य बने दलित। दुनिया में इससे अधिक दमनकारी, अमानवीय व्यवस्था शायद ही कहीं अस्तित्व में आयी हो। भलेही आज तुम कहते रहों कि शुरू में उपरोक्त व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं थी। लेकिन जिन करोड़ों लोगों ने, इतिहास में इस व्यवस्था के अंतर्गत अमानुष यातनाएं झेलीं, उनके लिए इन सारे स्पष्टीकरणों का क्या अर्थ है?

वर्ण अर्थात् हिन्दू समाज का चार वर्गों में विभाजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र)। आप जिस वर्ण में जन्म लेंगे, उसमें तुम्हें ही क्यों, तुम्हारी अगली सारी अनंत पीढ़ियों को रहना ही है।

दुनिया की व्यवस्थाओं में , गुलामों के पास भी यह सम्भावना होती थी कि कुछ शर्तों के साथ आजाद हों। लेकिन भारत की वर्ण व्यवस्था में इसके लिए कोई स्थान नहीं । पुरातन समय में व्यक्ति स्वयं कोई उपक्रम करे , इसकी कोई संभावना नहीं थी । व्यक्ति की आजादी और गरिमा इनकी कोई कीमत नहीं थी । ऊपरी वर्णों को अधिकार अधिक और तौलनिक दृष्टि से उत्तरदाईत्व कम; निचले वर्ण के हिस्से में इससे उलटी स्थिति थी । और उसमें आपका जन्म किस वर्ण में होगा यह आपके पिछले जन्मों के संचित कर्मों पर अवलंबून होगा, ऐसी मान्यता थी।

यह सब हुआ धर्म के नाम पर । इतिहास यही बताता है कि जाति व्यवस्था का उद्गमस्थान धर्म ही है। या दुनिया में कम से कम सामाजिक असमानता को न्यायोचित ठहराने का काम तो उसने किया ही है।

भारत में जनगणना की विश्वसनीय रिपोर्ट केवल १८७१-७२ से मिलनी शुरू हुई । उसके अनुसार उस समय भारत में ब्रिटिश शासन के अधीन लगभग अठारह करोड़ साठ लाख लोग थे और सामंती राज्यों में पांच करोड़ चालीस लाख। उनमें लगभग एक करोड़ सत्तर लाख तो मान्यता प्राप्त शासक जातियों के थे । लेकिन ग्यारह करोड़ लोगों के बारे में , जो भारतीय जनसंख्या का काफी बड़ा हिस्सा था , को ब्रिटिश अधिकारियों ने मिलीजुली नस्लवाली आबादी कहा जो मुख्यतः अनार्यों से उत्पन्न हुई थी।

आज की सांख्यिकी के अनुसार भारत में ३७४३ जातियां हैं।

आज की स्थिति क्या है ? इक्कीसवीं सदी में भी इसका प्रचार करना पड़ता है कि मैंने दलित के घर खाना खाया।

अनुसूचित जाति, विमुक्त जाति, घूमंतु जातियां तथा अन्य पिछड़ी जातियां आदि प्रवर्गों के छात्रों को जाति आरक्षण के आधार पर मिलनेवाली सुविधाएं लेने के लिए जाति प्रमाणपत्र प्राप्त करना होता है। उसके लिए प्रस्तुत किए जानेवाले आवेदन में आवेदक, जिन देवदेवताओं की पूजा-अर्चना करता है, उसकी जानकारी देनी होती है। जानकारी न देने पर आवेदन प्रलंबित रखा जाता है। इस कारण छात्रों को परेशानियों का भारी सामना करना पड़ रहा है । (लोकसत्ता :मराठी : १/३/२०१७ :जात पडतालणी साठी देवदेवतांची साक्ष)

नागपुर विश्वविद्यालय का शैक्षणिक विभाग और सम्बद्ध महाविद्यालयों में दाखिला लेनेवाले कई विद्यालयों से, पंजीयन (**Enrollment**) प्रक्रिया के तहत धर्म और जाति का उल्लेख करने को कहा जा रहा है। ऐसा न करनेवाले विद्यार्थियों का ऑनलाइन आवेदन फॉर्म स्वीकार नहीं किया जा रहा है। वि.वि. के इस फैसले से कई सवाल खड़े हो रहे हैं।(लोकमत समाचार :३०/८/२०१७)

ऐसा कहा जाता है कि इस देश में कानून का राज है। लेकिन देश में कहीं जाति-पंचायत है तो कहीं खाप पंचायत है। खाप पंचायत यह एक सामाजिक व्यवस्था है। उतनी ही प्रभावशाली तथा कट्टरतावादी। विशेष रूप में हरियाणा तथा उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में। पिछले कई वर्षों से ये पंचायतें उस-उस समाज के व्यक्तियों के सामाजिक, सांस्कृतिक इतना ही नहीं तो व्यक्तिगत जीवन भी नियंत्रित करती हैं। उदा, विवाह सम्बन्ध यह उसीका एक हिस्सा है। इस सम्बन्ध में प्रचलित परम्पराओं का उल्लंघन का मतलब घोर अपराध। खाप के कानून के अनुसार उसके लिए मृत्युदंड भी दिया जा सकता है और कुछ घटनाओं में ऐसा हुआ भी है। सर्वोच्च न्यायालय ने इसके प्रति कड़ा आक्षेप लिया है और ऐसी टिप्पणी की है कि इसे रोकने के लिए सरकारें जल्दी से जल्दी कारवाही करें। अन्यथा न्यायालय को हस्तक्षेप करना होगा।

लेकिन इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हरियाणा के माननीय मुख्यमंत्री जी ने कहा कि इन पंचायतों की आठ सौ सालों की परंपरा है। उनके अनुसार ये पंचायतें, लोकतंत्र का ही एक रूप हैं और समाज के लिए उपयोगी हैं। वे समाज सुधार का काम करती हैं।

अगर ऐसा है तो उनके द्वारा की जानेवाली 'ऑनर किलिंग' की वारदातें, समाज को बाहर के तथाकथित प्रदुषण से बचाने के लिए आवश्यक है ऐसा भी मानना होगा चूँकि यह अस्मिता का प्रश्न है। ऐसी संस्थाओं की अस्मिता केवल जाति से ही जुड़ी है, बल्कि उसके पीछे धर्मगौरव का पार्श्व भी नाकारा नहीं जा सकता और फिर तो यह बात धर्म पर हमले की बात तक पहुँचने में देर नहीं लगती। लेकिन आम तौर पर सभी राजनीतिक दलों ने इन गतिविधियों के लिए चुप्पी ही साध रखी है। यह व्यवस्था कभी लोगों द्वारा बनाई गई थी इसलिए क्या उसे आज लोकतंत्रात्मक माना जा सकता है? क्या शिक्षा ने हमारी बुद्धि को मुक्त किया है।

यह पूना की एक घटना है। डॉक्टरेट उपाधि से विभूषित एक महिला, तथाकथित वैज्ञानिक, पुलिस में शिकायत दर्ज कराती है कि उसके पास खाना बनानेवाली बाई ने अपनी जाति छुपाकर उसके साथ धोकेबाजी की है। जाति छुपाकर छुआछूत का खाना बनाया है। खाना बनाने के लिए विधवा नहीं तो सुहागन ही चाहिए।

जो व्यक्ति विधवा को अपवित्र मानती है वह धार्मिक भले ही हो, बुद्धिमान भले ही हो लेकिन उसे बुद्धिवादी और सुसंस्कृत कैसे कहा जाएगा? आधुनिक, उच्च शिक्षा हममें वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न करेगी ही यह जरूरी नहीं और यही चिंता की बात है। हम वैज्ञानिक दृष्टि के लिए घोषणाएं भले ही करते हों। इसपर तुरंत जाने उस महिला के जाति संगठन ने उसका खुला समर्थन भले ही न किया हो लेकिन यह जरूर कहा कि उसे अपनी धार्मिक आस्थाओं का पालन करने का पूरा अधिकार है। तो दूसरी ओर आरोपी महिला के जाति संगठन ने ही उसके प्रति निषेध व्यक्त करने में अगुवाई की। 'छूत की रसोई' उसी महिला ने दो सालों तक बनाई अर्थात् अपना कर्तव्य

वह ठीक ढंग से करती रही तो पवित्रता भंग नहीं हुई । लेकिन उसकी जाति का परिचय होते ही सारा मामला गड़बड़ा गया । यहाँ व्यक्तिगत रूप से किसी पर दोषारोपण करना नहीं है । लेकिन किसी ने यह जो कहा है कि आज भारत घनीभूत समस्याओं का एक पुंज है , यह कथन एकदम सत्य है। बुद्धिमत्ता और तार्किकता में विरोधाभास यही आज हमारी पहचान है।

(लोकसत्ता :समाचार ८/९/२०१७: ९/९/२०१७: लोकमानस: ११/९/२०१७)

माननीय प्रधानमंत्री भले ही कहते रहे कि हमारा संविधान ही हमारी आज की संहिता है लेकिन आज भी एक तबके की आस्था , छुपी तरह क्यों न हो, 'मनुस्मृति' में है ,यह सब जानते हैं। 'मनुस्मृति' जो किसी ज़माने में भारतीय समाज की आचार संहिता ही मानी जाती थी। लेकिन उसका डॉ, बाबासाहब आम्बेडकर ने सार्वजनिक दहन किया था।

आपको सुनकर आश्चर्य होगा , आज भी दुनिया में यह आंदोलन चलाया जा रहा है कि कुछ जातियां या वर्ण जन्मगत ही बुद्धिमान और अन्यो से अधिक सक्षम होते हैं । इसको "Scientific Racism" नाम दिया गया है। बाकायदा वे लोग "Mankind Quarterly" नाम का नियतकालिक भी चलाते हैं। यूनिवर्सिटी कॉलेज लन्दन में "Race scientist" लोगों का सम्मलेन भी २०१८ के शुरू में आयोजित हुआ था। (गल्फ न्यूज़ २७/१/२०१८)

प्रगतिशील आंदोलनों का अध्यात्म के विरुद्ध संघर्ष

लोकसत्तात्मक राज्यसत्ता को जन्म देनेवाली फ्रेंच राज्यक्रांति के बाद शुरू हुई मनुष्य की आजादी , समानता और बंधुता की यात्रा का ही यह परिणाम है कि आज मानवाधिकारों को दुनिया में सबसे अधिक महत्व मिल रहा है । लोकतंत्र और कल्याणकारी राज्य की संकल्पनाएं सामने आई हैं। यहाँ सब कुछ मानव कल्याण के लिए होना चाहिए इस विचार को आमतौर पर मान्यता मिली हुई है । आज कोई भी संवेदनशील चिंतक मानवाधिकारों के प्रति तटस्थ या विरोधी नहीं हो सकता।

आज किसीने अगर किसी दलित-शोषित के प्रति सार्वजनिक ढंग से यह कह दिया कि उसके दुःखों का कारण उसके पिछले जन्मों के कर्म हैं और इस जन्म में दुःख भोगकर ही उसे मुक्ति मिलेगी तो उस व्यक्ति की समझ के बारे में दुनिया की क्या प्रतिक्रिया होगी ? एक सदी पहले ऐसी समझ आम बात थी।

और यह सोच पैदा होने के लिए पिछली तीन सदियों में जो सामाजिक प्रगतिशील आंदोलन हुए उनमें से अधिकतर आन्दोलनों का , दुनिया की बौद्धिक मुक्ति के लिए आध्यात्मिक , धार्मिक संकल्पनाओं के विरुद्ध संघर्ष यह अविभाज्य हिस्सा रहा है । उन्होंने इन संकल्पनाओं को साफ तौर पर नकार दिया है । उनका यह नकार यँही नहीं था , पूरी तरह तर्काधिष्ठित था । इन संघर्षों के बिना दुनिया आगे बढ़ ही नहीं सकती थी।

आज ऐहिक जीवन का व्यवस्थापन-

विज्ञान ही नहीं तो समाजशास्त्र जैसी वैज्ञानिक सोच पर आधारित शाखाएं बनती गईं और मानवी ऐहिक जीवन का प्रपंच ही अपने आप को , धार्मिक क्षेत्र से अलग करता गया । आज दुनिया के लगभग हर हिस्से में समाज व्यवस्थापन , नियंत्रण के लिए संविधान है , कानून है। उनमें ऐहिक बातों पर धर्म की पकड़ को पूरी तरह नकारा गया है । इसका साफ अर्थ है इस क्षेत्र में, धर्म , अध्यात्म , ईश्वर अनुपयुक्त होने की बात पुरे मानव समाज ने मान ली है , केवल साम्यवादियों ने ही नहीं।

कई राज्यों ने कानून बनाकर पुजारियों की नियुक्ति के साथ मंदिरों का कारोबार अपने नियंत्रण में ले लिया है। इस सन्दर्भ में पुश्तैनी पुजारी का दावा खारिज करने की केस के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय कहता है , "धर्म का अर्थ है , मनुष्य और सर्वोच्च शक्ति इनके बीच का

सम्बन्ध। वह श्रद्धा का है। ऐहिक बातें और कृति धर्म नहीं हो सकती।" अब पीछे उल्लेख किया है, उसके अनुसार आध्यत्मिक दृष्टि से ऐसा कहने वाले सारे लोग अल्प बुद्धि और दया के पात्र ही हैं।

धर्म जब इन क्षेत्रों में अतिक्रमण करने का प्रयत्न करता है तब समस्याएं पैदा होती हैं क्योंकि ईश्वर, अध्यात्म, धर्म ये व्यक्तिगत आस्था की बातें हैं । लेकिन उनके कारण सामाजिक जीवन अशांत असुरक्षित और विद्रूप नहीं होना चाहिए।

आज दुनिया में भलेही प्रत्येक स्थान पर , लोकतंत्र उसके अपने अधिकतम परिष्कृत रूप में अस्तित्व में न आया हो लेकिन दुनिया ने मान लिया है कि दुनिया के पास आगे बढ़ने के लिए लोकतंत्र के अलावा और कोई विकल्प नहीं है । लोकतंत्र में समस्याओं के समाधान ढूंढने , समायोजन के बेहतर अवसर होते हैं । दूसरी ओर दुनिया में दक्षिणपंथी विचारों का उभार देखने को मिल रहा है । ट्रम्प महोदय का अमेरिका का राष्ट्रपति बनना , पोलैंड में दक्षिणपंथी सरकार आना, ऑस्ट्रिया में नवनाझी पार्टी को मिली भारी सफलता आदि । दुनिया इस कारण चिंताग्रस्त तो है और इस स्थिति से निकलने के लिए वह प्रयत्नशील भी है । लेकिन इसके लिए वह किसी अलौकिक शक्तियों की शरण में नहीं जा रही है। बीसवीं सदी के अनुभव से उसने यही सीखा है।

(१९७४ में लोकतान्त्रिक देशों की संख्या केवल ३५ थी, वही २०१३ में वह १२० हो गई है।)

शुरू में विज्ञान यह दर्शन में ही अंतर्भूत था। अपने परिवेश के प्रति कल्पना करना यह मनुष्य का स्वभाव है। उसके पास कल्पनाओं का , जानकारी का संग्रह एकत्र होता गया । उसे तुम दर्शन कहों या कुछ और। दुनिया पर नियंत्रण था धर्म का। उदा. यूरोप पर पोप का। लेकिन जैसे-जैसे अनुभव के आधार पर उसका वस्तुनिष्ठ ज्ञान और विचारों के सामान्य सिद्धांत सामने आने लगते हैं वैसे कल्पनाओं पर आधारित दर्शन , वैचारिक संग्रहालय की वस्तु बनते जाते हैं । विज्ञान की अधिकाधिक शाखाएं उभरने लगीं , उनका विस्तार होने लगा तो आज अमूर्त दर्शन और संकल्पनाओं का क्षेत्र सिकुड़ता जा रहा है।

म.गाँधी और रविंद्रनाथ टैगोर का एक संस्मरण (श्री एन.के.सिंह :विचार प्रवाह ;लोकमत समाचार :११/२/२०१७)

म.गाँधी और रविंद्रनाथ टैगोर के बीच एक संवाद हुआ जिसमें दीनबंधु सी.एफ.एंड्रूज भी उपस्थित थे। इस संवाद में दो मुद्दे थे । पहला था मूर्तिपूजा और दूसरा राष्ट्रवाद । दोनों मुद्दों पर दोनों महान विभूतियों में व्यापक मतभेद था । गाँधी जी का मानना था कि जब तक भारतीय समाज तार्किक रूप से और सोच के स्तर पर परिपक्व नहीं होता तबतक मूर्तिपूजा जारी रहनी चाहिए। टैगोर का मानना था कि इस समाज को शास्वत रूप से अबोध मानना गलत है लिहाजा मूर्तिपूजा समाप्त होनी चाहिए।

इस संवाद की तारीख तो नहीं दी गई लेकिन फिर भी हो सकता है यह अस्सी से सौ साल पुराना हो। मूर्तिपूजा की उपस्थिति और तार्किक परिपक्वता का व्यत्यासी सम्बन्ध क्या इससे स्पष्ट नहीं होता?

आधुनिक काल का उदय

राजनीति क्षेत्र : रूसो ने राजतन्त्र को नष्ट कर जनतंत्र का मन्त्र दिया।

दर्शन क्षेत्र: देकार्त ने, ज्ञान का आधार विश्वास, इस मध्यकालीन अवधारणा को हटाकर, ज्ञान का उद्गम 'संशय' में है, इस अवधारणा को स्थापित किया।

चिंतन क्षेत्र: चिंतन के क्षेत्र में संशयवादी पद्धति ने एक क्रांति की।

स्पिनोजा -ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में एकमात्र तर्क उसके विषय में हमारा अज्ञान है नीत्से -'ईश्वर मर गया।'

फायरबाख ने भौतिकवादी दर्शन को आगे बढ़ाया।

मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी।

फलस्वरूप मध्ययुगीन सामंततंत्र के टूटने और जनतंत्र की स्थापना की प्रक्रिया आरम्भ हुई। साथ ही साथ तर्काधिष्ठित चिंतन आरम्भ हुआ।

परिणामस्वरूप यंत्रयुग सर्वप्रथम इंग्लैंड में आया । औद्योगिक क्रांति से जनतांत्रिक क्रांति की ओर कदम यहीं बढ़े । बढ़ते-बढ़ते, छोटे से छोटे व्यक्ति के गरिमामय जीवन के लिए तात्त्विक तौर पर क्यों न हो स्वीकृति मिली।

भारत ने इन सारी अवधारणाओं को मान्य किया है । भारत का भी, मानव सभ्यता के उत्थान में अपना योगदान था ही। लेकिन मध्ययुग में यहाँ की व्यवस्था ने एक अतार्किक रूप ले लिया था। आज का भारतीय समाज उस मानसिकता से पूरी तरह ऊपर नहीं उठा है । भारतीय समाज में यह मिथक जड़ जमाए बैठा है कि भूतकाल का युग स्वर्णयुग था।

परम्पराएं और संविधान

ता .१३/१०/२०१७ को भारत के सुप्रीम कोर्ट ने केरल के सबरीमला मंदिर में महिलाओं के प्रवेश पर पाबन्दी का मामला पांच सदस्यीय संवैधानिक पीठ को सौंप दिया । यह पीठ फैसला करेगा कि बारहवीं शताब्दी में , पथनामथिट्टा जिले में निर्मित इस मंदिर में दस से पंधरा साल आयु की महिलाएँ जाएं या नहीं।

सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले साल अप्रैल में मंदिर प्रशासन से पूछा था कि क्या परंपरा , संवैधानिक अधिकारों से ऊपर हो सकती है । कोर्ट ने यह भी बताने को कहा था कि वह किस आधार पर मंदिर में महिलाओं को प्रवेश करने से रोकता है।

इसपर मंदिर प्रशासन की दलील थी कि महिलाएं मासिक धर्म के समय 'शुद्धता' बनाये नहीं रख सकतीं। मंदिर अपवित्र हो सकता है । प्रबंधन ने यह भी कहा था कि भगवन अयप्पा ब्रह्मचारी है।

इसके अलावा यह पीठ इसपर भी विचार करेगी कि-

१) क्या यह प्रथा हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग है, जिसमें सुप्रीम कोर्ट को दखल देने का कोई हक नहीं है। (१९९१ में केरल उच्च न्यायालय ने इस पाबन्दी को सही ठहराया था)

२) क्या भगवान में आस्था रखनेवाले इंसानों के बीच , लिंग के आधार पर भेदभाव किया जा सकता है?

आज सर्वोच्च न्यायालय को यह सोचने को मजबूर होना पड़ रहा है कि कोई परंपरा श्रेष्ठ है या भारत का संविधान। जबकि दुनिया के संविधानों का आधार ही यह है कि मानव के रूप में जन्म लेनेवाले इस जीव को उसी रूप में स्वीकार किया जाए । उसे, मानव के रूप में प्राप्त अधिकारों की रक्षा हों और साफ-साफ दिखता है कि कई परम्पराएं इसके विरुद्ध हैं । इसी कारण दुनिया में, अधिकतर समाजों में, धर्म को राजनीति, प्रशासन इनसे पूर्णतः अलग कर दिए गया है।

शतुर्मुखों द्वारा रेत में अपनी गर्दन घुसाने के बारे में हमने सुना है । यह अजीब है , पर ऐसा कहा जाता है कि दो लाख शतुर्मुखों पर ८० सालों तक हुई स्टडी के दौरान किसी भी शतुर्मुख द्वारा रेत में अपनी गर्दन घुसाने का कोई मामला सामने नहीं आया । लेकिन मनुष्य के रूप में जन्म लेनेवाले हम, रेत में घुसाई हुई गर्दन बहार निकालने तैयार ही नहीं।

ऐसी परम्पराओं की संख्या हजारों, लाखों में दी जा सकती है जिनके कारण हमें दुनियां में अपनी गर्दन झुकानी पड़ेगी।

जलिकट्ट-

जलिकट्ट अर्थात् सांडों की लड़ाई । 'प्राणी क्रौर्य प्रतिबंधक कानून ' के अंतर्गत इसपर २०१४ से पाबन्दी है। लेकिन २०१७ के शुरू में इसपर से पाबन्दी हटाने की मांग हुई जिसने एक आंदोलन का रूप ले लिया। यह इस आधार पर कि यह सांस्कृतिक प्रतीक है। भूतपूर्व मुख्यमंत्री से लेकर तो कई बड़ी हस्तियों ने इसे हटाने की मांग की। और २३ जनवरी २०१७ को तो तमिलनाडु विधानसभा ने पाबन्दी हटाने का प्रस्ताव सर्वमत से पारित किया । इसके पीछे-पीछे कर्नाटक में 'कम्बाला' शर्यत (भैसों की पारम्परिक स्पर्धा), महाराष्ट्र में बैलगाड़ियों की स्पर्धा, असम में बुलबुल झुंज आदि के लिए मांग उठने लगी।

इस सांस्कृतिक प्रतीक का परिणाम निम्न है -

- १) ता.२२-१-२०१७ का चेन्नई/मद्रुरै से समाचार :हिसाचार में ३ मृत, १२९ पर उपचार शुरू।
- २) ता.१६-१-२०१८ मद्रुरै :जलिकट्ट में १९ वर्षीय युवक (कालीमुत्थु) की मौत, २५ घायल।
- ३) ता.१७-१-२०१८ मद्रुरै: शिवगंगा जिले के सिरवायल में दो दर्शकों की मौत । तिरुचिरापल् जिले के आवरंगदू में जलीकट्ट के दौरान एक भड़के हुए बैल ने सोलाई पांडियन नाम के एक व्यक्ति को मार डाला।

*वर्ष २००१ की जनगणना के अनुसार , देश में स्कूलों से ज्यादा मंदिर , मस्जिद, चर्चस, गुरुद्वारे हैं। इसी तथ्य के अनुसार देश में धर्मस्थलों की संख्या २४ लाख थी जबकि सभी प्रकार के शिक्षण संस्थान मिलकर २१ लाख ही थे। लेकिन इनमें ५०%-६०% धार्मिक स्थल अवैध स्थलों पर हैं और ऐसे ही अधिक बनते जा रहे हैं। क्या अधिक से अधिक पूजा स्थलों के निर्माण से हमारा समाज महान बन जायेगा? इन अवैध गतिविधियों ने तो हमारी श्रद्धा को बदरंग ही कर दिया हैं। सच तो यह हैं कि सार्वजनिक जमीन पर कब्जा करने के लिए माफिया और असामाजिक तत्वों ने धार्मिक आस्थाओं का भरपूर दोहन किया हैं। धार्मिक स्थलों की इस अवैध पकड़ से निपटने के लिए सुप्रीम कोर्ट ने सितम्बर 2010 में सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिया था कि वे सार्वजनिक स्थलों , सड़कों, नुक्कड़ों एवं उद्यानों में किसी धार्मिक स्थल निर्माण की अनुमति न दे । साथ ही इस बारे में एक विस्तृत नीति तैयार कर सार्वजनिक स्थलों पर अनधिकृत रूप से खड़े ऐसे ढाचों को हटाया जाए। ऐसे ढाचों के कारण कई बातों के लिए दिक्कतें खड़ी हो जाती हैं। दुनिया ने यह बात समझते हुए बहुत पहले ही कठोर कारवाही की हैं। भारत में

जितने भूभाग पर मंदिर निर्मित हैं उतने भूभाग पर दुनिया में और कहीं , शायद ही भगवान ने कब्जा कर रखा हों।

हमारी यहाँ धार्मिक आस्था इतना नाजुक विषय हैं कि कोई भी सरकार उससे टकराने की कोशिश नहीं करती। उसमें हमारे यहाँ प्रशासन और नागरिक समाज भ्रष्टता से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। अतः इसका फायदा असामाजिक तत्व उठाने से नहीं चूकते।

कुछ परम्पराओं का उचित कारण होता हैं तो कुछ एकदम ही निरर्थक होती हैं । कुछ को खींचतानकर उचित ठहराने का प्रयत्न किया जाता हैं। यहाँ आपका विवेक ही आपको मार्गदर्शन कर सकता है।

यहाँ व्यक्ति के अधिकार से सम्बंधित एक और घटना का उल्लेख उचित होगा -

जब ३५ वर्ष आयु की शायरा बानो ने खुद के एकतरफा तलाक को , अपने मूल अधिकारों का हनन बताया तो एक मौलवी ने उनसे कहा , "आपके धर्म की वजह से आपके पास मूल अधिकार ही नहीं है (सामाजिक सुधार की दिशा में :पुण्य प्रसून बाजपेयी :लो.समाचार ता .२३-८-२०१७)

इसका साफ अर्थ हैं कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में मान्यता मिलने में सबसे बड़ा अवरोध धर्म ही हैं।

पुनश्च -

सती प्रथा का पुनरुज्जीवन -(लो. स .२२-९-२००६ -सती से उठे सवाल)

सागर जिले के केसरी ब्लॉक के तुलसीपार गांव में २२ अगस्त को जनकरानी गौड़ सती हो गई तो सरकार ने कोई कारवाई नहीं की । इसका परिणाम यह हुआ कि टीकमगढ़ जिले के बुढेरा ठाणे के पतारी गांव में एक और महिला मिथलेश लोधी ने पति के साथ सती होने की घोषणा कर दी। इस मामले में यह अच्छा हुआ कि समय पर पुलिस वहां पहुंच गई और हादसा टल गया। ये दोनों मामले पुराने नहीं पड़े थे कि छतरपुर जिले के जुझारनगर थाना क्षेत्र के बनियानी ग्राम की ९५ वर्षीय करुआ देवी अपने पति सियाराम राजपूत के शव के साथ सती हो गई। यह सब कुछ सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में , धार्मिक विधि-विधान से , सती की चिता को उसके बेटे ने अग्नि देकर हुआ। कोई टोकने या बचाने नहीं आया। पुलिस और प्रशासन तब पहुंचा जब सब कुछ हो चुका था।

हम किधर जा रहे हैं ? यह इसीका परिणाम है कि अतार्किक परम्पराओं का महिमामंडन किया जा रहा है।

पांडुर्ना गोटमार में इस साल भी बहा खून । एक मृत, २२७ घायल। पोले के दूसरे दिन 'गोटमार' खेलने की परंपरा के कारण , इस अवसर पर कलेक्टर , पुलिस अधीक्षक सहित ७०० पुलिस कर्मियों की भारी उपस्थिति में प्रथा को निभाया गया और इसमें पेट में पत्थर लगने से भुयारी निवासी शंकर झिंगु भलावी (आयु २५ वर्ष) की मौत हो गई।---(लो .स .११-९-२०१८)

शबरीमला -

शबरीमला मंदिर में महिलाओं की प्रवेशबंदी असंवैधानिक होने का निर्णय सुप्रीम कोर्ट की पांच सदस्यीय पीठ ने बहुमत से देते समय उनमें से एक न्यायाधीश महोदय (धनञ्जय चंद्रचूड़) ने कहा, "परम्पराओं के नाम पर अगर किसी पर अन्याय हो रहा होगा तो वह परंपरा की काली छाया है। उसे दूर करना ही होगा।"

तो दूसरी ओर देखिए - अगस्त २०१८ में केरल में अभूतपूर्व बाढ़ आई थी । उसकी कारण मीमांसा करनेवाले कुछ व्यक्तियों की निर्बुद्धता में भी बाढ़ आई थी । "शबरीमाला मंदिर में महिलाओं की प्रवेशबंदी के विरोध में न्यायालय का निर्णय आने की संभावना है । उसके लिए अयप्पा के क्रोध के संकेत के तौर पर इस बाढ़ को लेना चाहिए ।" ऐसी बात कुछ टीकाकारों ने लिखी। शायद इसपर उतनी प्रतिक्रिया न भी आती लेकिन स्वदेशी जागरण मंच के संस्कारों से निकले रिजर्व बैंक के अल्पकालीन संचालक महोदय ने इस सूर में सूर मिलाने के कारण उसे अधिक प्रसिद्धि मिली। उसपर काफी तीखी प्रतिक्रिया भी आई। "आपको रिजर्व बैंक में पदोन्नति मिलने से ईश्वर का कोप होकर क्या रूप की कीमत लुढ़की ?" आदि-आदि। स्वाभाविक था कि महोदय इस प्रतिक्रिया पर लीपापोती करते। (लोकसत्ता १९-८-२०१८)

कुछ और प्रतिक्रियाएं -

जहाँ महिलाओं को सम्मान नहीं मिलता, ऐसे स्थान पर उन्होंने जाना ही क्यों?

"शबरीमला मंदिर में प्रवेश करनेवाली महिलाओं के दो टुकड़े करने चाहिए ।"(लोकसत्ता :१३-१०-१८)

अब एक समाचार सुनिए -

भगवन अय्यपन मंदिर में महिलाओं को इजाजत न देनेवाले प्रधान पुजारी को सेक्स स्कैंडल के कारण हटा दिया गया।- (इंडिया टुडे ९ - २००६)

% स्त्री को पूजनीय मानना , लेकिन उसके स्त्रीत्व का अविभाज्य हिस्सा रहनेवाले शारीरिक गुणधर्म को अपवित्र मानते हुए , उसे कुछ समय के लिए क्यों न हो , अछूत बनाकर रखना, इसे पुरुष मानसिकता का परिणाम माने या अतार्किक धार्मिक कल्पनाओं के कारण उभरा विरोधाभास माने? वास्तव में स्त्री का मासिक धर्म यह मानव समाज की उत्पत्ति का आधार है । वह मंगल-अमंगल के पार की बात है । परंपरा पर तार्किक सोच के स्थान पर ईश्वर के कोप की दलील दी जाती है । जब न्यायालय के इस निर्णय को क्रियान्वित करने की हिम्मत दो बहादुर महिलाओं ने दिखाई तो उन्हें सामाजिक बहिष्कार से लेकर तो पारिवारिक प्रताड़ना तक झेलनी पड़ी। (बिंदु, महाविद्यालय प्राध्यापिका और कनकदुर्गा, नागरी आपूर्ति विभाग कर्मी)

आज आश्चर्य की बात यह है कि सत्ता से जुड़े कुछ महानुभाव सर्वोच्च न्यायालय को ही उपदेश देने लगे हैं कि धार्मिक परम्पराओं के मामले में न्यायालय दखल न दे और ऐसे फैसले करें जो लागू हो सकें।

इस मुद्दे पर लगभग ५५ लाख औरतों ने कोर्ट के फैसले के समर्थन में मानव श्रृंखला बनाई थी। अंततः अब त्रावणकोर मंडल ने मंदिर में महिलाओं के प्रवेश का समर्थन किया है। फिर भी विरोध जारी है, संघर्ष समाप्त नहीं हुआ है।

यहाँ एक विरोधाभासी रूप देखिए -

कामाख्या देवी मंदिर ५१ शक्तिपीठों में एक है । कामाख्या देवी के मासिक चक्र के कारण वार्षिक अम्बुबाजी पूजा का आयोजन होता है जो वास्तव में प्रजनन उत्सव होता है । उन दिनों मंदिर चार दिन तक बंद रहता है। माना जाता है कि देवी के सबसे पवित्र समय में रक्तस्राव होता है। अर्थात् स्त्री का जब रक्तस्राव होता है वह समय सबसे पवित्र होता है । उन दिनों के दरम्यान स्त्री अपने शुद्धतम रूप में होती है।

महिलाएँ और धार्मिक कर्मकांड-

दुनिया के लगभग सारे प्रमुख धर्मों ने इस या उस रूप में नारी को निम्न दर्जा ही दिया है। कुछ ने तो उनके साथ क्रूर व्यवहार ही किया है(सती प्रथा आदि)। लेकिन फिर भी सभी धर्मों की औरतें पुरुषों से अधिक धार्मिक हैं यह एक विडम्बना ही है।

संविधान के प्रति-

भाजपा के बलिया जिले के बैरिया से आमदार ने पत्रकारों से बात करते हुए कहा , "श्रद्धा यह संविधान से बड़ी है । भगवान राम को अयोध्या में एक तम्बू में रहने के लिए विवश किया जा रहा है। ईश्वर संविधान से बड़ा है और श्रद्धा ईश्वर से जुड़ी होने से वह भी संविधान से बड़ी है ।"

आश्चर्य है कोर्ट जब ट्रिपल तलाक की प्रथा समाप्त करने का आदेश देता है तो जो वर्ग स्वागत करता है वही वर्ग सबरीमाला में आस्था से छेड़खानी न करने की चेतावनी देता है । जिस देश में शासन के प्रतिनिधि ही इस मानसिकता के हैं वहां व्यवस्था बनी रहने का क्या होगा ? क्या हमारी आदिम सभ्यता की ओर वापसी शुरू हो चुकी है?

अब लिंगभेदी धर्म का एक और रूप देखिए - (लो .स .२५-९-२०१८; मथुरा)

द्वारकापीठ के शंकराचार्य ने फिर महिलाओं के धार्मिक परम्पराओं में हस्तक्षेप पर सवाल उठाते हुए कहा कि महिलाएँ राजनीति समान अन्य क्षेत्रों में तो जा सकती हैं , किन्तु शंकराचार्य जैसी सनातन संस्था की प्रतिनिधि नहीं बन सकती।

ब्रिटिश उच्चायुक्तालय और आब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन इनके द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित 'यंग थिंक्स' परिषद् में केंद्रीय मंत्री द्वारा उद्धृत विचार -

'जो भी संविधान ने लोगों को धार्मिक आचरण का अधिकार दिया है तो भी देवताओं के प्रति गलत व्यवहार करने का अधिकार किसीको नहीं । उन्होंने महिलाओं से पुछा , "खून से सनी नैपकिन के साथ क्या आप अपने मित्र के घर जाएंगी ?" अर्थात आप मानती हैं कि मासिक धर्म के दरम्यान महिला अपवित्र होती हैं।

इसपर कुछ लोगों ने अपने विचार इस तरह व्यक्त किए हैं -

क्या महिलाओं में इतनी विवेक बुद्धि नहीं कि कहाँ, किस अवस्था में जाना चाहिए?

अगर महिला इस अवस्था में अपवित्र होती हैं तो उसे विद्याग्रहण करने के , संसद आदि स्थानों पर भी नहीं जाना चाहिए क्योंकि वे भी एक तरह के मंदिर ही हैं । अर्थात यह आस्था के नाम पर लादा गया एक प्रतिबन्ध ही है।

अस्तित्ववाद

हम अस्तित्व की चर्चा करें और अस्तित्ववाद को नजरअंदाज करें ऐसा हो नहीं सकता । पश्चिमी दर्शन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है । इसके महत्वपूर्ण सिद्धांतों को संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है।

अस्तित्ववाद दैवी शक्ति पर विश्वास नहीं करता।

यह मनुष्य के भविष्य की सम्भावना पर विचार करता है । (आज मनुष्य कैसा है और वह अपने आपको कैसा ढालना चाहता है)

वह मनुष्य के भूतकाल को महत्व नहीं देता । चूँकि भूतकाल मनुष्य की कार्यविधि , सम्भावना और उसके लिए बनाई योजना को किसी भी प्रकार से अनुशासित या नियंत्रित नहीं कर सकता।

यह किसी भी प्रकार के , सामान्य, सार्वभौम और देशकाल निरपेक्ष मूल्यों पर विश्वास नहीं करता। मूल्यों का निर्माण स्वयं करने पर जोर देता है । अर्थात् वह प्रामाणिक जीवन को उच्च आदर्श मानता है। निर्णय प्रक्रिया और व्यवहार को, मार्गदर्शक विवेक को मानता है।

उसका सर्वाधिक जोर मानवीय होने पर है। "मानव अस्तित्व सर्वोच्च होना चाहिए।"

यह ज्ञान के स्थान पर क्रिया को महत्व देता है।

वह अस्तित्व के सार को महत्वपूर्ण नहीं मानता । वस्तु का सार अमूर्त होता है । इसलिए उसे मूर्त भाषा या बिम्बों में परिभाषित नहीं किया जा सकता । जैसे ईश्वर अमूर्त है अंतः किसी भी तरह की भाषा में उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता । अर्थात् उसका अस्तित्व केवल कल्पना में ही हो सकता है। इस कारण मानवीय प्रश्नों के सामने ईश्वर सम्बन्धी विचार गौण है।

अस्तित्ववादी यास्पर्स भी कहते हैं कि ईश्वर को युक्तियों के माध्यम से कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता और धर्म का तो आधार ही ईश्वर है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में ज्यां पॉल सार्त्र का स्थान सर्वोच्च है । उनका 'बीइंग एंड नथिंगनेस' अस्तित्ववाद का उद्गम ग्रन्थ है । इनके दर्शन को निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद कहते हैं । सार्त्र कहते हैं , "मनुष्य में विचार का आरम्भ जन्म के साथ नहीं होता । बल्कि उसमें बहुत पहले

आत्म-अस्तित्व की चेतना आ जाती है । ईश्वर का भाव भी इस आत्मचेतना के विकासक्रम में उत्पन्न एक सीढ़ी है। लेकिन आत्म-अस्तित्व की चेतना से ईश्वर अस्तित्व की पुष्टि नहीं होती।

हालाँकि अस्तित्ववाद में लाइबनिज जैसे आस्तिकवादी दार्शनिक और उनके उलझा देनेवाले शाब्दिक प्रतिपादन भी हैं।

अस्तित्ववाद की मूल अवधारणा , मनुष्य चेतना का निरंतर विकास है । जिसका आधार अस्तित्व है जो मानवी क्रियाओं का भी आधार है।